

पालि वाङ्मय में कर्मसिद्धान्त

तुलनात्मक अध्ययन

पालि वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त

तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. एन.जे. वाघमारे

शोध वैज्ञानिक

शासकीय कला वाणिज्य महाविद्यालय

इन्दौर (म.प्र.)

पालि वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त-तुलनात्मक अध्ययन

Pali Wangmay mein Karmasiddant-Tulnatmak Adhyayan

लेखक -

डॉ. एन. जे. वाघमारे
शोध वैज्ञानिक - मराठी विभाग
शासकीय कला वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दोर म.प्र.

प्रकाशन काल-

धम्मचक्र प्रवर्तन दिन
५ आक्टो., १९९२

© आनन्द कुमार वाघमारे

मुद्रक -

रवि ऑफसेट वर्क
बिनाकी ले आऊट
नागपूर

फोटो टाइप सेटिंग-

संकेत प्रकाशन
शांती पुरुष अपार्टमेन्ट - १२८
शिवाजी नगर, नागपूर-१० (महाराष्ट्र)

मूल्य -

~~साधारण संस्करण १५० रुपया~~
पुस्तकालय संस्करण २०० रुपया

बोधिसत्व बाबासाहेब आंबेडकर
एवं
महापंडित राहुल सांकृत्यायन
को समर्पित

जन्मशताब्दि वर्ष - १९९२

पुरस्कार

बौद्धधर्म और पालि साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण और सर्वाधिक विवाद्य अगर कोई विषय है, तो वह 'कम्मसिद्धान्त' कर्मसिद्धान्त या कर्मवाद ही है। तथागत बुद्ध के समय से, आतमापरमात्मा, स्वर्गनरक, जन्मपुनर्जन्म ईश्वर आदि विषयोपर बौद्धिक क्षेत्र मे धमासान लडाईयाँ होती रही। वेदउपनिषद और षड्दर्शन ही क्यों जैन तथा बौद्ध भी उसीमे घसीटे गये। 'चार्वाक ने तो पहले ही अपना अंतिम निर्णय देते हुये साफ शब्दो में कह दिया था-ज्योतिष्टोम में पशू का बलि चढानेसे अगर कोई पिता स्वर्गारोहण करता है तो इससे तो बेहतर यह है कि यजमान अपने पिता को ही उसमे बली चढा दे ताकि वह सीधा स्वर्ग सिधार सके। पशूचेनिहता स्वर्गज्योतिष्टोमें गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्नहन्यते।। भगवान बुद्ध इन तमाम सवालो से त्रस्त हो गये। उनमे कोई सार उन्हे नजर नही आया। तो उन्होने कह दिया कि इससे नतो वैराग्यप्राप्ती हो सकती है न ही निर्वाण शांती प्राप्ती 'न विरागाय, न निब्बिदाय'। अगर इन सवालो के जवाब मिल भी जाय तब भी संसार में दुःख बरकरार है। इन सवालो के जबाब मनुष्य जीवन के दुख को नष्ट नही करते। उदाहरण देकर समझाते हुये तथागत बुद्ध ने कहा औ अगर किसी को जहर से बूझा हुआ तीर लग जाय। वह तडपता हुआ तीर निकालने के लिये उद्युक्त शल्य विशारद से कहे कि, मै तब तक तीर नही निकलवाने दूंगा जबतक मुझे पता न चल जाय कि तीर किसने मारा? वह कौन था? उसका वर्ण क्या था? क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र था? तीर किसने बनाया था? तीर की लकडी कौन सी थी? आदि आदि। तथागत कहते है उस प्रश्नकर्ता जखमी आदमी को सारे प्रश्नोंके उत्तर मिलने के पूर्वही उसका शरीरान्त हो जायगा उसके सारे के सारे प्रश्न अनुत्तरित रह जायेंगे। इसलिए तथागत ने उन प्रश्नोंको 'अव्याकृत प्रश्न' *Questions not be answered* कहकर एक तरफ रख दिया। पर उन्हे अनुत्तरित नही छोडा। एकदो बार उनकी गहरी मीमांसा कर उनका पीछा छोड दिया। निर्वेद और बैराग के लिए इतनाही काफी था।

तथागत का धर्म आत्मा नहीं मानता परंतु पुनर्जन्म मानता है। 'कर्म' मानता है परंतु ईश्वर को अपने पास फटकने नही देता। बडी दुविधा उस आदमी के मनमे जागती है जो तथागत को एकदम भौतिकवादी समझने लगता है। क्योंकि तथागत तो केवल दोही प्रमाण मानते है, एक 'प्रत्यक्ष' और दूसरा 'अनुमान'। फिर हमे उसीके आधारपर अपना निर्णय लेना पडता हे। वैदिक धर्म पंचमहाभूत मानता है तो बौद्धधर्म आकाश को छोडकर पृथ्वी, पानी, अग्नी और हवा इन चार तत्वों का ही समुच्चय मान्य करता

है। वैदिक ईश्वर के बल और डर पर मनुष्य को स्वर्गनरक का आमिष प्रलोभन या डर दिखाकर धार्मिक जीवन में प्रवृत्त करते है। बौद्धधर्म में ईश्वर के लिये कोई जगह ही नही बनाई गई फिर आदमी को 'कम्मदायाद और कम्मसरण' बनने के अलावा चारा ही नही रहा। तथागत ने स्पष्ट शद्बोमे कह दिया 'तुम्हे तुम्हारे कर्म करने होंगे मै केवल मार्ग दाता हू।'तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता'। 'भिक्षुओ! कम्मदायाद बनो आमिष दायाद नहीं' इस घोषणा द्वारा दैवी चमत्कार पर आधारित भाग्य वाद की भी तथागत ने कबर खोद डाली। फिर कुशल अकुशल कर्मो के विवेचन और विश्लेषण से उन्होने आदमी को स्वपराक्रम पर निर्भर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। कर्मकाण्ड, यज्ञहवन, याचनाप्रार्थना को त्याग कर वीर्यशील, उद्योगशील और क्रियाशील बनने का उपदेश दिया। फिर भी भारतीय दर्शन में आजतक इन 'अब्याकतवत्थूनि' का सदा ही बोलबाला रहा। वे लोगो के दिलोदिमागपर छाये रहे और उन्हे गुमराह करते रहे।

इस सत्य को उजागर करते हुए डॉ. एन. जे. वाघमारे ने इस प्रबंधमें ठीक ही कहा, है कि , 'भारतीय चिन्तन परंपरा में आत्मा, परमात्मा, जन्मजन्मान्तर और उसके हेतु, मोक्ष किंवा निर्वाणसाधना तथा मनुष्यजीवन में सुखदुःख उन्नति-अवनति एवं उनके हेतु रुप मे कर्मवाद एवं दैववाद वैदिक कालसे लेकर धर्मदर्शन के अधुनातन विचारक, चिन्तक और धर्मसाधक सन्तो, ऋषियों एवं मुनियों के द्वारा गंभीर चिन्तन विचार एवं विवाद के विषय बने रहे है। 'आज जब कि विज्ञान एवं, मनोविज्ञान से ऊपर उठकर, परामनोविज्ञान मे मानवीय बुद्धि का गहन प्रवेश हो रहा है तब यह अनिवार्य हो गया है कि मानवीय सुखदुःख के मूल कारण के रुप मे प्रस्थापित कर्मवाद एवं दैववाद, इन विषयों का पुनः गंभीर आलोचन व परीक्षण किया जावे।"आधुनिक युग के मेत्रेयबुद्ध बाबासाहेब आंबेडकर इन्होने अपनी 'बुद्धा अँड हिज धम्मा' नामक आधुनिक बौद्धो के धम्मपद या बाईबल मे इन समस्याओं की बडी तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टीसे मीमांसा की है। तृष्णाक्षय होने से पुनर्जन्म नही होता. अर्हत या अनागामी का पुनर्जन्म नही होता। स्रोतापन्न और सकदागामी कुछ समय के लिये आते है परंतु अर्हत् या जीवनमुक्त होते ही 'आना-जाना खत्म हो जाता है। इसे ही संत तुकाराम वाणी देते है 'आता नाही जाणे येणे। येथे खुंटले बोलणे।। परंतु इस आवागमन की मुक्ति में मनुष्य के कर्म का बहुत महत्व है। जिसका विस्तृत एवं व्यापक विवेचन प्रस्तुत लेखकने अपने इस प्रबंध मे किया है। जन्म, पुनर्जन्म, कर्म, निब्बाण यह ऐसी गुत्थि है जिसमे अच्छे अच्छे दिग्गजो को 'भूलभुलैय्या' का आभास होता है। म. पं. राहुल संकृत्यायन 'अपनी संतान को ही अपना पुनर्जन्म मानते है।" इस बात को नकारना उतना आसान नही है। क्योंकि पिता के शारीरिक एवं मानसिक गुणवगुणों को प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधारपर जाना और परखा जा सकता है। परंतु मरणोपरांत चार तत्वों का किस शरीर में किस प्रकार से अवतार या प्रवेश होता है

इस बात को समझना उतना आसान नही है। बौद्ध धर्म मे जितना भी गभीर संशोधन इस क्षेत्र मे होगा, वह बडा ही जरुरी ओर अभिनंदनीय है। प्रस्तुत लेखकने इस कर्म सिद्धांत को लेकर साद्यन्त विचार एवं विवेचन किया है। वैदिक और जैन कर्मवाद के साथसाथ षड्दर्शनो को भी उन्होने स्पर्श किया है। जिससे उनके ज्ञान और तीक्ष्ण दृष्टी का परिचय प्राप्त होता है।

मेरी नम्र मान्यता है के तथागत बुद्ध जिन्होने आत्मापरमात्मा स्वर्गनरक ईश्वर और भूत पिशाच्च का अस्तित्व अमान्य किया, जो केवल परिपूर्ण मानवता वादी और विज्ञानवादी थे, जिन्हे मानवी दुखों की मुक्ति ही सर्वाधिक प्रिय थी, जिन्होने आदमी की स्वर्ग की तरफ लगी हुयी नजर को उतारकर वास्तविकता की जमीनपर स्थिर कराया उन तथागत बुद्ध को पाप और पूण्य की चिंता करना कतई अत्यावश्यक नही था। फिर भी उन्होने-

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।

कहकर न केवल मनुष्य को पवित्र जीवन जीने के लिए प्रेरित केया और पापाचरण से परहेज रखने को सिखाया बल्कि अपने अंतर्चित्त की शुद्धि करने को भी सिखलाया। इसका साफ अर्थ इतना ही है की बुद्ध नही चाहते थे कि दुनिया मे 'टिट फॉरटॅट' या 'सव्हावेल ऑफ द फिटेस्ट' वाली बात हावी हो जाय। अगर आदमी के अच्छेबुरे कर्मो का फल अमान्य हुआ तो फिर बौद्ध धर्म की विशेषता कहा रही? क्योंकि बुद्ध के जमाने मे ऐसे विचार मौजूद थे जो यह मानते थे कि 'आदमी के बुरे कर्मो का पाप या अच्छे कर्मो का पूण्य भी नहीं होता! दुनियां मे दीन दलित गरीब पीडित या कमजोर मनुष्यों और प्राणियों की तो फिर खैर नही। उन्हे कौन संरक्षण प्रदान करेगा? वे कैसे जिंदा रहेंगे दुनिया की इस खतरनाक भीड और जानलेवा होड में? तथागत का करुणार्द्र हृदय उन अभावग्रस्त कमजोर दुखियों के लिए न पसीजता तो आश्चर्य ही होता। उन करुणानिधान कारुण्यसिंधू तथागत को उन्ही लोगो के आंसू पोछने के लिए और उन्हे अभय सुरक्षिता प्रदान करने के लिए कर्माधिष्ठित पुनर्जन्म का सहारा लेना पडा। उससे बलवान हाथों को अपनी क्रूरता को रोकने के लिए मजबूर होना पडा और संन्तों को भी कहना पडा"

मुंगी आणि राव। आम्हा सारखाची जीव।
जे जे भेटे भूत। ते ते मानिजे भगवंत।।

इस तरह तथागत ने बौद्ध दर्शन को 'कोरा भौतिक वादी या निखिल दैववादी' बनने से बचाया। बुद्धी के भार से हृदय की कोमलता को चकनाचूर नही होने दिया और अंधःश्रध्दा दैववाद के चक्की मे बुद्धीवाद और विज्ञानवाद को पिसने से भी बचाया। प्रत्यक्ष व्यवहार के सामने घुटने टेककर मानवी ताकत को पाशवी बर्बरता के सहारे इन्सानियत का गला घोटने की इजाजत नही दी। और आदमी को पाखंडी बनने

से भी रोकने के लिए खुले शद्बोमे कहा 'कुल्लूपमं देसेस्सामि वो भिक्खवे धम्मं तरणत्थाय न गहणत्थाय। भिक्षुओ। मै बेडे की तरह नैय्या पार करने के लिए धर्म देता हू। सिरपर ढोने या पकडकर रखने के लिए नही। "ऐसे सद्धम के कर्मसिद्धांत को डॉ. वाघमारे ने इस प्रबंध में विश्लेषित एवं विवेचित किया है। कर्म का स्थान स्वरुप, महत्व कर्मवर्गीकरण, कर्मफलजनित पुनर्जन्म, तथा संसार, कर्म के भेद, दशाएं एवं कर्ममलोंसे मुक्ती के उपाय और निर्वाण का विशेष रुपसे विवरण किया है। जिसे मूल से ही पढनाँ चाहिए तो प्रबोधन होगा। इस प्रबंधके अंत मे लेखक की यह राय बडी ही लक्षणीय है जिसमे वे कहते है, "भारत की अध्यात्मवादी अनासक्ति, त्याग एवं अपरिग्रह के उपदेशों का सामाजिक महत्व इस बात मे है कि मनुष्य केवल भोग में ही नही त्याग मे उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति कर सकता है। सारे विश्व के इन्द्रिय-विषयों को भोग कर भी तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति की इच्छाओ का कही अंत नही होता। सामाजिक जीवन मे अनासक्ति अपरिग्रह एवं त्याग के इस मार्ग का अनुसरण करने पर सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु मानव जातिके इतिहास मे जो रक्तक्रांतियां हुई, उनसे अलग हटकर विश्वशान्ति का एक नया मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इसी पर चल कर मानव समाज अपने शुभ कर्मो द्वारा सुखी एवं समृद्ध हो सकता है।"

इसप्रकार के महत्वपूर्ण विषय पर अनुसंधान कर एक प्रबंधग्रंथ साकार करने के लिए डॉ. अन. जे. वाघमारे बधाई के पात्र है। इस ग्रंथ से लोगो को बडीही उपयुक्त सामग्री प्राप्त होगी ऐसी आशा है।

पालि तथा बौद्ध धर्म के आचारविचार लोगो मे पहुंचाने के लिए बुद्धिवादी विद्वानो ने अथक प्रयत्न करने की जरुरत है। आज प्रतिगामी पुनरुज्जीवनवादी ताकते बहुत ही जोरोसे प्रतिक्रान्ति के माध्यमसे बुद्ध महावीर कबीर, महात्मा फुले, पेरियार और डॉ. आंबेडकर द्वारा निर्मित क्रान्ती को पछाडना चाहते है। हम सब मानवताप्रेमी सब प्रजातंत्र के रखवाले लोगो का यह कर्तव्य है कि हम समता स्वतंत्रता और बंधुतापर आधारित सांसदीय लोकशाही को बचाने के लिए असीम त्याग करने के लिए सिद्ध हो जाय ताकि बौद्ध धर्म एवं संस्कृतीके विरासत के साथ सभी धर्म और विचार भारत देश मे फल फूल सके। प्रस्तूत प्रबंध इस महान कार्य मे कुछ योगदान जरुर ही कर सकता है। शुभकामनाओ के साथ बधाईयां।

नागपूर
धम्मचक्रप्रवर्तनदिन
डॉ. आंबेडकर शताद्वीवर्ष
५. अक्टूबर १९९२

प्रा. डॉ. भाऊ लोखंडे
विभागाध्यक्ष
पालिप्राकृत पदव्युत्तर विभाग
नागपूर विद्यापीठ
नागपूर

भूमिका

भारतीय चिन्तन परम्परा में आत्मा, परमात्मा, जन्म-जन्मांतर और उसके हेतु, मोक्ष किंवा निर्वाण साधना तथा मनुष्य जीवन में सुख-दुःख उन्नति-अवनति एवं उनके हेतु रुप में कर्मवाद एवंम वैदिक काल से लेकर धर्म दर्शन के अधुनातन विचारक, चिन्तक और धर्म के अन्तिम लक्ष्य के साधक सन्तों, ऋषियों एव मुनियों के द्वारा गंभीर चिन्तन, विचार एवं विवाद के विषय बने रहे है। उनका निश्चित सर्वग्राहय समाधान हुआ नहीं और होगा भी नहीं। और फिर आज जबकि विज्ञान एवं मनोविज्ञान से ऊपर उठकर परामनोविज्ञान मे मानवीय बुद्धि का गहन प्रवेश हो रहा है तब यह अनिवार्य हो गया है कि मानवीय सुख-दुःख के मूल कारण के रुप मे प्रस्थापित कर्मवाद एवं दैववाद, इन विषयों का पुनः गंभीर आलोचन व परिक्षण किया जावे।

प्लेटो का तो यह मत है कि मृत्यु से ही दर्शन का जन्म होता है। मानवीय विकास क्रम का विचार किया जाय तो यह सर्वमान्य है कि मृत्यु की डर प्रत्येक व्यक्ती को थी, और आज भी है। जिंस पुनर्जन्म की बात पूराने ऋषि मूनी एवं दार्शनिक अपने मात प्रदर्शन में करते थे उसका स्वरुप सामान्य-व्यक्ती की समझ से परे है। क्योंकि वे तपश्चर्या , ध्यानादि मार्ग से प्राप्त अलौकिक शक्तियों का आधार पूनर्जन्म की वास्तविकता को प्रतिपादन करने में नित्य ही लिया करते थे। इसमें व्यक्ती के पूनर्जन्म की बात थी या व्यक्ति के चार महाभूतों की सृष्टि कें विद्यमान महाभूतों से मिलकर पैदा हो सकने वाले नये निर्माण की। इसका निर्णय कर सकना कठीण है। ब्राह्मण पूर्व की परंपरामें व्यक्तिके पुनर्जन्म की विशेष चर्चा प्रमुखता से उपलब्ध नही होती। पुनर्जन्म की चर्चा तो है, परंतु मनुष्य के पुनर्जन्म की चर्चा है यह कहना संदेहस्पद है। आगे चलकर मृत्यु के भय को निकालकर अपने स्वार्थ के लिए पूनर्जन्म का सिद्धान्त स्थापित किया गया। पुनर्जन्म की चर्चा प्रायः सभी धर्म एवं दर्शन की परंपराओं मे होने के कारण उनमे जो परस्पर भेद था उसे भूला दिया गया।

बुद्ध ने स्वयं के पूनर्जन्म के विषय में जो बाते कही। उसकी समुचित व्याख्या किस व्यक्ती का पुनर्जन्म और किस चीज का पुनर्जन्म इस प्रसंग मे डॉ. आंबेडकर ने "दि बुद्धा अड हिज धम्मा" में की है। और चार महाभूतों के द्वारा थोक स्तर पर पुनर्जन्म की बात को नकार दिया है। अपवाद स्वरुप किसी व्यक्ति के पुनर्जन्म की बात स्वीकार की गई है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि व्यक्ति का पुनर्जन्म होने की मान्यता को सार्वभौम नियम के रुप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध परंपरामे पूनर्जन्म की अपेक्षा 'प्रतिसन्धि', शद्ब मिलता है। प्रतिसंधि का मतलब पूनः जोडने से है पूनः जोडना माने पूनञ्रन्म होना ऐसा मोटे तौर पर माना गया। परंतु पुनर्जन्म और प्रतिसंधि में जो भेद है उस पर आजतक गंभीरतासे विचार नही किया गया। पुनर्जन्म का आशय व्यक्ति के जो मूलतत्व या महाभूत है वह उसी स्वरुप में विद्यमान रहकर उसके द्वारा नये शरीर के धारण करने रहे है। तो दूसरी ओर प्रतिसंधि का मतलब चार महाभूतों का सृष्टि में विद्यमान महाभूतों के साथ मिलना मात्र है। इन महाभूतो का केवल मिलाप नही संयोग होना आवश्यक है, तभी पुनर्जन्म की संभावना मात्र है।

योगियों के द्वारा किये जाने वाले अलौकिक शक्ति के दावे को वर्तमान समाज मे प्रायः झुठला दिया जाता है। परंतु हम उनके समान योग साधना करके उनके ज्ञान की सत्यता का परीक्षण नही करते| दुसरी ओर योगी या साधक लोक व्यवहार या लौकिक साधनोंद्वारा अपने ज्ञान को समाज के आगे प्रस्तुत करके सिद्ध नहीं कर सकते। इसप्रकार यहा साधनाके निमित्त के कारण दो वर्ग बन जाते है। आज के भौतिक युग में प्रायः साधना को हास्यास्पद एवं शंका की दृष्टि से देखा जाता है और फिर पुनर्जन्म जैसी मान्यता जिसका साक्षात्कार करना सामान्यदृष्टि से संभव ही नही है उसे मानना, उसका समर्थन करना, या उसे सिद्ध करना असंभव प्रतीत होता है। बुद्धि का व्यायाम करके फिर कई विवादास्पद बाते कही जाती है।

आजतक पुनर्जन्म के सिद्धान्त की चर्चा सामाजिक दृष्टि से नही की गई। आज भी बहुसंख्यक लोग इसकी चर्चा आध्यात्म धर्म-दर्शन के नाम पर करते है। परंतु वास्तविकता यह है कि व्यक्ति के पुनर्जनम की बात को दृढता से लागू करनेवाला समाज मे ऐसा स्थितिस्थापक वर्ग सामने आया कि उसने अन्य बहुसंख्यक लोगों का शोषण किया। आज आपकी जैसी परिस्थिति है वह आपके कर्मानुसार यथावत बनी रहेगी यह बात प्रमुखतासे कही गई। पुनर्जन्म के ब्राह्मणी एवं अन्य परंपरा के सिद्धान्त को शद्ब साम्यता के आधारपर जातीयवादी सिद्धान्त को, स्वार्थी वर्ग ने पिछले द्वार से घुसेड दिया। यद्यपि पुर्नजन्म मानकर भी बौद्ध धर्म में जाति व्यवस्था की स्थापना कदापी नही हो सकती।

विश्व में धर्म एवं धर्म प्रभाव है। धर्म यह कोई भारतकी ही विशेषता नही है। उनमें भी ब्राह्मण धर्म के समान आत्मा, परमात्मा, ईश्वर आदि की कल्पनाए है फिर भी उनमे वर्ण, जाति छुआछूत का व्यवहार नहीं है। फिर ब्राह्मण धर्म मे ही जातीवाद क्यों है? हम अन्य धर्मो के सिद्धान्त को ईश्वरवाद के आधार पर ब्राह्मणधर्म के जाति वर्ण छुआछूत के सिद्धान्त को नकार सकते है तो फिर जिस धर्म ने ईश्वरवाद को ही अमान्य किया उसकी विचार परंपरामे पुनर्जन्म के आधार पर जाति वाद की स्थापना कैसे कर सकते हे। जिसने मूलतः मानव को केवल मानव माना है। तथाकथित

जातिवाद नही। इसलिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त यदि स्वीकार भी कर ले तो भी उसका पर्यावसान जातिवाद में नही हो सकता और आज के आधुनिक समाज में तो पूरानी पूनर्जन्मकी धारण को संशय के कटघरे में खडा किया गया है तो उसके द्वारा सामाजिक शोषण करने का परंपरागत वर्ग को अवसर प्राप्त होने की संभावना ही नही है।

इस प्रबंधमे उपरोक्त सभी समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया है। वर्णवाद मानने से व्यक्ति या साधक सामाजिक या धार्मिक प्रगती कर ही नही सकता। यह भी दिखाया गया है। आज तक वर्णवाद एवं साधना मे जो विसंगति या है उनपर किसीने विचार नही किया था। इस प्रबंधमे इस ओर संकेत किया गया है।

किसी भी सिद्धान्त की स्थापना मे सामाजिक या वैयक्तिक पृष्ठभूमि कारण रुप में विद्यमान रहती है, इसलिए बुद्ध पूर्व, एवं उनके समकालीन विचारको का विचार करना अनिवार्य था।

इस प्रबंध में जो पुनर्जन्म की चर्चा की गई है उसमें कई प्रकार की योनियों में जन्म लेने की बाते है। परंतु इसका आशय चित्त की वह अवस्थाए मात्र है। उसके साथ प्राणियो एवं स्थानों के जो नाम दिये गये है वे उन्हे साकार करने एवं सामान्य लोगो को कर्म सिद्धान्त समझाने एवं सोदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश से है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कार्य और कारण के संतती का नाम ही जन्मान्तर वाद है सच्चे बौद्ध के लिए स्वर्ग और नरक यथार्थता नही है।

प्रमुख भारतीय धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं जैन, मीमांसा, सांख्य, योग तथा वेदान्त प्रभृति सभी में कर्म सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा हुई है। बौद्ध परम्परा में भी कर्म सिद्धान्त बहुत सूक्ष्मता, गंभीरता एवं व्यापकता से चर्चित विषय रहा है। इस विषय की सामग्री संपूर्ण बौद्ध वाड्मय में यत्र-तत्र पडी है। उसको केन्द्र में रखकर अन्य प्रमुख भारतीय विचार धाराओं के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का विचार बहुत समय से मेरे मन मे था।

मूल त्रिपिटक को केन्द्र में रखकर उसकी दुरुह गुत्थियों और विषयों को समझना कोई आसान काम नहीं है। उन गुत्थियों को सुलझाने का कार्य यथासंभव अट्ठकथाओं की सहायता से किया जा सकता है।

पालि-पिटकों पर जो अट्ठकथाएं देवनागरी लिपि में प्राप्य है वह नगण्य है। बवर्मी लिपि में सभी पालि अट्ठकथाएं उपलब्ध है, वह संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के ग्रन्थालय में उपलब्ध है, किन्तु वह बर्मी लिपि में होने से उनका उपयोग मे नही कर सकता था। शोध कार्य हेतु मै जब सारनाथ में रुका था तभी संयोगवश बर्मा के भिक्षु 'रंगसी' भी भारतवर्ष की यात्रा करते हुए वहीं ठहरे

हुये थे। भिक्षु शासनरश्मि की प्रेरणा से भिक्षु रंगसी ने मुझे बर्मी लिपि में लेखबद्ध पालि अट्ठकथाओं को सुनाकर उन्हें समझा भी दिया। वह सभी अट्ठकथाए में मुझे संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष ने प्रदान कर के जो सहायता की उन्हें में किन शद्वों में धन्यवाद दू ? इस प्रबन्ध में बर्मी एवं नागरी लिपि में लिखित दोनों प्रकार की अट्ठकथाओं का यथासंभव उपयोग किया गया है। उनकी सहायता के बिना यह शोध कार्य पूर्णतः सम्पन्न होना अत्यन्त कठिन था। अनुरुद्धाचार्य रचित अभिधम्मत्थसंगहो एवं उसका हिन्दी रुपांतर, आचार्य बुद्धघोष रचित विशुद्धिमग्ग एवं उसका हिन्दी रुपांतर एवं अनुपिटक वाङ्.मय के रुप में पालि के अन्य ग्रंथो की भी सहायता ली गई है। जिनके सन्दर्भ यथास्थान दिये गये है। इसके अतिरिक्त डा. भरतसिंह उपाध्याय का पालि साहित्य का इतिहास, एवं बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डा. जी. सी. पाण्डेय कृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास तथा श्रद्धेय डा. भदन्त आनन्द कौसल्यायन की रचनाओं तथा अन्य अनेक ग्रंथो का भी भरपूर उपयोग किया गया है। इन सभी विद्धानों का यह शोध कर्ता अत्यन्त ऋणी है।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से "दि कंसप्शन आफ कम्म अण्ड रीबर्थ इन थेरवाद बुद्धिज्म" इस शीर्षक से एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया था वह अभी अप्रकाशित है। परन्तु उसमें केवल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ही विशेष महत्व दिया गया है। कर्म के सन्दर्भ में बौद्ध सिद्धान्त के अन्य पक्षों पर उसमें व्यापक विचार-विवेचन नहीं किया गया है। स्व. टालस्टांय ने "कम्म अण्ड निब्वाण " नामक एक प्रबन्ध लिखा था और उसमें अपने शीर्षक के अनुरुप कर्म और निर्वाण ये दो ही उसकी चर्चा के प्रधान विषय है। अतः जहां तक मेरी जानकारी है, पालि वाङ्.मय में कर्म सिद्धान्त के सभी पक्षों को लेकर कोई सूक्ष्म ओर विशद अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया और इस दिशा में मेरा यह प्रयास प्रथम कहा जा सकता है। तथापि मेरा यह दावा नही है कि मेरे इस प्रबन्ध के द्वारा पालि वाङ्.मय में कर्म सिद्धान्त की सर्वांगीण, सूक्ष्म और विशद विविचना की जा सकी है। क्योंकि धार्मिक दार्शनिक चर्चाओं के विषयों में यह विषय सबसे अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण है। अन्यान्य दृष्टियों एवं पक्षों से भी इस पर विचार, चर्चा और अध्ययन किया जा सकता है, किया जाना चाहिए और किया जायगा ऐसा मेरा विश्वास है। अतः इस शोध प्रबंध में स्थान और समय की अपनी सीमाओं के भीतर कर्म सिद्धान्त के विषय में अन्य प्रमुख भारतीय विचारधाराओं का यथास्थान संक्षिप्त व प्रायः सांकेतिक उल्लेख मात्र किया गया है। इस प्रबन्ध मे पालि साहित्य के समकालीन संस्कृत ग्रन्थो व अन्य सामग्री का उपयोग भी यथा संभव किया गया है। संस्कृत श्लोकों का हिन्दी में रुपांतर श्री. पालन्दे जबलपूर की सहायता से किया गया है। में उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हू।

इस कार्य को सम्पन्न कराने में मरे निर्देशक गुरुवर्य डा. व्ही. पी. जैन, आचार्य, संस्कृत पालि एवं प्राकृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर म.प्र. ने आरंभ से लेकर अन्त तक प्रबन्ध की विषयवस्तु, भाषा एवं लेखन शैली को यथासंभव सुधार कर जो अनुकंपा की है उनके आभार मैं किन शद्बों में व्यक्त करुं? इस संदर्भ में मैं सन्त तुकाराम के निम्नलिखित शद्बों को उद्धृत करके कुछ सन्तोष ग्रहण कर सकूंगा-

"काय वाणु आता, पुरे न ही वाणी,।
मस्तक चरणी ठेवितसे।"

मेरे निर्देशक के जबलपुर छोडकर दिल्ली प्रवास के दो वर्षो से अधिक लंबे अंतराल मे उनकी कमी का तनिक भी अनुभव न होने देने वाले संस्कृत पालि-प्राकृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष एवं आचार्य डा. के. के. चतुर्वेदी को धन्यवाद देता हू. जिन्होंने मेरे कार्य में शीघ्रता लाने के लिए सभी उचित प्रबंध किये। इसी प्रकार सदा हंसमुख रहने वाले डा. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी एवं डा. रहस विहारी द्विवेदी व्याख्याताव्दय ने भी समय समय पर सत्परामर्श दिया है, दिल्ली वि.वि. के आचार्य संघसेन सिंह का भी मेरे शोध कार्य की पूर्ती में सहयोग रहा है। में उनका भी ह्दय से आभारी हूं। इस शोध प्रबन्ध के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अवलोकन अध्ययन करने हेतु मुझे दो बार वाराणसी जाना पडा। वहां के प्रवासकाल में मृगदायवन विहारवासी विहाराधीश भदन्त शासन रश्मि एवं उनके साथी भिक्षुओं ने मुझे सुयोग्य परिवास देकर जो महान उपकार किये उनका स्मरण किये विना नहीं रहा जाता। डा. मेधंकर के आशीष मुझे सदैव प्रेरणादायी रहे है। निर्वाण प्राप्त डा. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे श्रामणेर बनाकर बौद्ध अवधारणाओं को स्पष्ट किया ऐसे सर्वजनों के कल्याण मित्र को मै शतशः प्रणाम करता हूं। शीघ्र आजीविकोपार्जन में पड जाने की अपेक्षा शोध कार्य में लगने के लिये प्रेरणा देने वाले सम्माननीय भगत गुरुजी, मुख्याध्यापक, हरदास विद्यालय, कामठी तथा इस कार्य में मित्रावर श्री वालदे एवं उनकी धर्मपत्नी का जो सहयोग एवं स्नेह मिला उसके लिए उन्हें शद्बों में धन्यवाद देना अशक्य है।

मेरे परम मित्र श्री शिंगाडे एवं श्रद्धाभाजन सम्माननीय श्री किशनलाल कोरी एवं धर्म जिज्ञासु श्री माटे जिन्होंने मुझे महत्वपूर्ण ग्रन्थ देकर शोध सामग्री का संग्रह करने में साहाय्य प्रदान की। मेरे सहायक श्री दौलतराव निमगडे, जबलपुर आदि का मै कृतज्ञ हूं।

इस शोध प्रबंध का पूरस्कार श्रद्धेय डॉ. भाऊ लोखंडे, आचार्य एवं अध्यक्ष, पालि प्राकृत पदव्युत्तर विभाग नागपूर विद्यापीठ नागपूर (महाराष्ट्र) ने अल्पावधि में लिखकर दी। आपने वातसल्य एवं स्नेहभाव के कारण उपरोक्त ग्रंथ का पुरस्कार

लिखा जिसके लिए धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगी। आपकी स्नेहदृष्टि नित्य बनी रहे इसी कामना के साथ आपके प्रति मै कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

इस प्रबंध को प्रकाशित करने हेतू संकेत प्रकाशन के अध्वर्यु एवं साहित्यकार आ. धनराज डाहाट, शिवाजी नगर, नागपूर का पूरा सहयोग मिला। भविष्य में भी सहायता मिलेगी ऐसी आशा रखता हू। सुगत बुकडिपो के प्रबंधक श्री. तुलसी पगारे, उत्तर नागपूर विभाग के सामाजिक कार्यकर्ता श्री. कपुर मोटघरे, प्रो. विमल किर्ति मित्रवर श्री. फत्तेसिंगजी ढाबरे नागपूर, सन्माननीय आर. के. डोंगरे डिपो मैनेजर म. प्र. राज्य परिवहन, नागपूर डिपो नागपूर, अनुज तुल्य इ. जेड खोब्रागडे निवासी उपजिलाध्यक्ष चंद्रपुर एवं उनके सहयोगी, आचार्य अनिल गजभिये एवं सौ. नलिनी गजभिये, प्रवाचक इन्दोर (म.प्र.) आप सभी शुभचिंतको को धन्यवाद।

मेरे हितचिंतक जेष्ठ बंधु आचार्य सुर्यभान वाघमारे, एवम् संकल्प प्रिन्टींग प्रेस के मालिक के. डी. वाघमारे, जरीपटका नागपूर; सर्वश्री देवराव वाघमारे, नंदकुमार वाघमारे, दामोदर वाघमारे, मन्साराम वाघमारे, सदाशिव वाघमारे, पी. के. वाघमारे एवं के. टी. वाघमारे मु. कन्हाळगाव जि. चंद्रपुर महाराष्ट्र की मेरे प्रति सहानुभूति है, उनके जैसे सुहृदों के कारण ही उपरोक्त ग्रंथ प्रकाशित करने की प्रेरणा मिली मै आप सबको धन्यवाद देता हू।

अंत में मै पाठकों से अनुरोध करता हू कि इस ग्रंथ पर अपने विचार भेजने की कृथा करे जिससे कि भविष्य में सुधार किया जा सके।

धन्यवाद।

भवतु सब्ब मंगलम

डॉ. एन. जे. वाघमारे
शोध वैज्ञानिक
शासकीय कला वाणिज्य महाविद्यालय
इंदोर (म.प्र.)

धम्मचक्र प्रवर्तन दिन.
दि. ५-१०-९२

अनुक्रमणिका

अध्याय १- १-४७

पृष्ठभूमि- ऐतिहासिक, वैचारिक, बुद्ध के पूर्वकालीन दार्शनिक- वैदिक, सांख्य, कपिल, ब्राह्मण, उपनिषद, चार्वाक।बुद्ध के समसामयिक दार्शनिक संप्रदाय - पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकंबली, पकुण कच्चायन, निगण्ठनाथ पुत्र, संजय बेलट्ठिपुत्त, धार्मिक- यज्ञ-याग आदि। सामाजिक- वर्णविभाजन पर आधारित समाज व्यवस्था, तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में भगवान बुद्ध के विचारों का आकलन, पालि साहित्य का परिचय।

अध्याय२- ४८-८५

पा।ल वाङ्.मय में कर्म का स्थान, स्वरुप, महत्व एवं अन्य सिद्धान्तों के साथ संबंध- कर्म तथा धर्म- अर्थात् कोई भी नैसर्गिक घटना, धर्म- नैसर्गिक नियम, धर्म- धर्म की शिक्षा, सिद्धान्त एवं व्यवहार, सामाजिक व नैतिक आचरण, चार आर्य सत्य आर्य अष्टांगिक मार्गादि आध्यात्मिक सिद्धान्त।कर्म तथा अन्य सिद्धान्तों का संबंध एवं कर्म का महत्व- कर्म तथा अन्य सिद्धान्त- प्रथम आर्य सत्य "दुःख", द्वितीय आर्य सत्य- "दुःखसमुदय", तृतीय आर्य सत्य- "दुःख-निरोध", चतुर्थ आर्य सत्य- "दुःख निरोध-गामिनी- प्रतिपदा।कर्म का महत्व- कर्म का स्वरुप- कर्म तत्व की व्यापकता, कर्म एवं प्रतीत्य समुत्पाद, कर्म तथा अनात्मवाद, कर्म तथा अनित्यतावाद, कर्म एवं अनीश्वरवाद, अन्य भारतीय विचार धाराओं में कर्म की अवधारणाएं।

अध्याय ३ -

कर्मो का वर्गीकरण-कुशल कर्म, कर्मपथ, कायिक, वाचिक, मानसिक, दान, शील, भावना। अकुशल कर्म एंव कर्मपथ - कायिक कर्म, अंग एवं प्रयोग, वाचिक कर्म अंग एव प्रयोग, मानिसक कर्म, अंग एवं प्रयोग। कामावचर के ८ कुशल चित्त, कामवचर के लोभ, द्वेष एवं मोहमूलक १२ अकुशल चित्त, रुपावचर के ५ कुशल ध्यान चित्त, अरुपावचर के ४ कुशल चित्त ध्यान चित्त। लोकोत्तर के ४ मार्ग चित्त, अव्याकृत चित्त - विपाक चित्त, कामावचर भूमि, रुपावचर भूमि, अरुपावचर भूमि एवं लोकात्तर भूमि के अनुसार। क्रिया चित्त - कामावचर भूमि, रुपावचर

भूमि एवं अरुपावचर भूमि। शोभन एवं अशोभन चित्त - व्यष्टि कर्म और समष्टि कर्म का एक दूसरे पर प्रभाव।

अध्याय - ४ १३० - १६२

पालि साहित्य में कर्म मल से संपृक्ति तथा पुनर्जन्म के हेतु एवं संसार चक्र की व्याख्या - लोभ, द्वेष, मोह, प्रतीत्य समुत्पाद, अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरुप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास।

अध्याय - ५ १६३ - १९६

कर्म के भेद, दशाएं एवं विपाक - दिट्ठधम्मवेदनीय कर्म, उपपद्य वेदनीय कर्म, अपरापर वेदनीय कर्म, अहोसि कर्म, कर्म एवं पुनर्जन्म - सैद्धान्तिक आधार, कर्मो के भेद से मृत्यु भेद शुभाशुभ कर्म - विपाक के अनुसार विविध भूमियों में जन्म, कामावचर भूमि - कामसुगति भूमि, अपायभूमि, रुपावचर भूमि, अरुपावचर भूमि, लोकोत्तर भूमि, महापुरुष लक्षणों की प्राप्ति।

अध्याय - ६ १९७ - २२५

कर्म मला से निवृति के उपाय - चार-स्मृति-प्रस्थान - चार सम्यक प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पांच इन्द्रिया, पांच बल, सप्त बोध्यंग, आर्य अष्टांगिक मार्ग।

अध्याय - ७ २२६ - २४०

कर्मो से निवृति की अवस्थाएं एवं निर्वाण - ऋद्धि एवं अभिज्ञा स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी, अर्हत। निर्वाण - दृष्टयधर्म, निर्वाण, संपरायिक निर्वाण, शून्यता निर्वाण, अनिमित निर्वाण, अप्रणिहित निर्वाण।

अध्याय - ८ २४१ - २५३

पालि वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त तथा निर्वाण की अवधारणाओं के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के सिद्धान्त की तुलना - उपनिषद, जैन, सांख्य, मीमांसा।

उपसंहार - २५४ - २६७

हि.भा.	- हिन्दी भाषातंर
भ.आ.कौ.	- भदन्त आनन्द कौसल्यायन
भ.सि.उ.	- भरतसिंह उपाध्याय
जी.सी. पाण्डेय	- गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
म.प.रा.सा.	- महापण्डित राहुल सांकृत्यायन
डा.बी.सी. जैन	- डा. भागचन्द जैन
डा. म.मो. सिंह	- डा. मदनमोहन सिंह
लो.मा.बा.ग.ति.	- लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
भ.बु.औ.उ.ध.हि.भा.	- भगवान बुद्ध और उनका धर्म हिन्दी भाषांतर
बौ.द.त.अ.भा.द.	- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
अ.स.हि.भा.	- अभिधम्मत्थसंगहो हिन्दी भाषांतर
जा.का.भा.सं.	- जातक कालीन भारतीय संस्कृति
त.का.शा.सं.	- तथागत का शाश्वत संदेश
बौ.ध.ए.बु.अ.	- बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी अध्ययन
द.वे.से मा.त.	- दर्शन वेद से मार्क्स तक
जै.द.औ.सं. का इ.	- जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास
भा.सं.ला. बौ.ध.चेयो.	- भारतीय संस्कृतिला बौद्ध धर्माचे योगदान
दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु.	- दि कंसेप्शन बाफ कम्म अँड रिबर्थ इन थेरवाद बुद्धिज्म।
अ.नि.हि.भा.	- अंगुत्तर निकाय हिन्दी भाषांतर

बौ. ध. के वि.का इ.	- बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
जै.द.औ.मी.द. के क.	- जैन दर्शन और मीमांसा दर्शनों के कर्म
सि.का तु.अ.	- सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन ।
भा.द. का स.	- भारतीय दर्शनों का समन्वय
भा.द.	- भारतीय दर्शन
भा.द.प. में मो.चि.	- भारतीय दर्शन परंपरा में मोक्ष चिन्तन
पा.टे.सो.	- पालि टेक्स्ट सोसायटी
द.दि.	- दर्शन दिग्दर्शन
बृ.उ.	- बृहद उपनिषद
दी.नि.	- दीघनिकाय
म.नि.	- मज्झिमनिकाय
स.नि.	- संयुत्त निकाय
सु.नि.	- सुत्तनिपात
अ.नि.	- अंगुत्तर निकाय
प.दी.	- परमत्थदीपनी
दी.अ.	- दीघनिकाय अट्ठकथा
पा.सा. का इ.	- पालि साहित्य का इतिहास
पट्ठान अनु.	- पट्ठान अनुटीका

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

किसी भी देश के किसी धार्मिक सम्प्रदाय अथवा परम्परा का सामाजिक, साहित्यिक, राजकीय किंवा दार्शनिक दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए उस देश के प्राचीन इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। इसी दृष्टि से यहां अत्यन्त संक्षेप में कुछ विचार किया जा रहा है।

भारत के आदि निवासी द्रविड तथा अनार्य माने जाते है। भारतीय आर्य भारत में कहीं बाहर से आये थे। ऐतिहासिकों का इसी पक्ष में बहुमत है।[१] वेद और अवेस्ता में वर्णित घटनाओं के आधार पर विद्वानों ने प्रायः ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है।[२] डॉ. सुनीतिकुपार चटर्जी के अनुसार भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्यो से भी बहुत पूर्व अनार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।[३] सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता की अनुगामिनी नहीं थी, प्रत्युत वह उससे पहले की उन्नत द्रविड सभ्यता थी।[४] डॉ. हेरास और नीलकण्ठ शास्त्री ने भी सिन्धु घाटी सभ्यता को द्रविड सभ्यता स्वीकार किया है।[५] भारतीय संस्कृति के उद्‌गम स्रोत क्या थे ? इस विषय में ऊपर के ये ऐतिहासिक संदर्भ उसका कुछ संकेत मात्र देते है। डॉ. याकोबी ने ऐसा अभिमत व्यक्त किया कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था।[६] इसके प्रतिकूल डॉ. जी. सी. पाण्डेय का स्पष्ट अभिमत है कि संसारवाद के साथ प्रवज्या का ग्रहण भी ब्राह्मण ने श्रमणों से किया, न कि श्रमणों ने ब्राह्मणों से।[७] इस प्रकार परस्पर विरोधी तर्कों से पहले श्रमण या ब्राह्मण यह एक गंभीर प्रश्न ऐतिहसिक के सामने उपस्थित हुआ है।

सन्यासी जीवन का विचार करने पर 'परिव्राजक' यह सन्यासी जीवन का एक सर्वमान्य प्रतीकात्मक शद्व प्रतीत होता है। क्योंकि पालि साहित्य में श्रमण परिव्राजक एवं ब्राह्मण परिव्राजक ऐसे उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होते है। तापस संप्रदाय के अवैदिक होने की शंका डॉ. मनमोहन सिंह ने भी व्यक्त की है।[८] ऋग्वेद के आधार से ही विचार किया जाय तो वहां भी उसके पर्याप्त प्रमाण मिलते है। जैसे -

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गाः वसते मला
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यधवासो अविक्षत्त।
उन्मदिता मौने येन वाता आतस्थिया वयम्
शरीरदेस्माकं यूय मर्तासो अभिपस्सथ।। ऋ. १०/१३६/२,४

अतिन्द्रियार्थी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिसके कारण वे पिंगल वर्ण के दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण करते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरुप को प्राप्त हो जाते हैं। तैत्तरीयाण्यक [९] में कहा गया है 'वातशरणा हंवा ऋषभः। श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो वभूतुः। हडप्पायुगीन मुहरों में आदि पशुपतिनाथ तथा श्मश्रुयुक्त पुरोहितों के चित्रण इस विचार को प्रश्रय देते हैं कि सम्भवतः हडप्पायुगीन संस्कृति में तप की प्रतिष्ठा थी।[१०] धन, वैभव, स्री, पुत्र आदि उपलब्धियों को विशेष महत्त्व देने के कारण वैदिक आर्य आरम्भ में तापस जीवन के प्रति विशेष अनुरक्त नहीं थे। परन्तु कालान्तर में जब आर्य-आर्येत्तर भेद समाप्तप्राय हो गया तो आर्यो ने तप को नया रुप देकर अपना लिया। ऋषियों के तथा ऐसे अन्य उल्लेखों को देखकर ही लगता है डॉ. राधाकृष्ण ने कहा है कि वेदों से वैदिक एवं अवैदिक तत्त्वों को अलग करना जटिल कार्य है। वेदों में स्पष्ट रुप से वैदिक एवं अवैदिक दोनों के पारस्परिक सम्मिश्रण व दोनों परम्परा के विचार एंव उल्लेख उपलब्ध है। अब हम बुद्ध पूर्व वैचारिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में विचार करेंगे।

वैचारिक

डॉ. अशोक कुमार लाड ने 'भारतीय परंपरा में मोक्ष चिन्तन' नामक ग्रन्थ में वैदिक, साख्यं, ब्राह्मण उपनिषद् आदि क्रम से विचार किया है। उसे आधार मानकर वैचारिक परम्परा की चर्चा यहां की जा रही है। उसके अनुसार आद्य उपनिषदों के (की रचना के) पूर्व ही सांख्य विचारधारा सम्यक प्रतिष्ठित थी।[१२]

१) बुद्ध पूर्व वैदिक परम्परा

इस देश के ऐतिहासिक युग में वेदों को सबसे प्राचीन माना जाता है। वैदिक ऋषियों के गीतों में कुछ दार्शनिक कल्पनाओं की उडान दिखाई देती है। ऋग्वेद में हमें आदिम किन्तु कवि हृदयों के भावोत्तेजक उद्गार मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि वे इन्द्रियों एवं बाह्य जगत के विषय में उठने वाली अदम्य आशंकाओ से मुक्ति पाने की खोज में थे।[१३] ऋग्वेद के सूक्त इस अंश में दार्शनिक हैं कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अतिमानवीय अर्न्तदृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नहीं किन्तु स्वतन्त्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं।[१४] मरणोपरान्त जीवन तथा पुर्नजन्म के विषयों से वे लगभग असम्पृक्त थे।[१५] कर्म तथा उससे छुटकारे के प्रश्न को वेदों में कोई महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं माना गया।[१६] उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण समस्यायें ये थीं - यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ? अलग अलग वस्तुएं कैसे उत्पन्न हुई? उन्हें किसने उत्पन्न किया और किसने सब व्यवस्थाएं की ? यह संसार किसमें से उत्पन्न हुआ और फिर किसने विलीन हो जायगा ?[१७] बुद्ध की दृष्टि से भी वैदिक

ऋषियों के हृदय में निस्सन्देह सत्य की खोज करने की अदम्य प्रेरणा थी। पर वे सत्य को मानो अन्धेरे में टटोल रहे थे।[१८] अब सांख्यदर्शन और उसके आद्य प्रणेता, एवं प्रस्तोता कपिलमुनि के संबंध में कुछ चर्चा करें।

२) कपिल मुनि

कपिलमुनि के जीवन तथा चरित्र के विषय में विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। कदाचित ऋग्वेद में वर्णित पिंगल वर्ण ऋषि के रुप में इन्हीं कपिल मुनि का उल्लेख हो ? जातक कहानियों में कपिल का नाम आता है।[१९] भगवान बुद्ध की जन्मभुमि का नाम कपिल वस्तु था और वह बस्ती कपिल ऋषि के आश्रम पर ही बसाई गई थी।[२०] बुद्ध चरित के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के पूर्व गुरु 'अराड' अर्थात आलारकालाम सांख्यवादी ही थें ।[२१] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि सांख्य एवं सांख्य विचारधारा सुव्यवस्थित रुप से बुद्धपूर्व काल से लेकर बुद्ध के समय तक प्रचलित थी।

सांख्य शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं। प्रथम कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित सांख्य शास्त्र है।[२२] इस विशिष्ट अर्थ के अतिरिक्त सब प्रकार के तत्त्व ज्ञान (अथवा सम्यक ज्ञान) को भी 'साख्यं' कहते हैं।[२३] डॉ. जी.सी. पाण्डेय[२४] ने कहा है कि वेदों में वैदिक दृष्टि के अनुकूल केवल कुछ सांख्य सिद्धान्तों को समाहित कर लिया गया है और औपनिषद सांख्य भी विशुद्ध सांख्य न होकर सांख्य की छाया मात्र है। सांख्य विचारधारा के लिए वैदिक मूल नहीं खोजना चाहिए।[२५] निस्सन्देह उपनिषदों के सांख्य संदर्भ वैदिक क्षेत्र में श्रमण प्रभाव को विशद करते हैं।[२६] स्वंय सांख्य दर्शन अपना मूल अनादिश्रुति में नहीं किन्तु कपिलमुनि के उपदेश में मानता है। डॉ. जी.सी. पाण्डेय के इस कथन का प्रबल समर्थन स्वंय सांख्याकारिका के इस कारिका से होता है कि वैदिक मार्ग 'अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' है।[२७] यदि सांख्य दर्शन का मूल उक्त वेदों में होता तो उसके प्रणेता वैदिक मार्ग के विरुद्ध ऐसा कथन नहीं कर सकते थे। भरतसिहं उपाध्याय[२८] ने कहा है कि बौद्ध और सांख्य दर्शन के पारस्परिक संबंध की समस्या भारतीय दर्शन का एक मनोज्ञ और महत्त्वपूर्ण विषय है।

इस प्रसंग में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 'मुण्डितों का उपनिषद (मुण्डकोपनिषद)' भी मिलता है। मुण्डक का साधारण अर्थ श्रमण ही होता है।[२९] इससे स्पष्ट है कि वैदिक परंपरा में मुण्डक अर्थात श्रमणों को आदरपूर्ण स्थान दे दिया गया था। पालि निकायों में अम्ब ष्ठ ब्राह्मण का कथन है कि श्रमणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के पैर से हुई है।[३०] ऐसा प्रतीत होता है कि 'सांख्य' एक प्रकार से वैदिक एवं श्रमण परम्परा की मिलनभूमि है।

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों में कपिल सर्वाधिक प्रधान है।[३१] उनके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

सांख्य दर्शन का प्रथम सिद्धान्त यह है कि सत्य के लिए प्रमाण आवश्यक है। बिना प्रमाण के सत्य का अस्तित्व नहीं। सत्य को सिद्ध करने के लिए दो प्रमाण स्वीकार किये गये हैं- प्रत्यक्ष एंव अनुमान।[३२] अनुमान के भी तीन प्रकार माने गये हैं। यथा - कारण से कार्य का अनुमान, कार्य से कारण का अनुमान एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान। सांख्य की स्थापना हैं कि व्यक्त और अव्यक्त के रुप में संसार के दो रुप हैं।[३३] इन तत्त्वों के संबंध में कहा गया है कि मूल प्रकृति अपने में अव्यक्त है। उससे महत् आदि ७ तत्त्व प्रकृति है और विकृति भी हैं। पंचमहाभूत तथा ग्यारह इंद्रिया यह सोलह विकृति मात्र हैं। वे किसी भी प्रकृति नहीं हैं। इन२४ तत्त्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व हे जिसे न प्रकृति कहा जा सकता है और न विकृति। इसको सांख्य दर्शन का 'पुरुष' कहते है।[३४] सांख्य दर्शन में यह 'पुरुष' बकरी के गले में लटकनें वाले मास के लोथंडे की तरह लटका हुआ है, क्योंकि सांख्य दर्शन के अनुसार इसका कुछ भी क्रियाकारित्व नहीं है।[३५]

सांख्य के अनुसार सत्त्व, रज, एवं तमोगुण न्यूनाधिक होने लगते हैं तब प्रवृत्यात्मक रजोगुण के कारण मूल प्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थ प्रकट होते हैं। इसी से सृष्टि का आरंभ होता है।[३६] जड प्रकृति चेतनवत प्रतीत होती है और यह जो अकर्ता पुरुष है, वह 'कर्ता' जैसा प्रतीत होता है, यह प्रकृति और पुरुष के संयोग का परिणाम है।[३७] यदि यह पूछा जाय की पहले सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे हुई है ? इस प्रश्न का सांख्यवादी यही उत्तर देते हैं कि यह प्रकृति का मूलभूत स्वभाव ही है।[३८] सांख्य के अनुसार पुरुष एक नहीं अनेक हैं।[३९] सांख्य ने तीन प्रकार के दुःख माने है। आध्यात्मिक आधिभैतिक तथा आधिदैविक इन दुःखों के कारण व्यक्ति दुःखी होता है। इनसे मुक्ति के उपाय की चर्चा भी सांख्य दर्शन में है। उनके मत से दुःख क्षय करने में सामान्यतः दृष्ट (लौकिक?) उपाय अपर्याप्त है। उसी प्रकार अनुश्रुति मूलक वैदिक उपाय भी असमर्थ है, वे केवल असमर्थ न होकर अविशुद्धि, क्षय तथा आश्वासन एवं विषमता से युक्त है, इसके विपरीत सांख्य सम्मत उपाय है वे निश्चय से श्रेयस्कर हैं। क्योंकि उनके मूल में व्यक्त तथा अव्यक्त का परिज्ञान है।

ब्राह्मण साहित्य वेदों का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसमें जो विचार तथा दर्शन उपलब्ध होता हैं उसमें चार स्थापनाएं मुख्य है। उनकी पहली स्थापना है कि वेद अपौरुषेय है।[४०] दूसरी आत्मा की संसरण (जन्म-मरण) से मुक्ति प्राप्त करनी हो तो वैदिक यज्ञ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं को सही रुप से पूरा करने और ब्राह्मणों को दान देने से ही हो सकती हैं।[४१] तीसरी स्थापना थी वर्णाश्रम पद्धति पर आधारित एक ऐसे आदर्श

समाज की जिसके कारण समाज में उच्च-नीच की अवधारणाओं और विषम सामाजिक वर्णो का निर्माण हुआ। यह व्यवस्था वेदों से जुडी थी। जिस प्रकार वेदों को तर्कातीत कहा गया है उसी प्रकार चातुवर्ण को भी।[४२] उनकी चौथी स्थापना कर्म सिद्धान्त विषयक थी। यह आत्मा के संसरण का सिद्धान्त माना जाता है । जन्मान्तर होने पर नये शरीर को लेकर आत्मा अपने पूर्व कर्म (अर्थात पिछले जन्म के उपार्जित कर्म) के अनुसार जन्म ग्रहण करती है।[४३] मनुष्य के पुनजर्न्म और आत्मा के जन्म-मरण तथा कर्म से मुक्ति की जो कल्पनाएं एवं चर्चाएं वेदों में उपलब्ध नहीं होती वे उनके पूरक ब्राह्मण वाङ्.मय में विस्तार से पायी जाती हैं ।

उपनिषद

उपनिषद सबसे प्राचीन वेदान्त ग्रन्थ है। उनकी संख्या १०८ कही जाती है।[४४] उपनिषदों में वैदिक सूक्तो में उपलब्ध सांकेतिक अद्वैतवादी विचारों पर और अधिक बल देकर एंव विचारों के केन्द्र को बाह्य जगत से हटाकर अन्तर्जगत की और मोड दिया गया तथा वैदिक कर्मकाण्ड के बाहय स्वरुप का विरोध करके एवं वेदों की पवित्रता के प्रति उदासीनता धारण करके उनसे ऊपर उठकर (दार्शनिक) विचार (एवं चिन्तन) को अधिक उन्नत किया गया।[४५] उनमें घोषणा के साथ कहा गया कि यज्ञों के द्वारा आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति केवल सच्चे अर्थो में धार्मिक जीवन बिताने एवं विश्वात्मा (ब्रह्म) का आम्यन्तर दृष्टि द्वारा साक्षात्कार करने से हो सकती है।[४६] उपनिषदों के ऋषियों का चिन्तन यज्ञ एवं वेदों के प्रति उदासीन था और ये उनकी चर्चा के मुख्य विषय नहीं थे। उनकी चर्चा का मुख्य विषय है ब्रह्म और आत्मा।[४७] संभवतः इसी कारण से सब वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में ही निहित है यह ब्रह्मसुत्रकार ने भी भली प्रकार दिखाया है।[४८] इस ब्रह्म या ब्रह्मन शद्ब को लेकर अनेक विद्वानों जैसे हांग, एजिलिंग, केतकर, तिलक आदि ने काफी छानबीन की है। वि.का. राजवाडे[४९] के मतानुसार ब्रह्म या ब्रह्मन ब्राह्मणों अथवा ऋषियों का नेता था। साम्य संघ के सदस्यों का नेतृत्त्व करने वाला। इस विचार के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म एक व्यक्तिवाचक शद्ब था। आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ और मंत्र की महिमा इतनी बढी कि ब्रह्म शद्ब प्रकारान्तर से मूलतत्त्ववादी हो गया।[५०] इन परंपरावादी विचारों के विद्रोही के रुप में ही हम अन्य दर्शनों को पाते है। जिनमें मान लिया जाय के स्थान पर जान लिया जाय का उद्घोष किया गया है। आत्मा के स्वरुप को लेकर भी ब्राह्मण ग्रन्थों में एक वाक्यता नहीं है, प्रारम्भ में देह अथवा अंगो से आत्मा को पृथक नहीं माना जाता था, यद्यपि 'प्राण' ही उसका मुख्य अर्थ था।[५१] प्राण का चेतना के साथ घनिष्ठ संबंध है। अतः कुछ विचारकों ने दोनों को एक ही माना।[५२] किन्तु दूसरों ने इनमें भेद किया एवं आत्मा का स्वरुप विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान माना।[५३] प्राण में ही समस्त देवताओं का समाहार होता

था।`` अवैदिक दार्शनिकों के प्रतिनिधी के रुप में सर्वप्रथम चार्वाक उपनाम से विख्यात महर्षि के विचारों का सिंहावलोकन करना उचित होगा।

चार्वाक

वास्तव में चार्वाक नाम एक विशिष्ट व्यक्ति को नहीं अपितु एक दार्शनिक संप्रदाय को दिया गया है। इस विचार के प्रस्तोता बृहस्पति थे। उनके दर्शन को लोकायत भी कहा जाता है। पालि ग्रन्थों में 'लोकायतिक'[५५] शद्ध मिलता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में लोकायत को आन्विक्षिकी के अन्तर्गत माना है।[५६] जी.सी. पाण्डे[५७] के मतानुसार उपनिषत्काल से प्रारम्भ कर चतुर्थ शताद्वी ई.पू. तक एक निश्चित भैतिकवादी और नास्तिक विचारधारा का उद्गम और प्रवाह हुआ था। विगत अर्धशती में चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। पालि प्राकृत एवं अन्य साहित्य में उनके सिद्धान्तों का नाम मात्र और वह भी व्यंगात्मक परिचय प्राप्त होता है। चार्वाकों का अपना दार्शनिक साहित्य अवश्य रहा होगा।[५८] उसकी जो भी अवशिष्ट उपादान सामग्री हमें आज उपलब्ध है, उसी के आधार पर यहां विचार किया जायगा। दूसरे दार्शनिकों ने उनके विचारों का खण्डन या उपहास करने के लिये जो भी उल्लेख किये है वही हमें उनके विषय में कुछ दिशा प्रदान करते हैं। उनके विचार सामान्यतः निम्नानुसार थे।

स्वर्ग अन्तिम मोक्ष और आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। चारों वर्ण एवं आश्रमों के कर्म कोई यथार्थ प्रभाव उत्पन्न नहीं करते।[५९] अग्निहोत्र, तीनों वेद, तपस्वी के त्रिदण्ड ओर देह मे भस्म रमा लेना इन सबको प्रकृति ने उन व्यक्तियों की आजीविका का साधन बनाया है, जो ज्ञान से शून्य और पुंसत्व से भी विहीन हैं।[६०] इस प्रकार यहां बुद्धपूर्व भारत के दार्शनिकों के विचार संक्षिप्त रुप से दिये गये हैं। प्रत्यक्ष बुद्ध के समय में जो विविध संप्रदाय विद्यमान थे उनके विचारों पर यहां कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है, जिससे यह विदित हो कि बुद्ध ने पूर्व तथा समकालीन दार्शनिकों के किन सिद्धान्तों को अपने धर्म में स्वीकार किया और कर्म की पृष्ठभूमि में उनका क्या स्थान है।

बुद्ध के समसामायिक दार्शनिक सम्प्रदाय

जिस समय भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ और वे स्वानुभूत सद्धर्म के प्रचार हेतु देशाटन के लिए निकले उस समय मे कई दार्शनिक संप्रदाय प्रचलित थे। उनका विस्तृत व्यौरा दीर्घनिकाय[६१] के ब्रह्मजाल सुत्त में प्राप्त होता है। उनकी संख्या ६२ कही गई है। इनमें से आदि के संबंध में १८ धारणाएं एवं अंत के संबंध में ४४ धारणाए थी।[६२] जैनागमों में इनकी संख्या ३६३ दी गई है।[६३]

वैदिक, सांख्य (कपिल) ब्राह्मण तथा उपनिषदों की परम्परा ने बुद्ध के चिन्तन

का पूर्वपीठिका का कार्य किया। अपने काल के ६२ मतवादों से बुद्ध ने छह दार्शनिकों पर ही ध्यान दिया। क्योंकि उनकी दृष्टि में वे ही महत्त्वपूर्ण थे। वे निम्नानुसार हैं -

पूर्ण काश्यप

उनका सिद्धान्त 'अक्रियावाद' कहलाता है। उनकी स्थापना थी कि हिंसा, परस्त्रीगमन, चोरी आदि दुष्कर्मों में कोई पाप नहीं है।[६४] इनके अनुसार कर्म का आत्मा पर किसी भी तरह से कोई प्रभाव नहीं पडता। स्वंय चोरी करे या करवाये, झूठ बोले या बुलवाये, डाका डाले या डलवाये, कार्य कितना भी जघन्य हो उनका आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पडता।[६५] आत्मा को पुण्य से युक्त नहीं किया जा सकता और आत्मा पर पाप पुण्य की कोई क्रिया नहीं होती।[६६] डॉ. बरुआ[६७] ने इसे अधिच्च समुप्पत्तिक वाद कहा है। नलिनाक्ष दत्त पूर्ण काश्यप को एक प्रकार का सांख्यवादी ही मानते है।[६८]

दूसरा सांप्रदाय था नियतिवादी जिसका मुख्य उपदेष्टा मक्खली गोसाल था। प्राकृत साहित्य में उसे मूलतः भगवान महावीर का अनुयायी माना गया है।[६९] वह बिना हेतु और प्रत्यय के सभी सत्त्वों की शुद्धि मानता था। इसे अहेतुक दिट्ठी तथा अकिरिया दिट्ठी भी कहा गया है।[७०] अजातशत्रु ने इस मत को संसार विशुद्धि का मत वर्णित किया है।[७१] संक्लेश और विशुद्धि के पीछे नियति-संगति-भाव-परिणाम का नियमन विद्यमान रहता है।[७२] वस्तुतः जन्म-मरण, सुख-दुःख, संसार एवं मोक्ष सब कुछ पूर्व कर्मो पर (अर्जीत कर्मो पर) निर्भर करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संचित कर्मो को भी मक्खलिगोसाल प्रारब्ध कर्म के समान विपाकोन्मुख एवं अपरिहार्य मानता था। उसके मत में पुरुषार्थ सर्वथा तुच्छ और हेय हैं। न कोई कुछ कर सकता है और न ही कुछ होने से रोका जा सकता है। घटनाएं घटती रहती हैं। जो कुछ व्यक्ति पर घटित होना है वह होकर रहेगा। मिलिन्द प्रश्नों में राजा मिलिन्द से वाद-विवाद करते हुए मक्खलि गोसाल (अर्थात उनका कोई पारम्पारिक शिष्य) कहता है 'पाप और पुण्य' कर्म कुछ नहीं है अच्छे और बुरे कर्मो के कोई फल नहीं होते। जो यहां क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र या चण्डाल व पुक्कुस है वे परलोक में भी वही होंगे। उसका मत एक प्रकार से 'पूर्व निश्चय वाद' था।[७३]

अजित केस कंबली

इस दार्शनिक के मतानुसार प्राणी चार महाभूतों से बना है। काल कवलित होने पर वे महाभूत विश्व-महाभूतों में विलीन हो जाते है। मृत्यु के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। इसको उच्छेदवाद भी कहते हैं।[७४]

पकुध कच्चायण

इनके अनुसार प्राणी का सात तत्त्वों से निर्माण होता है। पृथ्वी अप, तेज, वायू, सुख, दुःख तथा आत्मा ये ७ स्वतंत्र तत्त्व है।[७५] उनका किसी भी तरह नाश नहीं होता। ये अकृठ, अनिर्मित, अवध्य, तथा कूटस्थ हैं।[७६] ये अपने में संपूर्ण हैं। यदि कोई किसी का सिर भी काट दे तो यह कोई मारना नहीं हुआ। वह तो मानो शस्त्र का सात तत्त्वों में प्रवेश मात्र है। यह एक प्रकार का अकृततावाद है। क्योंकि इन सात तत्त्वों की किसी प्रकार की पारस्परिक क्रिया अथवा नित्य संबंध नहीं है।[७७] शीलांक ने जिस आतमषष्ठवाद का उल्लेख किया है उसे हम संभवतः कात्यायन के मत के अनुरुप मान सकते है। परन्तु इस आतमषष्ठवाद में आकाश की सत्ता को स्वीकार किया गया एवं सुख-दुःख को छोड दिया है।[७८]

संजय बेलट्ठिपुत्त

इसे अन्तिम दर्जे का संदेहवाद[७९] कहा जाता था। वे कहते थे कि यदि मुझे कोई पूछे कि स्वर्ग है तो मै कहूंगा कि हां है। यदि मुझे लगे कि स्वर्ग नहीं है तो मै कहूंगा कि नहीं है। इस प्रकार संजय का तर्क चलता था।

निगण्ठ नाथपुत्त

श्रमण परंपरा का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित जैन परंपरा सबसे प्राचीन हो। अब यह तत्थ्य सर्वमान्य हो चुका है कि भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ अवश्य हुये थे। ये जैनों के तैईस-वें तीर्थकर माने गये हैं। उनके भी पहले के बाईस तीर्थकरों की तत्तद रुप में ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है, किन्तु इस तत्थ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनकी मुनि परंपरा अत्यन्त प्राचीन तथा अवैदिक थी [८०] वैदिक साहित्य में उल्लिखित मुनियों के वर्ग में जैन मुनियों का होना नितान्त संभव है [८१] सामञ्ञफल सुत्त [८२] में निगण्ठों के चातुर्याम सवंर का उल्लेख है। वस्तुतः चातुर्याम धर्म अथवा चाउज्जम संवर का पालन भगवान पार्श्वनाथ के समयसे चला आता था। भगवान महावीर ने चतुर्विध संवर को पंचविध किया।[८३] अर्धमागधी प्राकृत जैन ग्रन्थों में चातुर्याम संवर को भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश कहा गया है [८४] असिबन्धक पुतगामणि[८५] बुद्ध को यह कहते हुए पाये जाते हैं कि निगंण्ठनाथपुत्त चार प्रकार के पापों की निन्दा करते हैं यथा - पाणातिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिच्छा चार और मुसाभणति। चातुर्याम को भगवान महावीर अर्थात निगण्ठनाथ पुत्त ने एक याम और जौडकर पंचयाम किया उसी प्रकार बुद्ध ने भी पंचशीलों का निर्माण शायद उसी चातुर्याम से किया हो। आचार्य धर्मानन्द कौसंबी [८६] के मतानुसार बुद्ध के आर्य अष्टागिक मार्ग का समावेश इस चातुर्याम संवर में हो जाता है। ठाणांग एवं संयुक्त निकाय को मिलाकर पढने से यह स्पष्ट

होता है कि चातुर्याम संवर में सुरामेरयविरमण को जोडकर बुद्ध के पंचशील हो जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध का भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर से अवश्य परियच रहा होगा। जैन पंरपरा के अनुसार उन्हें २३ वां तीर्थकर एवं ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन श्रमण परम्परा का वारिस माना जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी कतिपय आचार्यो का उल्लेख किया जा सकता है। यथा - अजीत,[८७] उग्गहमाण[८८] उत्तिय,[८९] जंबुखादक,[९०] उपतिस्स,[९१] कतृयण[९२] तिम्बरुक,[९३] दीघनरव[९४], पटिकपुत्त,[९५] भगवगोत्त[९६], मिगसिंर,[९७] अगिवच्छगोत्त,[९८] अन्नभार,[९९] अनुगार,[१००] कन्दरक,[१०१] कुण्डलिय,[१०२] कोकुनद,[१०३] नन्दिय,[१०४] निग्रोध,[१०५] पलायि,[१०६] पविटठकोलित,[१०७] पसूर,[१०८] पिलोतक,[१०९] पोत्तलिपुत्त[११०], पेस्स[१११], पोटठपाद[११२], पोत्तलिय[११३], मागन्दिय,[११४] मोलियसीवक,[११५] वच्छगोत्त[११६], वरघर,[११७] सकुलउदायी,[११८] बेखनस,[११०] सन्जय,[१२०] सज्झ,[१२१] सन्दक,[१२२] समिय,[१२३] समन्दकानि[१२४], समन्नकानि[१२५], सरभ[१२६], सुमद्द[१२७], सुसीम[१२८], सामन्डंक[१२९], सुचिमुखी[१३०], सुतवा[१३१], आदि। इनमें से बहुत से परिव्राजक ब्राह्मण थे और अपने समय के धार्मिक नेता माने जाते थे। अब ऐसा कहा जा सकता है कि इनके द्वारा बुद्ध धर्म स्वीकार करने से बौद्ध तत्त्व ज्ञान का प्रचार अधिक वेग और शक्ति से हुआ।[१३२]

बुद्ध पूर्व दार्शनिक संप्रदायों का विचार करने पर डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार चार्वाक ने जनमानस में बुद्ध के लिए ऐसी परिस्थिति अवश्य निर्मित कर दी थी जो रुढि ग्रस्तता से मुक्ति के लिए उत्कंठित हो रही थी।[१३३] जी. सी. पाण्डे[१३४] के मतानुसार उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि बुद्ध के युग में पुराहितों के कर्मकाण्ड का अनेक दिशाओं से विरोध हुआ, जिसका श्रमणों प्रबुद्ध क्षत्रियों और अध्यात्मवादी ब्राह्मणों ने नेतृत्त्व किया । इस दर्शन की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि यह व्यक्ति को भाग्य के बन्धनों से मुक्तिकर पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है।[१३५] .चार्वाक दर्शन भूतकाल के बोझ से, जिसने उस युग के मानव को बलपूर्वक दबोच लिया था, छुटकारा दिलाने के लिए एक हठ धर्मीवाला प्रयत्न था।[१३६]

बुद्धपूर्वतथा समकालीन आचार्यो के वैचारिक प्रकाश में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं।

अ. [१३७] बुद्धपूर्व दार्शनिकों के निम्नलिखित सिद्धान्तों को बुद्ध तथा उनके जैसे विचारो वाले पूर्ववर्ती एवं समकालीन दार्शनिकों ने स्पष्ट रुप से अस्वीकार किया, जिसका प्रमाण साहित्य में मिलता है।

१. वेदों का स्वतः प्रामाण्य।

२. ईश्वर को सृष्टिकर्ता और ब्रह्म को विश्व का मूलाधार मानना।
३. यज्ञ को मोक्ष का साधन मानना।

ब. [१३८] निर्म्नलिखित सिद्धान्त ऐसे हैं जिनकों केवल बुद्ध ने ही अस्वीकार किया।
१. आत्मा के मोक्ष का सिद्धान्त।
२. आत्मतत्त्व का अस्तित्त्व।
३. आत्मा का संसरण अर्थात एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का सिद्धान्त।
४. पूर्वकृत कर्मो के विपाक की अपरिहार्यता अर्थात इस जन्म में व्यक्ति की जो भी स्थिति परिस्थिति है उस सबको पूर्व कर्मो का परिणामं मानना।

स. पूर्व दार्शनिकों की ऐसी भी कई मान्यताएं थी जिन्हें बुद्ध ने भी स्वीकार किया।
१. कपिलमुनि का यह सिद्धान्त कि संसार में दुःख है, [१३९] और यह कि
२. सत्य प्रमाणाश्रित होना चाहिए । यथार्थता का आधार बुद्धिवाद होना चाहिए। [१४०]

ड. कुछ सिद्धान्त ऐसे थे जिनको कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार किया।
१. कार्यकारण के नियम को अपने सभी सिद्धान्तो में अनिवार्य रुप से माना।
२. पुराने स्थूल कर्मवाद के आधार पर एक वैज्ञानिक कर्मवाद की स्थापना की।

कुछ मान्यताएं, तत्त्व और सिद्धान्त बुद्ध ने स्वंय अपने अनुभवों के आधार पर स्थापित किये। तदनुसार मन की साधना को सबसे अधिक महत्त्व दिया तथा उन्होंने मोक्ष अथवा आत्मा की मुक्ति के स्थान पर बौद्ध निर्वाण के सिद्धान्त की स्थापना की। [१४१]

चार्वाक ने पुरुषार्थ साधन द्वारा व्यक्ति को भाग्य के बन्धन से मुक्त कर अपना जीवन समृद्ध बनाने की प्रेरणा दी। [१४२]

यही बाते आगे चलकर बुद्ध और महावीर ने भी स्वीकार की परन्तु भिन्न रुप से और भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर। फिर भी यह कहा जा सकता है कि चार्वाक दर्शन में मन की पाशविक प्रवृत्ति के रोकथाम का साधन नहीं है। [१४३] अपना भौतिक बल बढाता हुआ कोई व्यक्ति अपने तथा अपने वर्ग के सुख और समुन्नति हेतु अपने से भिन्न व्यक्तियों को कष्ट देने लगे तो उसे इस अनर्थकारी मार्ग से हटाने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं है। [१४४] इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि चार्वाक की तरह भगवान बुद्ध तथा भगवान महावीर ने स्पष्ट रुप से वेद विरोधी होते हुए भी

पाशविक वृत्तियों को रोकने का उपाय तथा मार्ग बताया है।

बुद्ध तथा महावीर दोनों यज्ञ एवं वर्ण विरोधी थे। परन्तु बुद्ध तथा महावीर की तुलना करने पर जितनी मात्रा मे महावीर ने यज्ञ का विरोध किया उतना वर्णवाद का नहीं। स्थिति स्थापक वर्ग का विचार किया जाय तो यज्ञ रहे या न रहे उसकी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं थी, परन्तु चातुवर्ण व्यवस्था समाप्त हुई तो ब्राह्मण्य ही समाप्त हो जायगा इसलिये वे यज्ञ से भी ज्यादा वर्णवाद के विषय में चिन्तित थे। ऐसा प्रतीत होता है। इस बात को गंभीरता से समझकर भगवान बुद्ध ने वर्णवाद का प्रबल विरोध किया।

धार्मिक

वैचारिक पृष्ठभूमि के उपरान्त भगवान बुद्ध के समय की धार्मिक पृष्ठभूमि पर भी किन्चित चर्चा कर लेना उचित होगा।

धार्मिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने के पूर्व इस प्रसंग में 'धर्म' शब्द के विविध अर्थो पर भी संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिए। स्व. काणे के अनुसार 'धर्म' उन संस्कृत शब्दो में से है जिसका प्रयोग कई अर्थो में होना आया है। यह शब्द अनेक परिवर्तनों एवं विपर्ययों के चक्र में घूमा है। ऋग्वेद की ऋचाओं में इसका प्रयोग कहीं तो विशेषण के रुप में हुआ है और कहीं संज्ञा के रुप में। वेद की भाषा में इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था ? यह कहना अशक्य है। स्पष्टतः यह शब्द 'धृ' धातु से बना है। जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलबंन देना, पालन करना। अधिकांश स्थानों पर 'धर्म' धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया संस्कारों के रुप में ही प्रयुक्त हुआ है । जैसे ऋग्वेद १, २२, १८, ५ २६, ६, ७, ४३, २४, ९, ६४, लगता है वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा धार्मिक क्रियाकाण्ड को शायद अधिक महत्त्व दिया गया होगा । इसी कारण से उस अर्थ में इसका अधिक प्रयोग हुआ है।[१४५]

मानवीय सभ्यता के आदिम युग में एक समय था जब बिजली वर्षा और बाढ की घटनाएं मनुष्य की समझ से सर्वथा परे की बाते थी। इन सब पर विजय पाने के लिये जो कुछ भी टोना-टोटका किया जाता था वह सब जादू या धर्म के नाम पर प्रचलित थे एवं जादू या धर्म प्रायः समानार्थक थे।

किसी भी धर्म का विचार करने पर उसके दो पक्ष है ऐसा स्पष्ट होता है। एक होता है उसका सामाजिक या व्यावहारिक पक्ष दूसरा पारलौकिक पक्ष। पारलौकिक पक्ष सामाजिक पक्ष को सुदृढ करने के लिए उसे लोकोत्तर आधार प्रदान करता है। दोनों का पूर्वा पर संबंध रहता है। अतीत में धर्म जादू - टोने हकीमी और अंधविश्वास के साथ मिश्रित रहा है।[१४६]

सृष्टि के प्रारंभ काल में नैसर्गिक घटनाओं एवं मानव जीवन के बहुविध व्यापारों का सम्यक ज्ञान व्यक्ति को नहीं था। संभवतः इसी कारण से भिन्न भिन्न प्राकृतिक शक्तियों, अग्नि, वायू, विद्युत, वर्षा जल आदि के अधिष्ठातृरुप से अनेक देवताओं की कल्पना की गई। इन अधिष्ठातृ शक्तियों का ही देवता शद्व से अभिधान होता है।[१४७] उनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र पुरुष विध नहीं होती, पर समीचीन यजन का उचित फल प्रदान करने में वे चेतनवत सामर्थ्य रखते हैं, ऐसा कहा गया है।[१४८] और यह भी कि यज्ञ और उसके फल का संबंध देवशक्ति के द्वारा ही संपन्न होता है। इस प्रकार का फल प्रदत्त ही देवसत्ता का वास्तविक अर्थ क्रियाकारित्व है।[१४९] यह यज्ञ की प्रक्रिया लोक धर्म के रुप में बुद्ध से पूर्व एवं उनके समय में पूर्णतया जीवित थी। डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन[१५०] ने प्राचीन यज्ञ के संबंध में निम्न विचार प्रस्तुत किये है-

आजकल जैसे वनविहार होते है, लगता है प्राचीन समय में भी उसी प्रकार वन विहार होते रहे होंगे। लोग जंगल में आग जलाते होंगे और अपने पूर्वजों द्वारा रचित ऋचायें तथार 'साम' बडे उल्लास से पढते गात्ते रहे होंगे। उनकी स्मरण शक्ति अदभूत रही होगी और लिपिकरण सुलभ न होने के कारण उनका समय समय पर पाठ करते रहना भी उनके संरक्षण की दृष्टि से भी एक आवश्यक कर्तव्य रहा होगा।

पूर्वजों द्वारा अनुष्ठित, सहज साध्य निर्दोष 'यज्ञ' थे। आगे चलकर ये यज्ञ विकृति की साकार मूर्ति बन गये।[१५१] इस कथन को जी.यी. पाण्डे[१५२] का समर्थन प्राप्त होता है। उन्होंने लिखा है कि यज्ञ का प्रारम्भिक स्वरुप जटिल न था। ऋत्विक के द्वारा देवता की स्तुति परक मंत्र पढे जाते थे और हवि के रुप में विविध धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोमरस अर्पित किये जाते थे। स्वंय पालि पिटकों में बुद्ध ने प्राचीन यज्ञो का उल्लेख किया है। यथा-पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे। और वे शयन, वस्त्र, घी, तेल तथा तण्डुल मांगकर यज्ञ करते थे।[१५३] यज्ञ उपस्थित होने पर वे गाय को नहीं मारते थें ।[१५४] एक आदर्श यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस यज्ञ में भेड, बकरी, गौएं, मुर्गे, सुअर या किसी प्रकार के प्राणी नहीं मारे गये थे।[१५५] यूप के लिए वृक्ष नहीं काटे गये थे। जो भी दास प्रेष्य तथा कर्मकर थे उन्होंने भी दण्ड या भय तर्जित न हो, बिना अश्रुमुख रोते हुए सेवा की थी।[१५६] बुद्ध के समय तक वैदिक यज्ञो ने हिंसक स्वरुप धारण कर लिया था। पालि पिटकों से ज्ञात होता है कि उन दिनों बडे धूमधाम से यज्ञ होते थे। कई दिनों तक यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। पूर्व तैयारी की जाती थी। यूप निर्माण के लिए वृक्ष काटे जाते थे।[१५७] पशुओं को बांधकर यज्ञस्थली की और ले जाया आता था। कभी कभी उस स्थल पर गढ्ढा खोदा जाता था। उसके अन्दर पशुओं को खूंटो से बांध दिया जाता था। यज्ञ देखने के

लिए लोगों की बडी भीड एकत्र होती थी। महायज्ञों में गाय, बछडे, वृषम, बांछिया, बकरे, भेड, सुअर, घोडे, हाथी आदि पशुओं की बलि दी जाती थी। [१५८] कहीं कहीं तो ऐसा भी उल्लेख है कि यज्ञ में सभी प्रकार के प्राणियों की आहुति दी जाती थी। कोई भी बच नहीं पाता। पांच पांच सौ अथवा सात सात सौ की संख्या में पशु पक्षियों की बलि दी जाती थी। [१५९] किन्तु भगवान बुद्ध के मत से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ का प्राचीन रुप अहिसंक था।

पालि निकायों में यज्ञ विपयक जो अतिरंजनापूर्ण विवरण मिलते है उसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि बौद्ध धर्मानुयायी लोग ब्राह्मण धर्म के बहुधा विरोधी थे। दूसरा पशू यज्ञ की विभीषिका बतलाकर सामान्य लोगो को उनसे विरत करना चाहते थे। मदनमोहन सिंह [१६०] ने पशु यज्ञों को उत्तरकालीन प्रथा होना संभव माना है। बुद्ध और महावीर के अविर्भाव काल में भी वैदिक धर्मानुयायी यज्ञ को वैसा ही महत्त्वपूर्ण मानते थे जैसा वैदिक युग के आर्य। कुटदन्त, उग्गतशरीर और कौशल नरेश प्रसेनजित के महायज्ञों के वर्णन से याज्ञिक विधि के अनेक नियमों का उद्घाटन होता है। वैदिक यज्ञो के बारे में डॉ. राधाकृष्णन [१६१] कहते हैं कि उनकी एकमात्र अंपेक्षा थी कि देवताओं की भांति मनुष्य भी अमर हो जाय। वैदिक यज्ञों के स्वरुप पर इस संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त यह प्रासंगिक होगा कि पालि वाङ्मय में भगवान बुद्ध ने 'यज्ञ' के पक्ष, विपक्ष में कौन से विचार व्यक्त किये है।

पुण्णक मानव [१६२] ने बुद्ध से यज्ञ के विषय में निम्नप्रकारं से प्रश्न किया - जिन ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने लोक में पृथक पृथक यज्ञ कल्पित किये क्या वे यज्ञ पथ अप्रमादी थे ? वे जन्म जरा को पार हुए थे ? बुद्ध ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया था - कोई भी देव मनुष्य, ऋषि क्षत्रिय या ब्राह्मण आशसन, स्तोभ, अभिजल्प या हवन करते है वे लाभ के लिये कामों को जपते हैं। [१६३] वे जन्म जरा को पार नहीं हुए। जिसे कहीं तृष्णा नहीं है जो शान्त रागादिक हित, आशा रहित है वहीं जन्म जरा को पार करता गया है [१६४] इससे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ करने के पीछे याज्ञिकों की मुक्ति की अभिलाषा थी। परन्तु बुद्ध ने यज्ञो को मुक्ति का साधन नहीं माना। जो लोग ब्रह्म की सलोकता का मार्ग पूछते थे। उनको बुद्ध ने कहा कि यज्ञ योग ब्रह्म की सलोकता का मार्ग नही है। [१६५] पांच काम गुणो को भोगते हुए, काम के बन्धन में बंधे हुए, काया को छोड मरने के बाद ऐसे व्यक्ति ब्रह्म की सलोकता को प्राप्त होगें ऐसा संभव नहीं है। [१६६] बुद्ध ने स्वंय जो मार्ग बताया वही वास्तव में ब्रह्म की सलोकता का मार्ग है। [१६७] और वह है चार आर्य सत्यों का मार्ग। चार आर्य सत्यो की भांति उन्होंने ब्रह्म की सलोकता के मार्ग के विषय में कहा है कि वे ब्रह्म जानते है, ब्रह्म लोकों को जानते है। ब्रह्मलोक प्रतिपद को जानते है तथा मार्गारुढ होने से ब्रह्मलोक को भी जानते है। [१६८] ब्राह्मण परंपरा की

बात को उन्होने श्रमण पंरपरा की शद्बावली का रंग देकर ब्रह्मवाद की जो उदारवादी व्याख्या की उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध ने वैदिक संस्कृति के नित्तान्त विरोध का दृष्टिकोण न अपनाकर उसके ग्राहय तत्त्वों को ग्रहण करने की ओर भी अपना हाथ बढाया। परन्तु जो लोग हिंसक यज्ञ करते थे उनके विषय में उन्होंने स्पष्ट कहा कि त्रैविद्य ब्राह्मण बे रास्ते जा फंसे है। फंसकर विषाद को प्राप्त हो रहे है। सुखे में मानों तैर रहे हैं। इसलिए उनकी विद्या वीरान भी कही जाती है, विपिन भी कही जाती है (और) व्यसन भी कही जाती है।[१६९] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध ने हिसंक यज्ञो को मुक्ति का मार्ग स्वीकार नहीं किया। अधोलिखित एक अन्य संवाद से भी यज्ञ के संबंध में भगवान बुद्ध के विचार स्पष्ट होते हैं-

पुराने समय में महाविजेता[१७०] नाम के राजा ने अपने पुरोहित से पूछकर यज्ञ किया था। उस समय जितने भी ऐसे लोग थे जो पशु पालते थे, या खेती करते थे उन्हें राजा ने खाने को दिया ओर खेती में बीज बोने के लिए भी दिया। व्यापार करने वालों को पूंजी दी गई तथा राज्य के कर्मचारियों को भोजन तथा वेतन दिया गया। इस यज्ञ में सभी प्रकार के लोग आये। उसमें किसी प्रकार की जीव हत्या नहीं हुई। कोई यज्ञ करना ही चाहते हैं तो महाविजित राजा के समान करना चाहिए। इस यज्ञ से भी महान फलदायी यज्ञ वह है कि मनुष्य श्रद्धा युक्त होकर जीव हिंसा से विरत रहने का संकल्प करे। चोरी, काम भोगों में मिथ्याचार, झुठ बोलना तथा सूरामेरय मद्य आदि से विरत रहने का संकल्प करें। ऐसा यज्ञ ही सबसे महान फलदायी होता है। इसका फल विहारादि बनवाने निरन्तर त्रिशरण ग्रहण करने से भी श्रेप्ठतर होता है।

भगवान बुद्ध के यज्ञ विषयक उपयुक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे हिंसात्मक यज्ञों को अकुशल कर्म मानते थे। जिन पांच शीलो[१७१] को बुद्ध ने वैदिक यज्ञ की अपेक्षा महान फलदायी माना वे पांच कुशल कर्मो से भिन्न नहीं है। हिसंक यज्ञो द्वारा मुक्ति की संभावना का बुद्ध ने स्पष्ट अस्वीकार किया। चार्वाक एंव जैन दर्शन ने भी ऐसे यज्ञ को मुक्तिका साधन नहीं माना। इस प्रकार धार्मिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में विचार करने पर प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध ने पुराने हिंसापरक एंव रुढीग्रस्त धर्म की जडे हिलाने का भरपूर प्रयत्न किया। साथ ही जैन धर्म ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। जैनों के अहिंसा सिद्धान्त से पूर्णतः प्रतिकूल वैदिक यज्ञों का उनके द्वारा विरोध होना सर्वथा स्वाभाविक बात थी।

पृ. ११ पर धर्म शद्व का विचार करते समय स्पष्ट किया गया है कि धार्मिक क्रिया एवं धारण करना तथा पालना (अर्थात मनुष्य समाज की धारणा) ही धर्म का

अभिप्राय है। प्रत्येक धर्म की पारलौकिक मान्यताएं होती है, तथा उसके अनुरुप ही उसका व्यावहारिक पक्ष भी होता है। फिर भी जीवन एक है और इसमें पारलौकिक और ऐहिक का कोई भेद नहीं है। [१७२] जहां सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुचनें के लिए प्रशिक्षण दिया जाय, वहां इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य, इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है, जिसमें जनसमुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके जो सबकी भलाई और शान्ति के अनुकूल हों। क्योंकि ये दशाएं प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतंत्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती है । [१७३]

इन विचारों की पृष्ठभूमि पर वैदिक समाज रचना का विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि उस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन और स्वतंत्रता की सीमा कहां तक है।

सामाजिक पृष्ठभूमि

तत्कालीन स्थिति-

ऊपर के पृष्ठों में बुद्ध पूर्व एवं उनके समकालीन, ऐतिहासिक, वैचारिक एंवं धार्मिक स्थिति का विहंगमावलोकन किया गया है। इन्हीं संदर्भो में हमें सामाजिक परिस्थितियों का भी दिग्दर्शन मात्र करना है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य का सृजन समाज में और सामाजिक एंव जागतिक संदर्भो में ही होता है। कला के लिए कला या जीवन के लिए कला ऐसी भी मान्यता साहित्यिक जगत में है। फिर भी सर्वप्रथम जीवन के महत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। रोटी का सिद्धान्त भी जीवन के महत्त्व को स्वीकार करता है। मार्क्स से ढाई हजार वर्ष पहले ही बुद्ध ने कहा था "सब्बे सत्ता आहारटिठता"। व्यक्ति जीने के लिए जो भी साधन तथा मार्ग अपनाता है, उसे उसमें जिन कठिनाईयों का सामना करना पडता है, उनके हेतु, कारण व परिणामों के स्वरुप पर विचार चिन्तन करना अनिवार्य हो जाता है। व्यक्तियों के समूह को ही समाज कहा जाता है। कोई व्यक्ति अकेले ही जीवन में सफल नहीं होता। उसे अन्य अनेकों की सहाय्यता की आवश्यकता होती है तथा अनेकों की सहाय्यता से ही वह यशस्वी होता है। अपने समय की नैसर्गिक परिस्थितियों से लडकर जो समुदाय स्थिर होता है वह अपनी विचारशक्ति से अन्य कलाओं का विकास करता है। फिर साहित्य में उनके मन के भाव, विचार, प्रेरणा एवं परंपरा आदि सब का चित्रण किया जाता है। साहित्य उनके ज्ञान, कला एवं तत्त्वज्ञान का एक खजाना या साधन होता है। अतः जीवन

सिद्धान्तों की चर्चा कोरे बुद्धिवाद से न करते हुए उसमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का भी विचार करना अत्यावश्यक होजाताहै।

मार्क्स ने कहा था कि प्रत्येक समस्या का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि किसी गोचर पदार्थ या तत्त्व का जन्म इतिहास में किस प्रकार हुआ और अपने विकासक्रम में इस तत्त्व ने कितने क्रमों को पार किया। तब उसकी प्रगति के दृष्टि कोण से हमें भी परीक्षा करनी चाहिए कि उस तत्त्व का आधुनिक रुप क्या है? [१७४] इस कथन को ध्यान में रखकर ही बुद्ध के मन्तव्यों का सही अर्थ लगाया जा सकता है। भरतसिंह उपाध्याय के मतानुसार कोई भी दर्शन प्रणाली चाहे कितनी भी विश्वजनीन क्यों न हो सामाजिक परिस्थितियों से ही उद्भूत होती है। [१७५] दर्शन मस्तिष्क की उपज है। फिर हाडमांस से- निर्मित मनुष्य शरीर और मनुष्य समाज का उस पर क्या बस है? (हां है !) जिस प्रकार सजीव आंख की वास्तविकता शरीर से अलग निकालकर देखने से नहीं मालूम हो सकती, उसी प्रकार दर्शन को समझने में भी हमें उसे उसके जन्म और कार्य की परिस्थितियों में देखना होगा [१७७]

बुद्ध के पूर्व तथा उनके समकालीन आचार्यो के विचारों की पृष्ठभूमि पर निर्मित समाज व्यवस्था का विचार कर लेना उचित होगा । वैदिक व्यवस्था की निन्मलिखित विशेपताएं थी।

वर्णवाद

वर्णवाद के कारण समाज मे चार क्रमिक असमान वर्गो की स्थापना हुई थी। सामाजिक स्तर, अधिकार एवं सुविधाओं के विपय में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र उनसे क्रमशः निम्न से निम्नतर माने जाते थे। शूद्रों का अधिकार और कर्तव्यों के रुप में सब कुछ उससे उच्च, उच्चचतर एवं उच्चतम इन त्रिवर्णों की सेवा करना था। सुविधा के रुप में सेवा का पारिश्रमिक अथवा अन्यों का उच्छिष्ट ही उसको प्राप्य था। इसके कारण समाज में वर्ग संघर्ष उत्पन्न होने की संभावना थी। वैसा संघर्प उत्पन्न न हो सके और इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को शाश्वत स्थायित्व प्राप्त हो सके, संभवतः इसी लक्ष्य से वेदों के अंतर्गत अर्थात उनके द्वारा तथाकथित रुप से निर्मित व्यवस्था को अपौरुपेय कहकर उस संघर्प को बुद्ध एवं महावीर से पूर्व सहस्र वर्षो के लिए टाला गया। प्रथमतः यह व्यवस्था गुण कर्मो के आधार पर स्थापित हुई थी। परन्तु कालान्तर में इसने जातिवाद का रुप ले लिया, ऐसा कतिपय विद्वानों का कथन है। बुद्ध के समय में वह निश्चित रुप में जातिवाद के रुप में विद्यमान थी। उपयुक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भगवान बुद्ध ने अपने सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर उस व्यवस्था के बारे में जो विचार व्यक्त

किये उसका कर्म सिद्धान्त की दृष्टि में परीक्षण एवं उसकी अनरुपता निम्नानूसार थी —

संसार के सभी देशों में आचरण के आधार पर समाज में अच्छे बुरे, श्रेष्ठ, कनिष्ठ, उच्च तथा नीच आदि वर्गवर्ण-भेदों का जन्म हुआ। सुसंस्कृत समाज में जीवन के ऐसे मापदण्ड निर्धारित हुए जिससे मानवीय व्यवहार में सामाजिकता तथा सुव्यवस्था आ सके। वैदिक आर्यों ने वेदों का सृजन करके अपनी सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों में परिकल्पित की। यह व्यवस्था निर्माण करने के पीछे निर्माताओं का क्या उद्देश्य था यह यहां पर उतना विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है, जितना कि उस व्यवस्था विशेष से निर्माण होनेवाले गंभीर प्रश्न तथा उत्पन्न होने वाली परिस्थिति।

ऋग्वेद काल में समाज का विभाजन आर्य और दास इन दो वर्गों में था। स्वयं आर्यों में कोई पक्के विभाग नहीं थे। १७८ ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनुल्लघंनीय समूहों में विभक्त हो चुके थे।[१७९] कालांतर में इन चारों वर्णों के द्वारा मूल जातीय भेदों का अवक्रमण कर दिया गया।[१८०] पंतजलि ने ब्राह्मण राजाओं और मनु ने शूद्र शासकों का उल्लेख किया है।[१८१] उपरोक्त बातों से स्पष्ट होता है कि बुद्धपूर्व काल में वर्ण वाद उस विकृत रुप में प्रचलित नहीं था जो कालान्तर में हो गया। भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का विभाजन समाज व्यवस्था के लिए निर्मित चतुवर्ग के समान था। व्यक्ती विशेष चाहे तो युनान के आर्य तथा दास की भांति अपने मनोनुकूल वर्ण का सदस्य बन सकता था।[१८२] ब्राह्मण युग तक आते आते भगवान बुद्ध के आविर्भाव काल में इस वर्ण व्यवस्था ने जातिवाद का रुप ले लिया था ऐसा त्रिपिटकों से ज्ञात होता है। वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य अतीत में चाहे जो कुछ रहा है परन्तु हुआ यह कि एक ओर तथाकथित स्वयं प्रतिष्ठित उच्च वर्णो में मिथ्या अभिमान और दूसरी ओर तथाकथित निम्न वर्णो का तिरस्कार होने लगा।[१८३] शूद्रों के संबंध में मनु की दुर्भाग्यपूर्ण उक्तियां संभवतः उसके बौद्ध धर्म विरोधी रुख से प्रेरित थी।[१८४] कालान्तर में परिस्थितियों के वशवर्ती बने हुए कर्मकर वर्गो में स्वयं को निम्नवाहीन समझने की विपरीत और पतनकारी भावना ने घर कर लिया। जातक निदान कथा में कहा गया है कि बुद्ध ने मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करने से पूर्व किस कुल में जन्म ग्रहण करना चाहिए इस बात पर विचार करते समय सभी वर्णो के गुणावगुण पर चिन्तन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि क्षत्रिय कुल ही सर्वसम्मत है, जिसमें उन्हें जन्म लेना चाहिए।[१८५] महावीर को देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश करने पर अपनी भूल ज्ञात हुई तो वे त्रिशलानाम की क्षत्रियाणी के गर्भ में प्रविष्ट हो गये।[१८६] श्रमण संस्कृति के ज्योतिपुंजो की ऐसी घोषणा या विश्वास करने का कारण, वे जातिवाद मानते थे

ऐसा नहीं है। इससे केवल यही प्रतीत होता है कि उन्होने तथाकथित ब्राह्मणी समाज व्यवस्था एवं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध अपना विद्रोह अभिव्यक्त किया।

बुद्ध के समय में पौरोहित्य कर्म को ही ब्राह्मणों ने सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। क्योंकि उनका कार्य ही यज्ञ-याग करना था। वे राजा से स्वंय या श्रेष्ठी से यज्ञ कराते थे। वे अपने आपको ही ज्ञान साधना या आध्यात्मिक उन्नति करने के हकदार समझते थे। पौरोहित्य कृत्य को वंशपरंपरा से ब्राह्मण ही कर सकते थे। जातिगत कर्म के कारण उच्च-नीच की भावना केवल दो भिन्न वर्णो के सदस्यों तक ही सीमित्त नहीं थी।[१८७] शाक्य वंशीय क्षत्रियों ने प्रसेनजित के साथ एक शाक्य कुमारी का विवाह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना था।[१८८] प्रसेनजित राजा क्षत्रिय होने के कारण अपने आधीनस्थ ब्राह्मण पोक्खसाति के साथ बाते करते, तो दोनों के बीच पर्दा लगाया जाता था [१८९] इस प्रकार जातिवाद की जडे भारतीय समाज में बुद्धकाल तक बहुत गहराई तक पहुंच चुकी थी। सामाजिक विषमता की ऐसी तत्कालीन पृष्ठभूमि में बुद्ध के सामाजिक समता के सिद्धान्त निश्चित ही महान थे।

बहुत से विद्वान प्रायः ऐसा समझते हैं कि बुद्ध ने आध्यात्मिक पथ अथवा निर्वाण-मार्ग का उपदेश केवल भिक्षुओं के लिए दिया, और सामान्य लोगों की उपेक्षा की। परन्तु संबोधि के बाद बुद्ध ने भिक्षुओं को जो उपदेश दिया, उससे ऐसी मान्यता निराधार सिद्ध होती है। उन्होंने सोचा कि जनता आसक्ति में रत है। यदि इस जनता के लिए मेरे विचार दुर्बोध हुए तो यथार्थ सत्य को पाने के लिए जितना भी परिश्रम किया वह सब व्यर्थ चला गया।[१९०] इस विचार का बुद्ध के मन में आना, इस बात का प्रमाण है कि वे उस चर्चा को व्यर्थ समझते थे, जो जनता के हित का साधन न बन सके।[१९१] प्रथम प्रवचन में ही उन्होंने भिक्षुओं को संबोधित करके उनके लिए जनहित एवं जन-कल्याण की भावना से घर घर और गावं-गांव विचरना, व नगर नगर घुमना आवश्यक कर्तव्य ठहराया।[१९२] बुद्ध ने दोनों प्रकार की समता के उपदेश दिये है। एक निर्वाण मार्ग की समता एवं दूसरी सामाजिक समता।

बुद्ध ने कहा था हे भिक्षुओं! जिस प्रकार महानदियां सागर से मिलकर एकाकार हो जाती है, उसी प्रकार चारों वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म में नियमानुसार प्रव्रजित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण था, अमुक वंश था। उनकी एक मात्र संज्ञा रह जाती है श्रमण।[१९३] डॉ. मदन मोहनसिंह के अनुसार उनके ये विचार वास्तविकता के द्योतक है।[१९४] इसमें ब्राह्मण वर्ण का भी विशेष विरोध दिखाई नहीं देता। क्योंकि इस बात से सामाजिक व्यवहार में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। इससे प्रतिष्ठित ब्राह्मण वर्ण का कुछ भी अहित नहीं था। और सामाजिक व्यवस्था यथावत बनी रहने से ऐसी बातो में, वे कुछ विशेष

विरोध नहीं करते थे। जिन व्यक्तियों को जाति के नाम पर अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने की मनीषा थी, वह पूरी होने में कोई रुकावट नहीं थी। इसका उपदेश देना तथा उस पर विश्वास करना आसान था। फिर भी इस बात का प्रभाव कुछ ना कुछ मात्रा में अवश्य ही पडा। इसलिए कई ब्राह्मणों ने इसका भी विरोध किया। बुद्ध ने आध्यात्मिक उन्नति कर सकने के पक्ष का एवं सामाजिक व्यवहार में भी समता का पालन करने का उपदेश दिया है। इहलोक के अनुरुप ही हमारा परलोक होना चाहिए, तभी हम उसको प्राप्त कर सकते हैं। हम अपने व्यवहारिक जीवन में ही विषमता का व्यवहार करेंगे तो मन में द्वेषभाव जागृत होगा। मत्सर बना रहेगा। ऐसे व्यक्ति का चित्त कभी एकाग्र नहीं हो सकेगा। इसलिए यह अनिवार्य है कि हम मानवीय भ्रातृभाव को बढाये। जातिगत उच्च-नीचता के व्यवहार से यह सब असंभव था। सब प्राणियों के कल्याण की भावना करने वाले ज्ञानेश्वर जब कहते है कि शूद्रों के घर में ब्राह्मण को भोजन नहीं करना चाहिए[१९५] तब क्या वे शूद्र को प्राणी नहीं समझते होगें। अन्यथा सब प्राणियों में शूद्र की गिनती होनी चाहिए थी।

समाज में जब केवल वर्णवाद मात्र प्रचलित था और ब्राह्मण युग आते आते उसने जातिवाद का रुप ले लिया, तब तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मणों ने उस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह क्यों नहीं किया? अगर यह माने कि यह व्यवस्था वैदिकों ने अपने स्वार्थ के लिए लागू नहीं की थी, परन्तु ब्राह्मण युग में वह विशिष्ट वर्ग का स्वार्थ साधन बन गई तब उस दशा में किसी ब्राह्मण विचारक ने स्वंय अपनी जाति का विरोध क्यों नहीं किया? इस प्रसंग में बुद्ध का कथन है कि यदि ब्राह्मणों ने ऐसी व्यवस्था की है कि वेदों का अध्ययन, अध्यापन, ब्राह्मणो का कर्म है, राजत्व क्षत्रियों का, कृषि-वाणिज्य वैश्यों का तथा सेवाकार्य शूद्रों का तो इस व्यवस्था को अकाट्य क्यो मान लिया जाय।[१९६] बौद्ध दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ साधन के लिये समाज पर लाद दी गई।[१९७] बुद्धोपदिष्ट मार्ग में सभी पथिकों की समता के सिद्धान्तानुसार साधक को उच्च वर्णो जैसा सम्मान भिक्षु बनने से स्वाभाविक रुप से प्राप्त हो सकता था। दूसरी ओर जो सन्यासी नहीं है और न बन सकते है उनके लिए भी बुद्ध ने निर्वाण-मार्ग और सामाजिक समता दोनों की शिक्षा व उपेदश दिये है। यह स्पष्ट हो सकेगा कि बुद्ध किन किन संदर्भो में सामाजिक समता की अपेक्षा रखते थे।[१९८]

अश्वलायन सुत्त [१९९] में ब्राह्मणो की श्रेष्ठता का पक्ष बुद्ध के सामने रखा गया है। ब्राह्मण ही उंचे वर्ग के है, ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, शूचिता का वास केवल ब्राह्मणो में ही है, केवल वे ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उसके मुख से उत्पन्न उसके रचे हुए पैदा किये हुए तथा उसके एक मात्र उत्तराधिकारी है। बुद्ध ने उनको हतप्रत करने वाला उत्तर देते हुए कहां- ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां भी ऋतुमति गर्भधारण करती

और सन्तान प्रसव करती हुई देखी जाती हैं।[२००] जब अन्य की भांति ब्राह्मण भी माता की कुक्षि से ही उत्पन्न होते हैं तब वे ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कैसे माना जा सकता है। ब्राह्मणों की पत्नियां ब्रह्मा नहीं हो सकती। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण दुसरे वर्णो की भांति स्वाभाविक मानव संतान ही है। इसलिए वे जन्म से श्रेष्ठ या उंच्च नहीं हो सकते।

दूसरा प्रश्न था कि यह व्यवस्था यदि आदर्श है तो यह सब देशों में क्यों नहीं।[२०१] क्योंकि यवन और कंबोज देशो में दो ही प्रकार के वर्ग होते हैं - एक आर्य एवम् दूसरा दास। एक आर्यदास बन सकता है तथा एक दासआर्य।[२०२] इससे भी स्पप्ट होता है कि ब्राह्मणों द्वारा संस्थापित वर्ण व्यवस्था स्वाभाविक नहीं थी।

वासेट्ठ[२०३] के साथ जब बुद्ध की चर्चा हुई तो उन्होंने ब्राह्मणों का पूर्वपक्ष रखकर कहा था कि उनका सामाजिक स्तर श्रेष्ठ है। इसी प्रकार एसुकारि ब्राह्मण[२०४] ने भी कहा था कि उनका समाज में सर्वोपरि स्थान है, इसलिए वे किसी की सेवा नहीं करेंगे। इस समय भी बुद्ध ने अपना पूर्वमत, जो उन्होंने अश्वालायन के समक्ष रखा था, उसे ही दुहराया।

एसूकारि ब्राह्मण ने दूसरा सिद्धान्त यह रखा कि व्यक्ति के स्तर का विचार करते समय उसकी वंश परंपरा का भी विचार क्यों न किया जाय।[२०५] इस पर बुद्ध ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया - जहां तक वंश परंपरा का प्रशन है, एक व्यक्ति जिस वंश में जन्म ग्रहण करता है, उससे उसका नामकरण मात्र होता है कि अमुक व्यक्ति ने ब्राह्मण वंश में क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वंश में जन्म लिया। जिस प्रकार के इंधन से आग उत्पन्न होती है, उसी प्रकार वंश परंपरा से उसका नामकरण मात्र अथवा उसकी सामाजिक पहचान स्थापित होती है। जैसे कि यह लकडी की अग्नि है, यह चेली की, यह लकडी की गाठं की ओर यह गोबर की अग्नि है। इसी प्रकार आदमी के जन्म लेने से, उसकी चारों में से किसी एक वर्ण में गिनती मात्र होती है।[२०६] न वंश परंपरा से, न अच्छी शक्ल होने से, और न धन से कोई आदमी अच्छा या बुरा होता है। अच्छे वशं में उत्पन्न हुआ आदमी भी हत्यारा होता है, चोर होता है, व्यभिचारी होता है, झूठा होता है, चुगलखोर होता है, कठोर बोलनेवाला होता है, बकवास करनेवाला होता है, लोभी, द्वेपी और मिथ्या दृष्टिवाला होता है। अच्छे वंश में उत्पन्न होनेवाला आदमी इन दोषों से मुक्त भी हो सकता है।[२०७]

एसुकारी ब्राह्मण का तीसरा प्रशन प्रत्येक व्यक्ति की जीविका या पेशे के विषय में था।[२०८] ब्राह्मण चार प्रकार के जीविका के साधनों का विधान करते हैं यथा-ब्राह्मणों के लिए भिक्षा, क्षत्रियों के लिए तीरकमान, वैश्यों के लिए व्यापार तथा पशुपालन और शूद्रो के लिए बैहंगी पर धान ढोना। यदि इनमें से कोई अपना पेशा छोडकर

दूसरों का पेशा अपनाता है तो यह उसके लिए ठीक नहीं। तब बुद्ध ने पूछा कि क्या आपकी इस व्यवस्था को सारा संसार मानता है ?[२०९]

मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र[२१०] ने महाकात्यायन से इसी विषय में प्रश्न किया था, तब उन्होंने वही उत्तर दिया जो बुद्ध ने एसुकारी ब्राह्मण को दिया था। इस प्रसंग के संदर्भ में वियोगी जी[२११] का मत है कि इसमें वर्ण वाद का खण्डन नहीं है। यह तो प्रव्रज्या की ओर लोगों को आकर्षित करने का प्रयत्न है। समाज में अगर सम्मान या उच्चता पानी हो तो सन्यास से ही पायी जा सकती है।परंतु इस सुत्त का परीक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह विषय पूर्णतः सामाजिक है। औपचारिकता वश प्रव्रज्या का प्रश्न दूसरे प्रश्नों के साथ आ गया है। वर्ण विभाग के अनुसार गुणों का विभाजन नहीं है।[२१२] व्यक्तियों की बुराई या अच्छाई का विभाग वर्णानुक्रम से नहीं हो सकता।

प्राणियों में जाति होती है

इच्छा नंगल में वासेट्ठ को बुद्ध ने बताया था कि जिस प्रकार प्राणियों में पृथक लिंग होते हैं, वैसे मनुष्यों में नहीं। मनुष्य में केवल संज्ञा का भेद है।[२१३] यदि एक क्षत्रिय एक ब्राह्मण कन्या से सहवास करे तो संतान मानव सन्तान होगी अथवा उन दोनों के संयोग से कोई पशु जन्म लेगा? इसका आश्वलायन के पास कोई उत्तर न था।[२१४]

इससे स्पष्ट होता है कि मानव मानव सब समान है। कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र वे सबसे पहले मानवप्राणी हैं। वर्ण व्यवस्था का विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने भी कोई नयी कसौटी वर्ण व्यवस्था के संबंध में नही रखी, पुरानी कसौटी को ही स्वीकार कर लिया।[२१५] यदि वर्ण व्यवस्था को रहना है तो वह गुणात्मक दृष्टि से पूर्णतः प्राप्त करे और उसी धरती पर रहे, जिस धरती पर आर्य ऋषियों ने उसे टिकाया था। यदि वह ऐसा नहीं कर सकती तो उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं।[२१६]

ब्राह्मण साहित्य में समता के विपरीत जो संदर्भ पाये जाते है, उस संबंध में भरतसिंह उपाध्याय ने कहा है कि अपशूद्राधिकरण में शूद्रों के लिए कुछ भी आश्वासन भगवान बादरायण ने नहीं दिया।[२१७] शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं है। वह संस्कार के योग्य नहीं है, वेद पढना उसके लिए वर्जित है इन बातों में बादरायण, शंकर और रामानुज में कोई अन्तर नहीं है।[२१८] बुद्ध ने वर्णवाद की उत्पत्ति के संबंध में शूद्रों के विषय में नीच शद्ब का प्रयोग नहीं किया है।[२१९] क्षुद्र आचार (कार्य) वाले लोग शूद्र कहलाये बस ऐसा कहा है। ना ही उन्होंने शूद्रो को वेद पढने से रोका है और न उन्हें आध्यात्मिक उन्नति के लिए असमर्थ बतलाया। इसी एक प्रसंग से हम यह

अनुभूति कर सकते हैं कि छठी शताद्वी ई.पू. समाज को भगवान बुद्ध ने क्या दिया था और उसका क्या महत्त्व था ? [२२०] ।

आज भी हम इस बात को अनुभव करते हैं कि भारत में जातिवाद भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्ष का रुप लेकर सभी क्षेत्रो में अपना कुप्रभाव दिखा रहा है और बहुसंख्यक समाज आज इस व्यवस्था को वेदों की तरह तर्कातीत मानता है।[२२१]

अवैदिक परंपरा में साख्यं दार्शनिक कपिलमुनि ने सामाजिक संरचना या व्यवस्था के विषय में कोई मौलिक विचार नहीं दिये। कपिलमुनि के समान कोई दूसरा तत्त्व गणवेषक नहीं हुआ तथा बुद्ध के समान वैयक्तकि सामाजिक जीवन का शास्ता (दूसरा) कोई नहीं हुआ।[२२२]

अब बुद्धकालीन आचार्यो का विचार करें - समकालीन आचार्यो में भगवान महावीर को छोडकर अन्य आचार्यो ने सामाजिक व्यवस्था के संबंध में उदासीनता ही दिखलाई। पकुध कच्चायन के विचारों के अनुसार कोई किसी का हित-अहित, हानि-लाभ कुछ भी करे, परन्तु उससे पाप-पुण्य जैसे बंधन या भविष्य परिणाम उत्पन्न नहीं होते। मक्खलि गोसाल के मतानुसार व्यक्ति भाग्य का खिलौना मात्र है।[२२३] केस कंबलि के मार्ग का विचार करें तो व्यक्ति पशुओं की भांति केवल जीयेगा किन्तु उसमें मानवीय सेवा का कोई आदर्श नहीं होगा। संजय बेलाटिठ्पुत्त के मत से व्यक्ति का जीवन सर्वथा निरुद्देश्य है।[२२४] इस प्रकार इन आचार्यों के सिद्धान्तों में सामाजिक जिम्मेदारी का कोई तत्त्व दिखाई नहीं देता।

जैन धर्म के अनुसार भगवान महावीर के पूर्व २३ तीर्थकर होने की मान्यता है। उनका विचार धन महावीर को विरासत में प्राप्त था। परन्तु जिस प्रकार से उपनिषदों के बहुत से ऋषियों के सामाजिक जीवन मूल्यों एंव सिद्धान्तों को जानना शक्य नहीं है, उसी प्रकार पूर्व तीर्थकरों का सामाजिक चिन्तन तथा उससे संबंधित विचार उपलब्ध नहीं होते। केवल तपस्वियों के रुप में ही उनका परिचय हमें प्राप्त होता है। फिर भी उनके उत्तराधिकारी महावीर के सामाजिक चिन्तन से हम बलपूर्वक कह सकते है कि उन्हें सामाजिक समता अवश्य अभिप्रेत थी।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर बुद्ध तथा महावीर के संबंध में ऐसा कहा जा सकता है कि जितनी मात्रा में महावीर ने यज्ञ का विरोध किया उतनी मात्रा में उतने ही बलपूर्वक वर्णवाद का नहीं। बुद्ध ने जिस उग्रता से वर्णवाद के विरुद्ध आवाज उठाई उसी दृढता व उग्रता के साथ महावीर ने नहीं। चातुर्वर्ण समाप्त हुए तो ब्राह्मण्य ही समाप्त होगा। ब्राह्मण की समाज में श्रेष्ठता और पूज्यता नष्ट होगी। यह बात ब्राह्मणोंके मस्तिष्क में आयी इसलिए ही उन्होंने बुद्ध का जितना कडा विरोध किया उतना महावीर का नहीं। दूसरी और हम यह भी देखते हैं कि महावीर ने समता, निरीश्वरवाद तप एवं संयम को व्यक्तियों के दैनंदिन जीवन में प्रतिष्ठित करके

बुद्ध के विचारों को केवल पृष्ठभूमि मे ही रहने नहीं दिया, अपितु सामाजिक आचार, व्यवहार और व्यवस्थाओं में भी उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। जैन धर्म श्रमण संस्कृति का जन्मदाता है।[२२५] कर्म के आधार पर महावीर ने भी वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया था परन्तु यह आधार बहुत समय तक टिक नहीं सका। जिनसेन के आते आते जैन धर्म ने चातुर्वर्ण व्यवस्था को दबी आवाज में स्वीकार सा कर लिया।[२२६]

तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में भगवान बुद्ध के विचारों का आकलन

मुक्तिया परमार्थ का विचार करते समय व्यवहार पक्ष की बहुधा उपेक्षा की जाती है। जहां तक बौद्ध धर्म का प्रश्न है वह व्यवहार के सहारे ही परमार्थ को संभव मानता है। इस बात का समर्थन जी.सी.पाण्डेय[२२७] के इस मत से भी होता है कि सद्धर्म न कोरी दार्शनिक मीमांसा थी, न कोरी साधनचर्या, अपितु यथा कदाचित व्यवहार के सहारे परमार्थ की ओर संकेत था। भदन्त आ. कौसल्यायन[२२८] का मत इस प्रसंग में विचारणीय है। वे कहते हैं, बौद्ध दृष्टिकोन से ऐसा मान लिया जाता है कि जिसका इहलोक (व्यवहार) ठीक है, उसका परलोक भी ठीक है, परन्तु जिसका इहलोक पर ही भरोसा नहीं उसके परलोक का भी क्या ठिकाना। संभवतः इसी दृष्टि से विचार करते हुए कहां गया है कि शूद्र के प्रति जिसकी निश्चयतः घृणा बुद्धि है, वह जीवन-मुक्ति का क्या अनुभव करेगा, कुछ समझ में नहीं आता, साध्य और साधन की, मोक्ष और उसके मार्ग की जैसी संगति बौद्ध दर्शन में है, अभेद की निष्ठा समाज की शिराओं को व्याप्त करने वाली निष्ठा उन अद्‌भूत वेदान्तज्ञ के धर्म में है, उसकी शतांश भी ब्रह्मसूत्रों में नही मिलती, जिसका उदाहरण है 'अपशूद्राधिकरण'।[२२९] वैदिक ऋषियों के प्राचीनतम व्यवहार जिसमें समाज का द्विधा वर्गीकरण था।[२३०] उसी को चरितार्थ करते हुए भगवान बुद्ध ने जो विचार रखे उसी का प्रतिपादन कुछ आधुनिक मान्यताओं को लेकर आगे किया जा रहा है।

वैदिक व्यवस्था के संबंध में तिलक[२३१] ने कहा है कि पुराने जमाने में ऋषियों ने श्रम विभाग रुप चातुर्वर्ण संस्था इसलिए चलाई थी कि समाज में सब व्यवहार सरलता से होते जावें। अब विचारणीय प्रश्न है कि जिन देशों में वर्ण व्यवस्था नहीं थी उन देशों के व्यवहार क्या सरलता से नहीं चलते थे ? बुद्ध ने भी कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था स्वीकार की है ऐसा त्रिपिटकों के आधार पर भले ही सिद्ध होता है परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में वैदिक ऋषि मानते थे। क्योंकि उन्होंने सब कार्यों का पूर्वगामी मन को ही माना है।[२३२] परन्तु मन की अवस्थायें दो क्षण भी एक नहीं रहती।[२३३] व्यक्ति का मन जब बदलते रहता है तो उसकी रुचियां भी बदलती हैं। रुचि बदलने से मनुष्य जीविका के साधन और व्यवसाय भी बदल सकता है, बदल लेता है।

प्राचीन काल के भी कई उदाहरण हमारे सामने आते हैं।[२३४] और एक व्यक्ति एक ही जीवन में ऐसा कई बार या अनेक बार कर सकता है। ऐसी अवस्था में उसका अपना कोई एक वर्ण नहीं रह सकता।

वर्णवाद तथा श्रम-विभाजन

कई मनीषियों का कथन है कि यह वर्ण व्यवस्था श्रमविभाग का ही दूसरा नाम है। ब्राह्मणों के लिये ज्ञान संपादित करना, शूद्रों के लिये अन्य त्रैवर्णिकों की सेवा करना। क्षत्रियों के लिए तीरकमान चलाना और वैश्यों के लिए व्यापार करना। अग्गञ्ञसुत्त[२३५] में बुद्ध ने वर्णवाद की उत्पत्ति के संबंध में कहा कि उचितानुचित का ठीक से अनुशासन करने के लिये महाजनों ने पारस्परिक सहमति से 'महासम्मत' ऐसा पद निर्माण किया।[२३६] फिर वह क्षेत्रों का अधिपति होने से 'क्षत्रिय' और धर्म द्वारा दूसरों का रंजन करने के कारण 'राजा'[२३७] कहा जाने लगा। प्राणियों में पाप धर्म प्रादुर्भूत हुए उन्हें अपनी जीवन की शुद्धता से बहा देने वाले लोगों का एक वर्ग निर्माण हुआ जिन्हें 'ब्राह्मण'[२३८] कहा गया। जो वन में ध्यान करते थे वे 'ध्यापक'[२३९] और गावों के किनारे रहकर ग्रन्थ रचना करते थे वे 'अध्यापक'[२४०] कहे जाने लगे इस प्रकार ब्राह्मण प्रकट हुए। मैथुन कर्म करके नाना प्रकार के उद्योगों में लगने वाले व्यक्ति 'वैश्य'[२४१] कहलाये। क्षूद्र आचार करने के कारण कुछ व्यक्ति शूद्र [२४२] कहलाये। वर्णों की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त पूर्णतः व्यावहारिक प्रतीत होता है। ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णवाद की वकालत करते थे उस काल्पनिक सिद्धान्त की अपेक्षा भगवान बुद्ध का मत व्यावहारिक एवं समाधान कारक प्रतीत होता है। दूसरा प्रश्न यह है बुद्ध ने वर्णों की जो उत्पत्ति बतलाई उसमें यह नहीं कहा गया कि वे जीवन भरा या अल्प समय के लिए अपने पेशों में लगे रहेंगे। इस संबंध में उन्होंने कोई नियम नहीं बताया।बुद्ध के विचारों से ज्ञात होता है कि वे व्यक्तियों के व्यवसायों अथवा आजीविका के उपायों को आजन्म स्थायी अथवा अपरिवर्तनीय नहीं मानते।

ऊपर ऊपर से देखने पर लगता है कि प्राचीन वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की ही एक प्रणाली थी। परन्तु गहराई से सोचने पर ऐसा मत भ्रांतिपूर्ण सिद्ध होता है। इस व्यवस्था के अनुसार ऊपर के तीन वर्णों द्वारा शूद्रों को आश्रय देने के लिए तत्पर रहने पर उसे धन संग्रह करने, शस्त्र चलाने या विद्यार्जन करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? उसे जब जैसी आवश्यकता होगी, अन्य वर्णों के लोग सब कार्यों में स्वैच्छिक रुप से उसकी सहायता करेंगे। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ और तथाकथित उच्च त्रिवर्णों द्वारा संरक्षण और पालन के नाम पर चतुर्थ वर्ण को नीचता के दृढ बन्धनों में जकड दिया गया। उसका कहीं कोई संरक्षक, हितैषी उद्धारकर्ता सहायक नहीं रह गया। 'पालक' तथा 'पाल्य' के इन संबंधो में 'पालक' द्वारा अपना कर्तव्य पालन न करने

की स्थिति में पाल्य के हितो के संरक्षण की कोई व्यवस्था भी इस वर्णवादी समाज रचना में नहीं रही।

मानव स्वभाव की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का विचार करने से भी यह सिद्धान्त उन पर अन्याय करता प्रतीत होता है। प्लेटो का कहना था कि व्यक्तियों के तीन वर्ग अपने आप हो जाते हैं। कुछ लोग कामांध होते है, कुछ शूर होते हैं तथा कामवासना के आगे गये हुए होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें वस्तु के अस्तित्व के मूल में जो तत्त्व होते हैं उन्हें पहचानने की क्षमता होती है। इन लोगों का उसने क्रमशः व्यापारी, श्रमिक, सैनिक एवं कायदेकारी वर्ग में समावेश किया। अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में उसने उपयुक्ति विचार व्यक्ति किये। उन विचारों की जैसी आलोचना की जाती है वही बात चतुर्वर्ण पर भी लागू होती है, क्योंकि विशिष्ट लोगों को अलग करके उनका एक संघ या जाति तैयार करना अर्थात मानव और उसकी शक्तियों के संबंध में अत्यन्त अनुदार दृष्टिकोण हैं। व्यक्तियों में परस्पर भिन्नता तथा विशेषता होती है, यह बात जिस प्रकार प्लेटो के मस्तिष्क में नहीं आयी उसी प्रकार वर्ण व्यवस्था लागू करने वाले लोगों के मन में भी नहीं आयी। एक एक व्यक्ति में अनेक भिन्न प्रवृत्तिया कार्यरत रहती है, आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यों के अलग अलग संच तैयार करके, उनके भिन्न भिन्न वर्ण बनाना शक्य नहीं है। उसी प्रकार मनुष्यों की उच्च-नीच जैसे वर्ण, वर्ग विभाजन की बात भी सर्वथा उथली एवं तत्त्वहीन है। ब्राह्मण युग में संस्थापित वर्ण व्यवस्था अपने प्रारंभकाल में जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर अधिष्ठित थी। भगवान बुद्ध के आविर्भाव काल तक इसके अनेक साक्ष्य स्वंय वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते है। जैवलि,[२४३] आश्वतराशिव,[२४४] राजाप्रतर्दन,[२४५] गार्ग्यात्रणि,[२४६] काशीराज अजातशत्रू,[२४७] आदि राजा क्षत्रिय थे किन्तु इनसे बडे बडे ऋषि ज्ञान लाभ करते थे।[२४८] वशिष्ठ, परशुराम, द्रोण, कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणों ने हथियार उठाकर क्षत्रियों को भी सहायता दी थी।[२४९] क्षत्रिय भी तत्त्वज्ञ एवं ब्राह्मण भी सिपाही होते थे।[२५०] इससे डॉ. राधाकृष्णन[२५१] का मत समीचीत जान पडता है कि कर्म के आधार पर विभाजन बहुत प्राचीन काल से ही काम करता नहीं रहा।

किसी व्यक्ति के स्वभाव और कर्मो को उसके वर्ण जाति या जन्म के अनुसार आजन्म बन्धनकारक नहीं रखा जा सकता। नये सामाजिक परिवर्तनों से धर्मशास्त्रकार भी अवगत थे, इसलिये उन्होंने ब्राह्मणों के लिए यह व्यवस्था दी कि वे जीविकार्य ब्राह्मणेत्तर वर्णो का व्यवसाय स्वीकार कर लेंवे।[२५२] आपस्तंब[२५३] एवं गौतम[२५४] धर्मसूत्र के अनुसार आपात्काल में ब्राह्मणों को वाणिज्य एवं कृषि कर्म करने की सलाह दी गई है। मनु का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्य का कर्म कर सकते है।[२५५] चिकित्सक,[२५६] कृषक[२५७] वणिक,[२५८] वड्ढीक[२५९], अजपाल[२६०],

धनुर्धारि[२६१], तथा निपद[२६२], ब्राह्मणों के उल्लेख मिलते हैं। कई ब्राह्मण स्वप्नों की व्याख्या तथा भविष्य वाणियां करते थे, जिन्हें लक्खणपाठक कहा जाता था।[२६३] इस प्रकार ब्राह्मणोचित कर्म का त्याग उन्होंने किया था। इसी प्रकार क्षत्रियों के द्वारा भी वणिक[२६४], हस्तशिल्पि[२६५], कुंभकार[२६६], गायक-वादक[२६७], याचक[२६८], आदि कर्म स्वीकार किये गये। आधुनिक युग मे आते आते जन्म से जाति, वर्ण, वर्ग और कर्म विभाजन की सभी संस्थाएं व्यवहार में सर्वथा लुप्त प्रायसी हो गई है। स्व. महात्मा गांधी के पूर्वज वैश्यों का व्यापार छोडकर राजा के दीवान बने।[२६९] और स्वंय गांधी जी ने भी व्यापार के बदले बैरिस्टरी को आजिविका के रुप में चुना तथा कालांतर में वह भी छोडकर आधे संत तथा आधे राजनीतिज्ञ व्यक्ति बने।[२७०] परन्तु जहां तक मनु का प्रश्न है उन्होंने भिन्न भिन्न वर्णो को निजवर्णो से इतर कार्य व्यापार, व्यवसाय करने की छूट केवल त्रिवर्णो को ही प्रदान की शूद्रों को नहीं। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषियों ने जो वर्ण व्यवस्था विशुद्ध रुप से निःस्वार्थ एवं समाज कल्याण की भावना से निर्माण की थी वह मनु के युग तक आते आते विशिष्ट वर्ण का स्वार्थ साधन मात्र बनकर रह गयी। ऊपर हम देख चुके हैं कि सिद्धान्तः भगवान बुद्ध ने चातुर्वर्ण व्यवस्था को सर्वथा निःसार बतलाया है। फिर भी अनेक स्थलों पर उन्होंने ब्राह्मण की स्तुति की है। इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता हे कि उन्होंने किस ब्राह्मण की स्तुति की ? इसका सीधा उत्तर है कि बुद्ध ने जन्म से 'ब्राह्मण' की स्तुति नहीं की। सर्वप्रथम उन्होंने ब्राह्मण के धर्म बताये, जिससे वे ब्राह्मण्य के अधिकारी बनते है। उन गुणों को जो धारण करता है, उन्हें ही भगवान बुद्ध ने ब्राह्मण कहा, अन्यों को नहीं। जो अपरिग्रही है,[२७१] सारे बंधनों को काटकर जो संग और आसक्ति से विरत है, जो भयरहित है।[२७२] तृष्णा, क्रोध एवं सन्दान (६२ प्रकार की मिथ्या दृष्टि) को मिटाकर जो स्वंय बुद्ध हुआ।[२७३] जिसमें क्षमा बल है एव मन को दूषित किये बिना जो गाली वध और बंधन को सहता है।[२७४] जो अक्रोध, व्रतशील, बहुश्रुत एवं संयम आदि से युक्त है, और अन्तिम शरीर धारण करनेवाला है। जो काम भोगो से अलिप्त है एवं दुःख के विनाश को जानता है। अपने बोझ को उतार फेंकता है, और जो आसक्तिरहित है।[२७५] जो प्राण निपात, मुसावाद, अदिन्नादान आदि से विरत है।[२७६] जो प्रव्रजित[२७७], अर्हत[२७८], पूर्व जन्मज्ञाता, अभिज्ञापरायण मुनि है, ऐसे व्यक्ति को ही बुद्ध ने ब्राह्मण कहा है। वे आगे कहते हैं कि लोक व्यवहार में चिरकाल से ऐसे कल्पित नाम गोत्र चले आये है। अज्ञों की धारणा में बहुत समय से ऐसा घुसा हुआ है।[२७९] जो विज्ञ पुरुष है, वे नहीं कहते कि जन्म से ब्राह्मण होता है।[२८०] जन्म से न ब्राह्मण होता है न अब्राह्मण। कर्म से ही ब्राह्मण या अब्राह्मण होता है।[२८१] कर्म से ही कृषक और कर्म से ही शिल्पी, बनिया, चोर, योधाजीवी (क्षत्रिय) याजक एवं राजा होता है।[२८२]

ब्राह्मण धम्मिकसुत्त[२८३] में भी बुद्ध ने पुराने ब्राह्मणों के गुण बतलाये है कि पुराने ऋषि तपस्वी एवं संयमी थे। पशु, हिरण्य तथा धान्य उनके पास नहीं होता था। श्रद्धा से दिया गया द्वार पर रखा हुआ भोजन ही वे ग्रहण करते थे। उनको जनपदो के लोग नमस्कार करते थे। वे अवध्य, अजेय एवं धर्म द्वारा रक्षित थे।

ब्राह्मण पर-स्त्रियों के पास नहीं जाते थे। परस्पर प्रेमवाली के साथ केवल मासिक धर्म के समय में ही मैथुन धर्म का सेवन करते थे। उनमें जो श्रेष्ठ और दृढ पराक्रमी ब्राह्मण था उसने स्वप्न में भी मैथुन धर्म का सेवन नहीं किया। उसके आचरण का अनुकरण करते हुए यहा कुछ विज्ञ लोगों ने उसके शील, ब्रह्मचर्य एवं क्षमा आदि गुणों की प्रशंसा की। बुद्ध के मत में भी यही ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण है, और ऐसे ब्राह्मण एवं भिक्षु या श्रमण में कोई भेद नहीं। जो ऐसे ब्राह्मण्य से संपन्न थे। उनको बुद्ध ने श्रमण के समकक्ष स्थान दिया। बुद्ध के अनुसार कोई भी व्यक्ति, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्य किसी भी गोत्र का हो, यदि उसकी चर्या गृहस्थ की है, तो वह गृहस्थ ही है। परन्तु वर्णवाद की वकालत करनेवाला ब्राह्मण पुराने सन्यासी ब्राह्मणों की जगह अपने आपको स्थापित करके उन सब सुविधां एवं श्रद्धा के अधिकारी बनना चाहते थे, जो एक सच्चे भिक्षु या ब्राह्मण को प्राप्त होती थीं। बुद्ध ने सन्यासी ब्राह्मण एवं गृहस्थ ब्राह्मण में विभाजक रेखा खीचीं। तथापि सिद्धान्त रुप में बुद्ध के अनुसार सच्चे ब्राह्मण की संज्ञा केवल ऋषि, मुनियों के लिएं थी। यही बात प्रकाशान्तर से राजा अवन्तिपूत्र[२८५] को महाकात्यायन ने बतलायी थी। उन्होंने बताया - राजन चारों वर्णो के लोग चोरी, हिंसा, व्यभिचार या लूटमार करते हैं, तो किसी भी वर्ण विशेष का विचार न करते हुए उन्हें दण्ड दिया जाता है। क्योंकि उनकी पूर्व संज्ञा अन्तर्हित होकर अब उन्हें नयी संज्ञा उनके कर्मानुसार प्राप्त होती है। ब्राह्मण चोरी करे तो उसकी पुरानी संज्ञा ब्राह्मण अन्तर्हित होकर अब 'चोर' ही उसकी संज्ञा होगी, ब्राह्मण नहीं। वे गृहस्थ ब्राह्मण नहीं कहला सकते जो जन्म के आधार पर चारों वर्णो में अपने आप को श्रेष्ठ घोषित करते हैं। ब्राह्मण (सन्यासी) एवं गृहस्थ ऐसे केवल दो वर्ग चरित्र, कर्म और आजीविका के आधार पर समाज में रहे, ऐसी भगवान बुद्ध की आन्तरिक इच्छा रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि यही बाते उनके अपने धर्म के बारे में दिखाई देती है, यद्यपि भगवान बुद्ध ने अपने धर्म में स्पष्ट रुप से कहीं भी कोई विभाजक रेखा अंकित नहीं की, तथापि अनुमान से ऐसा माना जा सकता हे कि चर्या भेद के अनुसार बौद्ध धर्म के दो रुप हो सकते हैं । ।

एक उपासक पत्नी, परिवार, संपत्ति आदि रख सकता है। एक भिक्षु के लिए वही बातें वर्जित है।[२८६] पंचशील के नियम गृहस्थ एव भिक्षु दोनों के लिए समान हैं। परन्तु वे शील भिक्षु की दृष्टि से अनिवार्य व्रत रुप है।[२८७] प्राणि हत्या भिक्षु के लिये अनिवार्य रीति से वर्जित है, परन्तु अवस्था विशेष में गृहस्थ जीवहत्या

[illegible] व्रतों का उल्लंघन करे [illegible] का भागी होगा, उपासक के लिए वे अनुकरणीय शील मात्र हैं।[२८९] और वह भी जब कि गृहस्थ के अपने विवेक पर निर्भर करता है। इसका अर्थ है कि गृहस्थ जीवन की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुसार पंचशील के नियमों का पालन कर सकता है। भगवान बुद्ध ने गृहस्थों के लिए सदाचार के जो नियम निर्धारित किये हैं, उनके आधार से यह कहा जा सकता है कि वे अपने धर्म द्वारा पृथ्वी पर धर्म राज्य स्थापित करना चाहते थे।[२९०] सामान्य लोगों को धर्म का उपदेश देने मात्र से धर्म-राज्य की स्थापना असंभव है। आदर्शों की प्राप्ति के लिए उस धर्म मार्ग का व्यावहारिक होना तथा व्यवहारिक लगना आवश्यक है। तभी उसकी-स्थापना करने का यथासंभव प्रयास किया जा सकता है।

इस तरह का प्रयत्न भी तभी संभव है जब लोगों के सामने उस आदर्शों पर आश्रित समाज का कोई यथार्थ स्वरुप उपस्थित हो, जिससे सर्वसामान्य जन भी यह समझ सकें, कि अमुक आदर्श अव्यावहारिक अथवा काल्पनिक नहीं है, बल्कि उन्हें साकार व साक्षात किया जा सकता है। तथागत ने जिस धर्म का उपदेश दिया, बौद्ध संघ बुद्ध के आदर्श समाज का एक उदाहरण था, जो उपासकों के लिए यथासंभव यथाशक्ति अनुकरणीय था ।[२९२] बुद्ध चाहते थे कि भिक्षु संघ की भांति समाज में सब लोग समानता की भावना से रहें। बौद्ध गृहस्थों की देशना के साथ् जैन गृहस्थों की देशना का तुलनात्मक विचार करने पर बौद्ध देशना, जैन देशना के समान सुव्यवस्थित आचार विचार देशना नहीं है[२९३], ऐसा अभिमत डॉ. बी.सी. जैन ने व्यक्त कया है। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध समाज में गृहस्थ एवं भिक्षु ऐसे दो वर्ग स्वीकार करते थे, परन्तु दोनों का धर्म एक ही मानते थे।[२९४] यही बात सम्भवतः प्रकारान्तर से वे ब्राह्मणों को बताना चाहते थे। इसलिये वे कहते है कि जीविका के लिए कोई व्यक्ति जो व्यवसाय, पेशा या कर्म करता है, वही उस व्यक्ति का परिचय है।[२९५] जैसे जो व्यक्ति गौ रक्षा से जीविका करता है, वह कृषक, शिल्प से जीविका करनेवाला शिल्पी[२९६] व्यापार से जीविका चलानेवाला बनिया, परप्रेषण से जीविका करनेवाला प्रेष्यक अदत्तादान से जीनेवाला चोर, अस्त्र से जीनेवाला युद्धजीवी अर्थात सिपाही, पौरोहित्य से जीनेवाला याजक[२९७] या पुरोहित और ग्राम या राष्ट्र के उपभोक्ता को राजा कहा जाता है।[२९८] ब्राह्मण की व्याख्या इसके पूर्व दी जा चुकी है। जो ब्राह्मण अपने आपको ब्रह्मा के औरस पुत्र कहते थे उनका यह कथन बुद्ध ने इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वे जन्म से ब्राह्मण थे कर्म से नहीं। जबकि ब्राह्मण धर्म की पुरानी व्याख्या के अनुसार उन्हें ब्राह्मण बनना अर्थात ब्राह्मण के रुप में दीक्षित होना पडता था[२८९] और ब्राह्मणो के गर्भ से जन्म लेने मात्र से किसी को ब्राह्मण नहीं मान लिया जाता था। ऐसे ब्राह्मणों को ब्रह्म का मानसपुत्र माना जा सकता था। बुद्ध चाहते थे कि जिस प्रकार लोग भिक्षु बनते है, बनाए जाते हैं, उसी प्रकार

ब्राह्मण भी बनाएं जाएं, जन्म से किसी को ब्राह्मणत्त्व का अधिकार न मिल जाए। तब समाज में गृहस्थ और सन्यासी ऐसे दो वर्ग रहेंगे। गृहस्थ भूमि पर सभी गृहस्थ समान होंगे। कोई नीच या उच्च नहीं होगा। और जिस प्रकार भिक्षु संघ समानता व समुचित पारस्परिक आदर के सिद्धान्तों पर चलते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों पर गृहस्थ भी चलें।

भगवान बुद्ध ने ब्राह्मण्य के पुराने आदर्श को पूरी तरह समाप्त न करके उससे समन्वय स्थापित करना चाहा। पुराने शद्बो की व्याख्या करके प्रचलित कुप्रथाओं का विरोध किया।[३००] समन्वय की इस भूमिका के संबंध में तेविज्जसुत्त में कुछ विचार उपलब्ध होते हैं।

भगवान बुद्ध को अग्निकुमारद्वाज ब्राह्मण [३०१] ने मुनष्य को वृषल (नीच) बनाने वाली बातों के विषय में प्रश्न किये थे। बुद्ध ने उसके प्रश्नो का उत्तर इस प्रकार दिया -

क्रोधी, वैरवद्ध, अति ईर्ष्यालु, मिथ्यादृष्टि एवं मायावी व्यक्ति को वृषल अर्थात नीच समझना चाहिए।[३०२] निर्दयी[३०३], प्राणातिपात (योनिज या अण्डज किसी भी प्राणी की हिंसा) एवं ग्रामों को नष्ट करने वाला अत्याचारी[३०४], चोर[३०५], एवं ऋण लेकर वापस न करनेवाला[३०६], राहगीरों को मारकर लूटनेवाला[३०७], झूठी गवाह देनेवाला (अपने या पराये के धन के लिए) बलपूर्वक या प्रेम से भाई-बन्धुओं या मित्रो की स्त्रियों के साथ सहवास करनेवाला[३०८], ऐसे व्यक्ति भी नीच होते हैं। इसी प्रकार छिपकर पापकर्म करनेवाला[३०९], भी वृषल है। संक्षेप में अकूशल कर्म नीच कर्म है, इसके विपरीत कुशल कर्म उच्च कर्मो के इस विभाजन के अनुसार अकुशल कर्म करनेवाली व्यक्ति नीच एवं कुशल कर्म करनेवाले व्यक्ति उच्च होते हैं। राजा अवन्तिपुत्र के साथ महाकात्यायन[३१०] ने इस वर्णवाद को लेकर नीच, उच्च के प्रश्न पर बौद्ध दृष्टिकोण से अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया था कि चारों वर्ण चोरी, हिंसा आदि कुकर्म कर सकते है और साथ ही नरक भी भोग सकते हैं। बिना वर्ण भेद के यदि कोई व्यक्ति(अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णो में से) सेंघ मारे, गाव लुटे, चोरी याव्यभिचार करे, तो ऐसे अपराधी को दण्ड दिया जाता है। यदि प्रव्रजित होकर किसी भी वर्ण का व्यक्तिसन्यासी या भिक्षु बन जाता है, तो उसका सभी आदर सत्कार करते हैं। सभी वर्णो के लोग वैररहित, द्वेपरहित, मैत्री चित्त की भावना कर सकते हैं।[३११] न तो उच्च कुलीनता अच्छी है, न बुरी, न तो उच्च वर्ण अच्छा है, न बुरा, न बहुत धनधान्य सम्पन्न होना भला है, न बुरा, क्योंकि उच्चवर्ण (ब्राह्मण) भी हिसंक चोर, काममिथ्याचारी, झूठा, चुगलखोर, परुषभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेपी और झूठी धारणावाला होता है।[३१२] अर्थात चारों वर्णो में बुराइयां बिना वर्णभेद के एक प्रकार से फैल सकती हैं। बिना आर्थिक सम्पन्नता

के या संपन्नता होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति में बुराइयां हो सकती हैं और साथ ही बिना उच्च या नीच कुलीनता के भी ` व्यक्तियों में पायी जाती हैं। इसलिए भगवान बुद्ध ने कहा कि वर्ण, कुल या संपन्नता के अनुसार गुणों का विभाग नहीं है। नीच या उच्चता का आधार अच्छे या बुरे कर्म ही मानता चाहिए ऐसा उनका आग्रह था। वैदिक ऋषि या वर्णवाद के हिमायती तत्त्वज्ञों की तरह बुद्ध भी जानते थे कि मनुष्य असमान ही जन्म लेते हैं। कोई शक्तिशाली होते हैं और कोई कमजोर भी। कोई ज्ञानसम्पत्र होते हैं, कुछ कम और कुछ एकदम नहीं होते। कुछ अधिक बलवान होते हैं और कोई असमर्थ होते हैं। कुछ धनी होते हैं तो कुछ गरीब। किन्तु सभी को जीवन में संघर्ष करना पड़ता है।[३१३] यह सब कुछ अपने कर्म एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु यदि हम जीवन संघर्ष में असमानता के सिद्धान्त को एक स्वाभाविक स्थिति के रुप में स्वीकार लेंगे तो जो दुर्बल होंगे उनका कहीं ठिकाना ही नहीं रहेगा।[३१४] अतः ऐसे असमानता के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन के नियम के स्वरुप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्हीं विचारकों के अनुसार इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिए। उनका अभिमत है कि जो 'जीवन संघर्ष' में टिकने के अधिक योग्य होगा, वह टिका रहेगा।[३१५] प्रश्न है क्या वह व्यक्ति संघर्ष में टिके रहने के लिए योग्यतम है, क्या समाज के दृष्टिकोण से भी वही श्रेष्ठतम है।[३१६] सम्भवतः ऐसी परिस्थितियों के समाधान के लिए ही धर्म ने समानता का उपदेश दिया।

समानता के बल से जो श्रेष्ठतम है उसका भी अस्तित्व बना रह सकेगा, चाहे वह जीवन संघर्ष की दृष्टि से योग्यतम न भी हो।[३१७] यही प्राथमिक कारण है जिससे धर्म समानता का समर्थक है।[३१८] प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध का यही दृष्टिकोण था। परन्तु वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा होना संभव नहीं है। वह पूर्णतः क्रमिक असमानता पर आधारित है। भारत में जिन परिस्थितियों में वर्ण व्यवस्था आरम्भ और स्वीकृत हुई उस काल और उन स्थितियों में यह अवश्य उपयोगी रही होगी। परन्तु कोई भी व्यवस्था सब कालों में सभी मनुष्यों के लिए लाभदायक नहीं हो सकती।[३१९] प्राचीन भारत में भगवान बुद्ध और महावीर के समय तक ही वर्ण व्यवस्था ने अत्यन्त दुषित और विकृत रुप धारण कर लिया था जिसके अनगिनत प्रमाण पालि एवं प्राकृत साहित्य में उपलब्ध है। इस विषय की पर्याप्त चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ऊपर के पृष्ठों में ऐतिहासिक, वैचारिक, धार्मिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त विहगमावलोकन किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध की देशना में उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभूति कितनी और किस रुप में अभिव्यक्त हुई तथा इसमें तत्कालीन समाज और चिन्तन का कितना प्रभाव था।[३२०] इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका पारलौकिक पक्ष व्यवहारिक पक्ष से कहां तक न्यायसंगत था। किसी साहित्य विशेष के आधार पर किसी सिद्धान्त

का संशोधन एवं विवेचन करने के पूर्व यह अनिवार्य हे कि उस साहित्य एवं परम्परा का परिचय प्राप्त कर लिया जावे। इसी दृष्टि से नीचे के पृष्ठों में सम्पूर्ण त्रिपिटक वाड्.मय एवं विशेष रुप से कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

त्रिपिटक की साहित्य परम्परा

त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटारिंया। जिन महाग्रन्थ समूहो में मूल बुद्धवचन निबद्ध हैं तथा परम्परा से भगवान बुद्ध की विरासत के स्वरुप में प्राप्त है, उसे त्रिपिटक कहा गया है। तीन पिटक हैं - सुत्त, विनय एवं अभिधर्म।

भगवान बुद्ध ने अपना धर्म प्रसार करने के समय से लेकर महापरिनिर्वाण प्राप्त होने तक जो कुछ कहा वह त्रिपिटक में उनके शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा संग्रहीत किया गया है। भगवान के परिनिर्वाण के बाद धर्म एवं उसकी मूल भावना की रक्षा करने की आवश्यकता को समझकर भिक्षुओं ने प्रथम संगीति बुलाई। यह सभा बुद्ध परिनिर्वाण के चौथें मास में हुई।[३२१] इस संगीति में धम्म एवं विनय के संगायन की बात कही गई है। [३२२] दूसरी सभा भगवान के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद हुई एवं उसमें पुनः धम्म एवं विनय का सम्पादन किया गया।[३२३] तीसरी संगीति सम्राट अशोक के समय पाटलिपुत्र में भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद में हुई। अभिधम्मपिटक का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर किया गया।[३२४] इन संगीतियों में तीसरी संगीति का महत्त्व सबसे अधिक है। इसी संगीति में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए भिक्षुओं को बाहरी देशों में भेजने का निर्णय लिया गया। इस संगीति के उपरान्त सम्राट अशोक पुत्र महेन्द्र एवं उनके साथी उस त्रिपिटक को भी अपने साथ ले गये जिसका संगायन पाटलिपुत्र की संगीति में हुआ था। सिंहलद्वीप में वट्टगामणी अभय के शासनकाल में ई.पू. प्रथम शताद्वी में त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया।[३२५] त्रिपिटकों के वही पाठ आज हमें उपलब्ध हैं।

संक्षिप्त परिचय

१. सुत्तपिटक -

इसका विषय मुख्यतः भगवान बुद्ध एवं उनके प्रमुख शिष्यों के उपदेश हैं। उनका आरम्भ भी मुख्यतः बुद्ध वचन ही है। भगवान के उपदेशों के अतिरिक्त दूसरे विषय भी उसमें संग्रहीत हैं। अपने समकालीन श्रमणों, ब्राह्मणों, तपस्वियों, पारिव्राजकों एवं गृहस्थ पंडितो से उनके लौकिक एवं परिलौकिक सिद्धान्तों, मान्यताओं के संबंध में भगवान बुद्ध के साथ हुई चर्चाओं का ब्यौरा तथा सामाजिक जन-जीवन तथा

सांस्कृतिक मूल्यों का परिचय भी उनके आधार से होता है। प्रधानतः सुत्तपिटक में धार्मिक सैद्धान्तिक विषयों की ही विस्तृत चर्चा ही गई है।

सुत्तपिटक के प्रमुख पांच निकाय (ग्रन्थ) हैं। यथा-दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय एवं खुद्दक निकाय। प्रत्येक निकाय में कम से कम दस व उससे अधिक १५० तक सुत्त दिये गये हैं। मज्झिम निकाय में मध्यम आकार के एवं संयुक्त निकाय में छोटे-बडे सभी प्रकार के सुत्तो का समावेश है। अंगुत्तर निकाय में संख्यात्मक शैली में बुद्ध वचनों का निरुपण किया गया है। खुद्दक निकाय में सुत्तों के स्थान पर छोटे-बडे स्वतंत्र ग्रन्थों का संग्रह किया गया है, जिनमें 'जातक' जैसे विशाल ग्रन्थ भी हैं। इन ग्रन्थों की रचना गद्य-पद्य मिश्रित शैली में की गयी है।

१. खुद्दकपाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु ७. पेतवत्थु ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, (चुल्लनिद्देस व महानिद्देस), १२.पटिसंमिदामग्ग, १३.अपदान, १४. बुद्धवंस एवं १५. चरियापिटक।

दीघ, मज्झिम, संयुक्त एवं अंगुत्तर इन चार निकायों में व्याख्येय विषय अलग अलग न होने पर भी, उनकी प्रतिपादन शैली में संक्षेप, विस्तार और संख्याक्रम में अत्यन्त रोचक भेद है।

२. विनयपिटक-

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए यह एक अनुल्लघंनीय संविधान है। भिक्षु और भिक्षुणियों का दैनंदिन जीवन, धर्म और आचार ही विनयपिटक का एक मात्र विषय है, ऐसा कहा जा सकता है।[३२६] महाकारुणिक शास्ता ने इसे निर्वाण के साक्षात्कार के लिए एकमात्र मार्ग माना है।[३२७] एक प्रकार से देखा जाय तो यह धम्म और विनय का समन्वित रुप है।[३२८] सुत्तपिटक में जिन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, विनयपिटक में उनका व्यावहारिक रुप में पालन करने की विधि, दृष्टान्त, आदर्श नियम व अपवाद बताए गयें है। सुत्तपिटक विचार दर्शन है तो विनयपिटक आचार दर्शन है। सुत्तपिटक में वस्तुतः धर्म को जीवन के साथ एकाकार करके सब कुछ बता दिया गया था, परन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघ की स्थापना के बाद जिन असंयमी एवं अवैरागी तत्त्वों का प्रवेश बौद्ध संघ में हुआ उनका यथासंभव कठोर से कठोर नियमन, नियंत्रण करने की दृष्टि से देश, काल और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार विनयपिटकों के नियमों का निर्धारण हुआ।

उपासक और श्रामणेर (परिवास के अधीन नया भिक्षु) भी शीलों का ग्रहण और पालन करते हैं। भिक्षु उन्हीं शीलों का पालन व्रतों के रुप में करता है।[३२९] इन व्रतों को भंग करने पर बुद्ध, धर्म व संघ तीनों के प्रति भिक्षु अपराधी हो जाता है। उन अपराधों का निवारण प्रायश्चित व शुद्धि और अनिवार्य परिस्थितियों में दण्ड विधान आदि के नियम, उपनियमों की व्यवस्था विनयपिटक का केन्द्रीय विषय है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

'पाराजिक - धम्म'

भिक्षु के उन आचार व्यवहारों को जो उसे पराजय दिलाते हैं और उसे अधःपतन की और ले जाते हैं, तथा जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है, उसमें उसे अग्रसर व सफल नहीं होने देते उन्हें 'पाराजिकधम्म' यह नाम दिया गया है। ऐसे धर्म (आचार)चार कहे गये हैं, यथा १. स्त्री मैथुन २. चोरी करना या न दी हुई वस्तु को लेना ३. मृत्यु या आत्महत्त्या की प्रशंसा करना जिससे कोई अन्य व्यक्ति भी उसके लिये प्रेरित हो जाय, तथा ४. लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने में अविद्यमान ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति दिखाना।[३३०] इनमें से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नहीं रहता।[३३१]

तेरह संघदिसेस

सांघिक नियमों संबंधी दोषो को संघादिसेस कहा जाता है। इनकी संख्या १३ है।[३३२]

दो अनियत धर्म

अनियत का अर्थ है अनिश्चित। इन अपराधों का स्वरुप अनिश्चित होता हैं एवं साक्ष प्राप्त होने पर ही इन्हें विशिष्ट श्रेणी के अपराधों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनकी संख्या दो है।[३३३]

तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय धर्म

इस प्रकार के अपराधों को स्वीकृत करने के साथ ही उनका प्रायश्चित भी करना पडता हे। जिस वस्तु के संबंध में उसने अपराध किया हो, वह वस्तु भी उससे ले ली जाती है।[३३४] उनका संबंध विशेषतः चीवरों, ऊनी विछावन, भिक्षापात्र, रोगी की दवाएं आदि की स्वीकृति-अस्वीकृति से है।[३३५]

बानबे पाचित्तिय धर्म

अपराधों का प्रायश्चित करने के बाद उनसे मुक्त किये जाने वाले धर्म ही पाचित्तिय धर्म कहलाते हैं। उनकी संख्या बानबे है।[३३६]

चार पटिदेसनीय धर्म

जिनके लिये प्रतिदेशना (क्षमा याचना) आवश्यक होती है। उनकी संख्या ४ हे।[३३७]

पांच सेखिय धर्म

ये बाहरी शिष्टाचार के नियम हैं। इनमें विशेपतः वस्त्र पहनने की रीति एवं भोजनादि के नियम हैं। इनकी संख्या पचहत्तर हैं। [३३८]

सात अधिकरण शमथ धर्म

संघ में उत्पन्न विवादों की शांति के उपाय के रुप में इनका विधान किया गया है।[३३९]

भिक्षु संघ के सम्यक संचालन को ध्यान में रखकर भगवान बुद्ध ने समस्त संघ के समक्ष अपने अपने अपराधों की स्वीकृति की प्रथा प्रारम्भ की थी। भगवान बुद्ध ने यह भी जान लिया था कि चरित्र निर्माण के लिए और उसे सुदृढ बनाने के लिये कुछ प्रतिबन्धों का होना अनिवार्य है। साथ ही यह भी देखना था कि उनका पालन होता है या नहीं। परन्तु ऐसे प्रतिबन्धों का पालन कराने हेतु कोई प्रभावोत्पादक मार्ग ढुंढना भी सरल कार्य नहीं था। इन्हीं दृष्टियों से भगवान बुद्ध ने उपोसथ[३४०] तथा प्रातिमोक्ष के नियम निर्धारित किये। जो नियम भिक्षुओं के लिए हैं वे समान रुप से भिक्षुणियों को भी अनिवार्यतः पालन करने होते हैं।

विनयपिटक की संपूर्ण विषय वस्तु निम्नलिखित ग्रन्थों में विभाजित हैं।

१. सुत्तविभंग - इसमें पाराजिक एवं पाचित्तिय का समावेश है।

२. खन्धक - में महावग्ग एवं चुल्लवग्ग का अन्तर्भाव है।

३. परिवार - विनयपिटक के परिशिष्ट के समान है।

३. अभिधम्मपिटक

इस ग्रन्थ समूह के संबध में पूर्व समय से लेकर ही यह विवाद चला आता है कि यह बुद्ध वचन है अथवा नहीं। आचार्य बुद्धघोष एवं चीनी यात्री युआनच्वांग इसकी रचना प्रथम संगीति के समय की मानते हैं, जो बुद्ध परिनिर्वाण के चार माह बाद हुई थी। परन्तु अभिधम्म के कथावस्तु ग्रन्थ की रचना सम्राट अशोक के शासनकाल में तृतीय संगीति के अवसर पर की गयी थी। इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसकी प्रमाणवत्ता सुत्त एवं विनय के बाद की हैं। डॉ. लाहा के अनुसार अभिधम्म का कोई भी ग्रन्थ जिस सीमा तक स्पष्ट रुप से सुत्तपिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी सीमा तक उसकी अपेक्षित प्राचीनता व प्रामाणिकता स्वीकार

की जा सकती है।[३४१] इस कसोटी के अनुसार वे अभिधम्मपिटक के अंतर्गत पुग्गलञ्जति एवं विभंग इन दो ग्रन्थों को सुत्तपिटक पर अवलंबित मानते है।[३४२] डॉ. रायस डेविड्स के अनुसार अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक का ही परिशिष्ट है।[३४३] सुत्तपिटक में जो विषय आये हैं उन्हें ही अभिधम्म के ग्रन्थों में अधिक सुक्ष्मता एवं विस्तार के साथ समझाया गया है। अनेक पारिभाषिक शब्द नये होने पर भी अपने अर्थतत्त्व में पूर्णतः सुत्तपिटक पर आधारित हैं। प्रथम बार भिक्षु जगदीश कश्यप ने अभिधम्मपिटक के आधार को सुत्त में खोजने का प्रयास किया था।[३४४] इस प्रकार सुत्त एवं अभिधम्म में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। सुत्तपिटक के विषयों में अलग अलग प्रकार से विश्लेषण करके अभिधम्म में उन्हीं को समझाने का यत्न किया गया है। अभिधम्म पिटक के ग्रंथ इस प्रकार है।

१. धम्मसंगणि

धम्मसंगणि [३४५] में मानसिक एवं भौतिक जगत की अवस्थाओं का संकलन किया गया है।[३४६] कामावचर, रुपावचर, अरुपावचर एवं लोकोत्तर आदि के रुप में धर्मो (चित्त चैत्तसिक अवस्थाओं) का विश्लेषण विशेष रुप से इसमें मिलता हैं। कर्मो के शुभाशुभ (कुशल-अकुशल) भेदों के अतिरक्त अव्याख्येय अर्थात अव्याकृत नामक एक तीसरे भेद के रुप में उसकी विस्तृत व्याख्या यहां मिलती है। कर्म, अकर्म चित्त की प्रगति एवं अधोगति यह सब कुछ इस ग्रथं में सूक्ष्म रुप से समझाया गया है। हमारे शोध विषय की दृष्टि से इसी ग्रंथ का विशेष महत्त्व है।

२. विभंग

अभिधर्म का दूसरा ग्रंथ है। धम्मसंगणि के सारे विषय एवं विश्लेषण को इस ग्रंथ में वर्गबद्ध किया गया है। धर्मो का स्कंध, आयतन और धातुओं में विभाजन इस ग्रंथ का मुख्य विषय है। इसकी विषय वस्तु १८ विभागों में विभक्त की गई है।

३. धातुकथा

इसमें प्रश्नात्मक शैली में चौदह अध्यायों में विभंग के विषयों को और अधिक स्पष्ट किया गया है।

४. पुग्गलपञ्ञति

विभिन्न पुद्गलों (व्यक्तियों) के लक्षण और उनकी पहचान इस ग्रंथ के विषय है। इसमें गुण कर्म एवं स्वभाव के अनुसार दस प्रकार के व्यक्तयों के स्वरुप का वर्णन किया गया है पृथकजन, सम्यक संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष आर्य,

अनार्य, स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अना गामी और अर्हत इन नामों से मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का सुन्दर विवेचन भी इसमें उपलब्ध होता है।

५. कथावत्थु

इस ग्रन्थ का प्रणयन मुख्यतः स्थविरवाद विरोधी १७ सम्प्रदाओं को सैद्धान्तिक दृष्टि से बौद्ध संघ में से निष्कासित करने के उद्देश्य से किया गया था। कुल मिलाकर इसमें २१६ भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का निराकरण २३ अध्यायों में किया गया है।

६. यमक

इसमें दो-दो के युगल बनाकर प्रश्नों के समाधान प्रस्तुत किये गये है। अभिधम्म में प्रयुक्त शद्घावली की निश्चित व्याख्या भी इसी ग्रन्थ में प्राप्त होती है।

७. पट्ठान

यह अभिधम्म का दूर्भेद्य कवच है। इसका विषय प्रतीत्य समुत्पाद है। इसमें २४ प्रत्ययों का विश्लेषण किया गया है।

संदर्भ

१. रजनीकान्त शास्त्री, हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, पृ. १०।
२. डॉ.बी.सी. जैन, भगँवान महावीर और उनका चिन्तन, पृ. ३।
३. उद्धरण के लिए देखिए चौधरी गुलाब चन्द कृत - आर्यो के पहले की भारतीय संस्कृति, पृ. ५३६-४२।
४. वही।
५. डॉ. हेरास, 'भारतीय इतिहास एक दृष्टि', पृ. २८।
६. एस.बी.ई. हर्बर्ट लेक्चर्स, पृ. ३५१, जिल्द २२ ।
७. बौ.ध. के वि.का. इ. पृ. १४० ।
८. बु.का.भा.स.औ.ध., पृ. १४०।
९. तैत्त रीआरण्यक २.७.१ ।
१०. बु.का.स.औ.घ. पृ. १४०, मदनमोहनसिंह।
११. वही।
१२. अशोक कुमार लाड, भा.द.प. में मो.चि., पृ. १।
१३. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. प्रथम, पृ. ६३।
१४. वही।

१५. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. प्रथम, पृ. ६३।

१६. वही।

१७. डॉ. भ.आ.कौ.बु.ओ.उ.घ. पृ. ६८।

१८. वही, पृ. ७०।

१९. भरतसिंह उपाध्याय, बौ.द.त.अ. भा.द.II, पृ. ८७४।

२०. वही।

२१. वही।

२२. लो.बा.ग.ति. गीता रहस्य पृ. १५९।

२३. वही।

२४. बौ.ध. के वि.का.इ., पृ. १४ ।

२५. वही।

२६. वही । पृ. १४, १५।

२७. दृष्टवदानुश्रविकः सहस्य विशुद्धि क्षयातिशययुक्तः तद्विपरीतः श्रेयान व्यक्ताव्यक्त विज्ञानात। सांख्यकारिका, पृ. २ ।

२८. बौ.द.त.अ.भा.द. द्वितीय, पृ.८१५ ।

२९. जी.सी.पाण्डेय, बौ.घ.के.वि.का इ., पृ. १४-१५ ।

३०. बंधुपादपदच्चा ते हि पि में सद्धि एवं कथासल्लापो होति । दीघ निकाय, भाग १। १३1

३१. म.आ.कौ., भ.बु. और उ.ध., पृ. ७० ।

३२. वही, पृ. ७१।

३३. मूल प्रकृति विकृति महदाघाः प्रकृति विकृठयः सप्त। षेडशस्तु विकारो न प्रकृति न विकृति पुरुषः ।। का., ३ ।

३४. भ.आ.कौ., द.वे. से मा.ल., पृ. १११।

३५. लो.बा.ग.ति., गीता रहस्य, पृ. १६५ ।

३६. लो.बा.ग.ति. गीता रहस्य, पृ. १६५ ।

३७. वही।

३८. सांख्यकारिका, का. ६० ।

३९. जन्म मरण करणाना प्रतिनियमाद अयुगपत्प्रवृतेश्च पुरुष बहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्याश्चैव । का. १८ ।

४०. ऋषि मंत्रो के दृष्टामात्र है रचयिता नहीं। दे. कौषितकी ब्राह्मण, १०।६० मिलाओ ऐतरेय ब्राह्मण, ३।७।

४१. शतपथ ब्राह्मण, ३,१,४ ।

४२. भ.आ.कौ.भ.बु.और.उ.ध हि.भा., पृ. ७३

४३. वृहदारण्यक, उप. ४, ३, ३८, ४, ४, ५ । ४४. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. प्रथम पृ. १२९ ।
४५. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. प्रथम, पृ. १३१।
४६. वही, पृ. १३४ ।
४७. भ.आ.कौ., भ.बु.औ.उ.व.हि.भा., पृ. ७८।
४८. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द.II, पृ. ९३५।
४९. राधामाधव में विवाद, पृ. १०७।
५०. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध. के वि.का इ., पृ. ११।
५१. बृ.उप. ६,१ । ५२३. कौषितकि, ३, १,४ ।
५३. बृ.उप. २,१,१७ ।
५४. वही, ३,९,९, ।
५५. पालि डिक्शनरी, (पा.टे.सो.)।
५६. अर्थशास्त्र प्रथम, पृ. २७ (त्रिवेन्द्रम संस्करण) ।
५७. बौ.घ.के.वि.का इ. पृ. ३३।
५८. भ.आ.कौ, द.वे.से.भा.त., पृ. ९१ ।
५९. सर्वदर्शन संग्रह (चार्वाक पर विचार)।
६०. वही।
६१. सीलक्खन्ध वग्ग, पृ. ५।
६२. वही, पृ. ११। + आदि के सन्दर्भ में शाश्वतवाद नित्यतावाद, सान्तवाद, अमराविवखेपवाद एवं अकारणवाद हैं। अन्त के संबंध में मरणान्तर होश, बेहोश, नहोश-बेहोश होने वाला आत्मा एवं आत्मा का उच्छेद आदि है। द्रष्टव्य दीर्घनिकायं, ब्रह्मजाल सुत।
६३. डॉ.बी.सी जैन : बौ.सं. के वि. का इ., पृ. २ ।
६४. दीर्घ निकाय प्रथम, १९।
६५. वही।
६६. वही।
६७. प्री-बुद्धिष्टिक फिलासकी, पृ. २७९।
६८. अर्लिमोनास्टिक बुद्धिज्झम प्रथम, पृ. ३५।
६९. भावसंग्रह, १७६-७९ ।
७०. म.नि. प्रथम, पृ. ५१३। हिन्दी
७१. दीर्घ निकाय प्रथम, सामञ्ञफल सुत्त।
७२. डॉ. जी.सी.पाण्डेय : बौ.ध.के वि.का इ. पृ. ३४ ।
७३. भ.आ.कौ. । भ.बु.औ.उ.ध., पृ. ८०, हि.भा. ।
७४. दी.नि. प्रथम पृ. ५५।

७५. वही।

७६. वही।

७७. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.के.वि.का इ., पृ. ३६।

७८. सुयगडांग, १,१,१२३।

७९. दी.नि. प्रथम, पृ. १९।

८०. जी.सी.पाण्डेय, बौ.घ.के.वि. का इ., पृ. ३६।

८१. वही।

८२. दी.नि. प्रथम, पृ. ५०।

८३. जी.सी.पाण्डेय, बौ.घ. के वि.का इ., पृ. ३९।

८४. ठाणांग सूत्र, २६६, (अभयदेववृत्ति सहित बंबई, १९३७)।

८५. संयुक्त नि. चतुर्थ, पृ. ३१७।

८६. पार्श्वनाथ चातुर्याम, पृ. २४।

८७. म.नि. प्रथम, पृ. ४८३-८६ ।

८८. वही।

८९. अंगुत्तर नि. पंचम, पृ. १९३-९५ ।

९०. संयुक्त नि. चतुर्थ, पृ. २५१-४०३ ।

९१. धम्मपदं टीका - भाग १, पृ. ८८-९० ।

९२. थेरगाथा।

९३. संयुक्त नि. चतुर्थ, पृ. २५१-४०३ ।

९४. म.नि. प्रथम, पृ. ४९७-५०१ ।

९५. दीघनि. तृतीय, पृ. ३६-५७ ।

९६. वही।

९७. थेरगाथा।

९८. म.नि.द्वितीय, पृ. ४८३-८६।

९९. अं.नि. द्वितीय, पृ. २९-३९-१७३ ।

१००. म.नि. द्वितीय, पृ. १ ।

१०१. वही, भाग १, पृ. ३३९ । हिन्दी

१०२. संयक्त नि. भाग ५, पृ. ७३-७५ !

१०३. अं.नि. ५, पृ. १९६ ।

१०४. संयुक्त नि. भाग ५, पृ. ११ ।

१०५. दीघ नि. भाग ३ ए पृ. ३६ ।

१०६. जातक भाग २, पृ. २१६ ।

१०७. धम्मपदं टीका भाग १, पृ. ८८ ।

१०८. सुत्तनिपान ४।८, (पुसुरसुत)।

१०९. म.नि. भाग १, पृ. १७५ ।

११०. वही, भाग ३, पृ. २०७।

१११. वही, पृ. ३३९ ।

११२. दी.नि. भाग १, पृ. १७८ ।

११३. अ.नि. भाग २, पृ. १०० ।

११४. म.नि. भाग १, पृ. ५०२ ।

११५. स.नि. भाग ४,पृ.२३० ।

११६. म.नि. भाग १ पृ.४०९ ।

११७. म.नि. भाग २.पृ.२९-३९

११८ म.नि. भाग २.पृ. २९-३६

११९. वही, पृ.४०-४४ १२० महावग्ग, १।२३।१।

१२१. अ.नि. भाग ४, पृ. ३७१।

१२२. म.नि. भाग ४, पृ.३७१।

१२२. म.नि.भाग १,पृ. ३७१।

१२३. स.नि. भाग ४, पृ. ४०३। १२४ अ.नि. भाग ५, पृ. १२१।

१२५. थेरगाथा।

१२६. दि बुक्स आफ ग्रेज्युअलसेयिंग, पृ. १६७।

१२७. दी. नि. भाग २,पृ. १४८।

१२८. स.नि. भाग २,पृ. ११९।

१२९. वही, भाग४, पृ.२६१।

१३०. वही, भाग ४, पृ.२३८।

१३१. अ.नि. भाग ४,पृ. ३६९।

१३२. बुद्धकालीन भारतीय समाज और धर्म, पृ. १४८ (मदनमोहन सिंह)।

१३३. भारतीय दर्शन, भाग १, पृ. २६१।

१३४. बौ.ध. के वि.का इ., पृ. २०।

१३५. भा.द. का स., पृ. ९५, आदित्यनाथ झा।

१३६. भा.द., भाग १, पृ. २९२।

१३७. चार्वाक सांख्य बुद्धपूर्व एवं समकालीन जैन दर्शन ने सृष्टीकर्ता को नहीं माना।

१३८. बुद्ध की तरह जैन एवं चार्वाक ने भी यज्ञ एवं वेदो को प्रमाणिक नहीं माना९

१३९. डॉ. भ. आ.कौ., बु. और उ.ध., हि.भा., पृ. ७३ ।

१४०. वही। १४१. वही, पृ. ८४ ।

१४२ . अदित्यनाथझा, भा.द. का स., पृ. ९५ ।

१४३. आदित्यनाथझा, भा.द. का स., पृ. ९५ ।

१४४. वही ।
१४५. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ३ ।
१४६. दृष्टव्य डॉ. राधाकृष्णन, धर्म और समाज, पृ. ४५ ।
१४७. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि.का इ., पृ. ९ ।
१४८. वही।
१४९. वही।
१५०. द.वे. से मा.त. पृ. २१ ।
१५१. वही।
१५२. बौ.ध. के वि.का इ., पृ. ९।
१५३. ब्राह्मण धार्मिक सुत्त सुतनिपात, ५३
१५४. वही।
१५५. कुटदन्त सुत्त दी.नि. १।५, बुद्धचर्या, पृ. २२४ ।
१५६. वही।
१५७. दीघ नि. भाग १, पृ. १४२, अ.नि. भाग ४, पृ. ४२ ।
१५८. वही।
१५९. जातक, भाग ३, पृ. ४४ ।
१६०. बु.का.स.औ.ध. पृ. १२६।
१६१. भा.द. भाग १, पृ. ११५ ।
१६२. सुत्तनिपात, ५।३, पुण्णक माणव परिपूच्छा।
१६३. वही।
१६४. वही।
१६५. दी.नि. १।१३, तेविज्ज सुत्त ।
१६६. वही।
१६७. वही।
१६८. दी.नि., १।१३, तेविज्जसुत्त।
१६९. वही।
१७०. दी.नि., कुटदन्त सुत्त, १।४ ।
१७१. वही।
१७२. डॉ. राधाकृष्णन, धर्म और समाज, पृ. १२१ ।
१७३. वही।
१७४. मार्क्सिज्म पृ. ४२६, मास्को संस्करण।
१७५. बौ.द.त.अ.भा.द. पृ. १९४।
१७६. द.दि., पृ. ५३५, महा. ष.श.सा.।
१७७. वही।

१७८. डॉ. राधाकृष्णन, समाज और धर्म, पृ. १५९ ।
१७९. वही।
१८०. वही।
१८१. वही, पृ. १५३ ।
१८२. डॉ. मदनमोहन सिंह, बु.का.स.औ.ध. पृ. ११।
१८३. डॉ. राधाकृष्णन, समाज और धर्म पृ. १५३ ।
१८४. वही।
१८५. जातक, भाग १, पृ. ४९।
१८६. कल्पसूत्र, पृ. १७।
१८७. मदनमोहन सिंह, बु.का.स.औ.ध. पृ. ११।
१८८. वही।
१८९. दीघ नि., भाग १, पृ. १०३ ।
१९०. डॉ. भ.आ.कौ. त.का.शा.स. पृ. ५१ । १९१. वही।
१९२. डॉ. भ.आ.कौ. ततत.का.शा.स. पृ. ५१ ।
१९३. चुल्लवग्ग, ९।१।४ ।
१९४. बु.का.स.औ.ध. पृ. १३।
१९५. ज्ञानेश्वरी, गीता, ३।३५ की व्याख्या में रामचन्द्रवर्मा का अनुवाद, पृ. ७५।
१९६. जातक, भाग ६, पृ. २०८ ।
१९७. मदनमोहन सिंह, बु.का.भा.स. और ध., पृ. १३।
१९८. वर्णवाद का अर्थ है गुण कर्मानुसार उच्च-नीच का वर्गीकरण जहां जाति पाति की कोई मर्यादा नहीं थी।
१९९. म.नि. (सुत्त) क्रमांक ९३।
२००. वही।
२०१. म.नि. अस्सलायन सुतन्त, २।५।३ ।
२०२. वही।
२०३. वही, वासेट्ठ सुतन्त, २।५।८ ।
२०४. वही, फासुकारि सुतन्त, २।५।६ ।
२०५. फासूकारि सुत्तन्त म.नि. २।५।६ ।
२०६. फासुकारी सुतन्त म.नि. २२।५।६ ।
२०७. वही।
२०८. वही।
२०९. वही।
२१०. माधुरिय सुतन्त, वही, पृ. ८४।
२११. वियोगी, जा.का.भा.स., पृ. १३९।

२१२. वही।
२१३. फासुकारी सुतन्त, म.नि. २।५।६।
२१४. आश्वलायन सुतन्त, म.नि. (९३ का सुत्त)।
२१५. वियोगी जातककालीन भा.स. पृ. १३८।
२१६. वही।
२१७. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ९४१, भाग २ ।
२१८. वही।
२१९. देखिए अग्गञ्जसुत्तन्त दीघ नि. ।
२२०. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ९४१। भाग २ ।
२२१. भ.आ.कौ.भ.बु.औ.उ.ध., पृ. ७४, चातुर्वर्ण भी तर्कातीत है।
२२२. भ.सि.उ., बौ.द.न.अ.भा.द. द्वितीय भाग, पृ. ८३५।
२२३. भ.आ.कौ. बु. और उ.ध. पृ. ८२ ।
२२४ वही।
२२५. भ.सि.उ. बौ.द.त.अ.भा.द. भाग २, पृ. ८३२ ।
२२६. बी.सी.जैन जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. ३८६ ।
२२७. बौ.ध. के वि.का इ. पृ. ७२ ।
२२८. बौ.ध.एक बुद्धिवादी अध्ययन, पृ. ५।
२२९. भ.सि. उ., बौ.द.त.अ.भा.द. द्वितीय भाग, पृ. ९४२।
२३०. जी.सी. पाण्डे, बौ.ध. के वि.का इ., पृ. ७९।
२३१. गीता रहस्य, पृ. ६४। २३२. धम्मपद गाथा क्र. १ ।
२३३. वही।
२३४. विश्वमित्र, अजमीढ और पुरामीढ को ब्राह्मण वर्ग में स्थान दिया गया था। दे..डॉ. राधाकृष्णन, धर्म और समाज, पृ. १५३। जनक ने जो जन्म से क्षत्रिय था अपने कर्मो के कारण ब्राह्मण पद प्राप्त कर लिया था। दृष्टव्य, ऐतरेय ब्राह्मण, २।१९।
२३५. दी.नि. ।
२३६. वही।
२३७. वही।
२३८. वही।
२३९. वही।
२४०. वही।
२४१. वही।
२४२. वही।
२४३. छान्दोग्य उपनिषद, १।८।१ ।

२४४. वही, ५।११।
२४५. कौपितकी ब्राह्मण उपनिषद, ३।१ ।
२४६. वही, १।१ ।
२४७. बृहदारण्यक उपनिषद, २।१।१ ।
२४८. वियोगी, जा.का.भा.स. पृ. १४७ ।
२४९. वही।
२५०. वही।
२५१. धर्म और समाज पृ. १५२ ।
२५२. डॉ. म.मो.सि.: बु.का.स.औ.ध. पृ. १५ ।
२५३. आपस्तंब, १।७।२०।११ ।
२५४. गौतम, १०।५ ।
२५५. मनुस्मृति मद्यः १०।९१।८२ ।
२५६. जातक, भाग २, पृ. ६ ।
२५७. वही, पृ. ३ ।
२५८. वही, पृ. १५, जातक, भाग ४, पृ. १५-८१ ।
२५९. जातक, भाग ४, पृ. २०७ ।
२६०. वही, भाग ३, पृ. २०९, जातक भाग पांच, पृ. १२७ ।
२६२. वही, भाग २, पृ. २०० ।
२६३. जातक भाग १, पृ. २६० ।
२६४. जातक, भाग ४, पृ. ८४ ।
२६५. वही, पृ. १६९।
२६६. वही, भाग ५, पृ. २९० ।
२६७. वही, पृ. २९३ ।
२६८. वही, पृ. २९३ ।
२६९. डॉ. बी.आर.आंबेडकर, जातिभेद निर्मुलन, पृ. १०३ ।
२७०. वही।
२७१. सु.नि. ३।९ गाथा, २७ ।
२७२. वही, गाथा २८ ।
२७३. वही, गाथा, २९ ।
२७४. वही, गाथा ३० ।
२७५. वही, गाथा पृ. ३१ ।
२७६. वही, गाथा ३२, ३३ ।
२७७. वही, गाथा ३९, ४०, ३६ ।
२७८. वही, गाथा, ३६, ५१, ५४ ।

२७९. वही, गाथा ५५ ।

२८०. वही, गाथा, ५६ । २८१. वही, गाथा ५७ ।

२८२. वही, गाथा, ५८, ५९ ।

२८३. सुनि. २।६ ।

२८४. वही ।

२८५. म.नि. माधुरिय सुत्तन्त, ८४, मिलाइये वासेट्ठ सुत्त भी । २८६. विनय पिटक, भिक्षु प्रातिमोक्ष ।

२८७. दि. बुद्ध एण्ड हिज धम्म, पृ. ३४६ ।

२८८. वही।

२८९. वही।

२९०. दि बुद्ध एण्ड हिज धम्म, पृ. ३४६ । 'बुद्धदेव धार्मिक ढंग से एक बडा राज्य बल्कि साम्राज्य करना चाहते थे' देखिए, जा.का.भा.स. पृ.४ (वियोगीकृत) ।

२९१. भ.आ.का.भ.बु.औ.उ.ध., पृ. ३४७ ।

२९२. वही।

२९३. वही।

२९४. बौ.स. का इ. पृ. २४२ ।

२९५. देखिए सु.नि. धम्मिक सुत । जहां भिक्षुओं सहित गृहस्थों को उपदेश दिया गया है।

२९६. सु.नि. वासेट्ठ सुत गाथा, १९ से २४ तक ।

२९७. सु.नि. वासेट्ठसुत्त, गाथा २५ ।

२९८. वही गाथा, २६ ।

२९९. जन्मना, जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्चते । देखिए पादटिप्पणी, पृ.
१५०, डॉ. राधाकृष्णन, धर्म आर समाज।

३००. बी.सी. जैन, उन्होंने प्रचलीन सारी धार्मिक परिभापाओं को मोड दिया । बौ.स.का इ. पृ. ३९७ ।

३०१. सु.नि. १।७ ।

३०२. सु.नि. १।७ ।

३०३. वही।

३०४. वही।

३०५. वही।

३०६. वही।

३०७. वही।

३०८. वही।

३०९. वही।

३१०. म.नि., २।४।४।

३११. म.नि. २।५।३, साथ् ही २।४।१० ।

३१२. वही, २।५।६ ।

३१३. भ.आ.कौ., भ.ब्र.औ.उ.ध. पृ. २४४ ।

३१४. वही।

३१५. भ.आ.कौ., भ.बु.औ.उ.घ., पृ. २४४ ।

३१६. वही।

३१७. वही।

३१८. वही।

३१९. न हि सर्वाहितः कश्चित आचारः सम्प्रवर्तते । महाभारत, शान्तीपूर्व, २५६-(अध्याय १७)

३२०. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि.का.इ. पृ. १७ । ३२१. विनयपिटक चुल्लवग्ग ।

३२२. वही।

३२३. भरतसिंह उपाध्याय, पा.सा.का इ., पृ. ८३ ।

३२५. भरतसिंह उपाध्याय। पा.सा. का इ., पृ. ८३ ।

३२४. वही

३२६. भ.सि.उ. । पा.सा. का इ., पृ. ३०३ ।

३२७. डॉ. बी.सी. जैन, बौ.स. का इ. पृ. ४३ ।

३२८. डॉ. भ.आ.कौ., भ.बु.औ.उ.ध., पृ. ३३३ ।

३२९. डॉ. भ.आ.कौ., भ.बु.आ.उ.घ. पृ. ३३३ ।

३३०. विनय पिटक भिक्षु पातिमोक्ख ।

३३१. विनयपिटक भिक्खु पातिमोक्ख ।

३३२. वही।

३३३. वही।

३३४. वही।

३३५. वही!

३३६. वही।

३३७. विनयपिटक भिक्खु पातिमोक्ख ।

३३८. वही!

३३९. वही।

३४०. विनय पिटक खन्धक (महावग्ग) उपोसंथ रस्कन्धक । उपोसंध के लिए एक सीमा के भिक्षुओं को एक स्थान में इकट्ठा होना पडता है। दोनों पक्षों की दो

अप्टमी, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तथा पंचदशी ये चार दिन उपोसथ करने के लिए निर्धारित किये गये है । उपयुक्त ४ दिनों में से चतुदशी एवं पंचदशी को प्रातिमोक्ष का पाठ किया जाता है। चुल्लवग्ग। ५ प्रातिमोक्ष खंधक ।

३४१. हिस्ट्री, आन पालि लिटरेचर, प्रथम, पृ. २२ ।

३४२. डॉ. लाहा, हिस्ट्री आन पालि लिटरेचर, पृ. २२ ।

३४३. उद्धरण के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय का पालि साहित्य का इतिहास

३४४. अभिधम्मत्थ फिलासफी।

३४५. संगणि शद्व में संकलन का ही भाव निह्वित्त है। धम्मसंगणि प्रो. बापट द्वारा संपादित पृ. १२ (भूमिका) ।

३४६. भ.सि.उ. । पा.सा. का इ., पृ. ३५८ ।

द्वितीय अध्याय

पालि वाङ्.मय में कर्म का स्थान, स्वरुप, महत्त्व एवं अन्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में, पालि वाङ्.मय में अभिव्यक्त भगवान बुद्ध के कर्म संबंधी विचारों, धारणाओं को ठीक ठीक समझने की दृष्टि से बुद्ध पूर्व एवं तत्कालीन ऐतिहासिक, वैचारिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर कुछ चर्चा की गई है। कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक का संक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक समझा गया।

अब इसे दूसरे अध्याय में कर्म तथा धर्म, कर्म का स्थान एवं महत्त्व, कर्म तथा प्रतीत्य समुत्पाद, कर्म तथा अनातमवाद, कर्म तथा अनीश्वरवाद, कर्मका स्वरुप एवं अन्य भारतीय परंपराओं में कर्मकी अवधारणाएं आदि विपयोंकी चर्चा की जाएगी।

त्रिपिटकों में कर्म का स्थान एवं महत्त्व

कर्म सिद्धान्त का विवेचन त्रिपिटको के आधार पर करते समय यह आवश्यक है कि भगवान बुद्ध के उपदेशों के अनुसार कर्म तथा धर्म के स्वरुप को भलीभांति हृदयंगम कर लिया जावे।

पालि पिटकों में कर्म का स्थान सर्वोपरि होते हुए भी वह धर्म का एक पहलू मात्र है।[१] कर्म तथा धर्म का अनेकशः समान अर्थो में बुद्ध ने प्रयोग किया है। जैसे - प्राणातिपात, अदत्तादान, कामोपभोग में मिथ्याचार, मृपावाद, पिशुनवचन, पुरुपवचन, संप्रलाप, अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि[२] इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है।[३]

पालि वाङ्.मय में धर्म के विविध अर्थ

१. धर्म अर्थात कोई भी नैसर्गिक घटना

बौद्ध वाङ्.मय में इस जगत को किसी अलौकिक शक्ति द्वारा निर्मित नहीं माना जाता। किसी भी प्राणी के अस्तित्व की दशा पूर्णतः उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करती है। किसी भी वस्तु का यह लक्षण है की, वह परिवर्तनशील है। अर्थात् वह अनित्य एवं अनात्म है।[४] चराचर जगत का उपादान कारण रुप आदि पांच स्कंधो (समूहों) में बंटा हे।[५] सारे भौतिक पदार्थ रुप स्कंध में हैं। साधारणतः रुप वह है

जिसमें भारीपन और स्थान घेरणे की योग्यता हो।[६] जिसमें न भारीपन है, और जो कोई स्थान नहीं घेरता, वह विज्ञान स्कंध है।[७] रुप के संबंध से विज्ञान की तीन अवस्थाएं है- वेदना (अनुभूति होना), संज्ञा (जानकारी प्राप्त होना) और संस्कार अर्थात चित्त में उक्त जानकारी और अनुभव का असर रह जाना है।[८]

अनित्यता

वस्तुओं में निरन्तर घटित होने वाली परिवर्तनशीलता को ही अनित्यता कहा गया है। वस्तु में क्षण क्षण घटित होने वाले परिवर्तन मनुष्यमात्र की दृष्टि से सुखद भी हो सकते हैं तथा दुःखद भी हो सकते है। व्यक्ति इच्छानुसार वस्तुओं का स्वरुप न बदल सकता है, न इच्छा विरुद्ध होनेवाले अनिष्टकर परिवर्तनों को रोक सकता है। वस्तु में क्षण क्षण घटित होनेवाली परिवर्तनशीलता को ही आगे चलकर दुःख रुप कहा गया है।

अनात्मता

रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पांचो स्कन्धों को भगवान बुद्ध ने अनात्म कहा है। उनके कथनानुसार इन पांचो स्कधों के भीतर या बाहर अथवा इनसे कोई भिन्न आत्मतत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। जितना भी रुप हैं चाहे वर्तमान का हो या भूत का, चाहे भविष्य का, भीतर हो या बाहर, वह चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, अच्छा हो या बुरा, दूर हो या निकट निरन्तर बदलता रहता है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। चार महाभूतों[९] से बना रुप कभी स्थिर नही रहता। जहां सब कुछ (वेदयित) अनुभव है वहां मैं हू ऐसा नहीं होता। इसलिए वेदना को आत्मा समझना ठीक नहीं। यदि रुप आत्मा होता तो उसमें परिवर्तन न होता।[१०] रोग या पीडा न होती।इसी प्रकार संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्कंधो के विषय में जानना चाहिए। इन्हें अनात्म कहने का कारण यह है कि ये सब प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, अर्थात इनकी उत्पत्ति के हेतु व प्रत्ययों के होने पर नाम रुपात्मक पंच स्कंध होते हैं, न होने पर नहीं होते।और जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब निरोध को प्राप्त होनेवाला है।[११]

पालि पिटकों के अनुसार धर्म का यह प्रथम चरण, अर्थात कोई भी नैसर्गिक घटना पंच स्कंधो, बारह आयतनों एवं अठारह धातुओं में विभाजित है। रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पंच स्कंध कहे जाते है।[१२] बारह आयतन - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, काय एवं मन तथा रुप, शद्ब, गंध, रस, स्पर्श तथा धर्म (इंद्रियो के विषय) को बारह आयतन कहा जाता है।[१३]

अठराह धातुएं

एक प्रकार से यह बारा आयतनों की पुनरावृत्ति ही है। यहां इंद्रियों को उनके छह विषयों एवं उनके छह प्रकार के विज्ञान को धातु कहा गया है। यथा-चक्षु धातु-रुप धातु, रुप विज्ञान धातु, श्रोत्र धातु, शद्ब धातु एवं श्रोत्र विज्ञान धातु, घ्राण धातु, गन्ध धातु एवं घ्राण विज्ञान धातु, जिव्हा धातु, रस धातु एवं जिव्हा विज्ञान धातु, काय धातु, स्पृप्टव्य धातु एवं कायविज्ञान धातु, मनोधातु, मनोविज्ञान धातु एवं धर्म धातु, इन छह त्रिकों (६X३) को ही अठारह धातु कहा गया है।

२. धर्म-नैसर्गिक नियम

नैसर्गिक नियम तथा नैसर्गिक घटना इन दो बातों को एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रुप में समझना चाहिए वे पूर्णतः एक दूसरे पर अवलंबित है।[१५] क्योंकि निसर्ग से ही नैसर्गिक नियम बनते है। कारण - कार्य के नियम को ही नैसर्गिक-नियम कहा गया है। सारिपुत्र ने जब अश्वजीत से अपने गुरु (बुद्ध) की शिक्षा का सार पूंछा तो उन्होंने कहा था 'ये धम्मा हेतुप्पभवा ते सं हेतु तथागतो आह।' ते सं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो।[१६] जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हुए हैं तथागत उनके हेतुओ को बतलातें हैं और उनका जो निरोध (नाश-हेतु) है, उसे भी बतलाते हैं। यही तथागत का वाद (शिक्षा) है। योग्य कारण, योग्य परिस्थितियां होने पर ही योग्य परिणाम (विपाक) को उत्पन्न करता है। एक बार वस्तु अस्तित्व में आयी कि वह पूर्णतः नैसर्गिक नियमों के आधीन हो जाती है। वह बनती है, बिगडती है, एवं नप्ट होती है। इसीलिए इन नैसर्गिक नियमों को भी 'धर्म' यह अभिधान दिया गया है।

३. धर्म अर्थात धर्म की शिक्षा, सिद्धान्त एवं व्यवहार

भगवान बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार चलना, त्रिरत्न अर्थात बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण जाना आदि, बौद्ध धार्मिक आचरण धर्म के ही अंग है। बुद्ध की इन शिक्षाओं एवं दैनंदिन व जीवनपर्यन्त आचार व्यवहार के सिद्धान्तों को भी धर्म कहा गया है। इसी संदर्भ मैं कहा गया है कि बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का शास्ता होगा।[१८]

४. सामाजिक व नैतिक आचरण

सामाजिक व नैतिक आचरण का प्रतिपादन करते हुए भगवान बुद्ध ने कर्म के कुशल व अकुशल ऐसे दो भेद करके कुशल कर्म को धर्म व अकुशल कर्म को अधर्म कहा है। कुशल कर्म का परिणाम कुशल (शुभ) और अकुशल कर्म का तदनुसार (अकुशल) अशुभ परिणाम होता है। पिटको में कहा गया है कि जो धर्म के अनुसार चलता है वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। संपूर्ण बौद्ध साहित्य में चार आर्य

सत्य, प्रतीत्य समुत्पाद, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि पारमार्थिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों को भी 'धर्म' शद्ब से ही अभिहित किया गया है। इस प्रकार पालि साहित्य एवं बौद्ध परंपरा में 'धर्म' शद्ब जितने व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, उतना अन्य कोई शद्ब कहीं नही किया गया।

धर्म के उपयुक्त विविध अर्थो को देखने पर स्पष्टतः विदित होता है कि धर्म तथा कर्म समानार्थक भी है और भिन्नार्थक भी। धर्म अत्यंत व्यापक है और कर्म है उसका एक पक्ष। कर्म तथा धर्म का संबंध आकाश एवं अन्य महाभूतो के समान है। सभी महाभूत व्यापक हैं अर्थात वें आकाश को व्याप्त करके रहते हैं। आकाश उनके द्वारा व्याप्य है। आकाश में महाभूत भी है और अन्य पदार्थ भी। इसी प्रकार कर्म धर्म को व्याप्त करके रहता है और धर्म उसके द्वारा व्याप्य है। इसका अर्थ है कि धर्म कर्म भी है और उसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी। कर्म सिद्धान्त मुख्यतः धर्म के चतुर्थ अंग से संबंधित है। कुशल तथा अकुशल कर्म के रुप में पर्याय रुप से कुशल तथा अकुशल कर्मो की चर्चा इस सिद्धान्त के संबंध में पालि वाङ्.मय में की गई है।

कर्म तथा अन्य सिद्धान्तों का संबंध एवं कर्म का महत्त्व

धर्म के साथ कर्म का क्या संबंध है यह धर्म की विविध व्याख्याओं के माध्यम से हमने देखा है। अब देखना है कि कर्म का पालि वाङ्.मय में स्थापित सिद्धान्तों में क्या स्थान है? और वह किस रुप में चर्चित है?

सभी धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति, स्थापना एवं विकास में कुछ मानवीय-समस्याओं का हाथ रहा है। भगवान बुद्ध के भी सामने कुछ समस्याएं थी। वे समस्याएं और उनका निराकरण यही ४ आर्य सत्यों का विषय है। इन्हीं आर्य सत्यों में बौद्ध कर्म सिद्धान्त समाहित है। इन्हीं में से वह प्रस्फुटित होता है और इन्हीं की वह व्याख्या प्रस्तुत करता है।

दुःख, दुःख समुदय, दुःख, निरोध एवं दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा ये चार आर्य सत्य कहे गये है।

प्रथम आर्य सत्य-दुःख

इस आर्य सत्य में दुःख को व्यापक अर्थो में ग्रहण किया गया है। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसका दुःखो से छुटकारा नहीं होता। जन्म, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास, परेशानी, प्रियजनों का वियोग, अप्रियजनों का संयोग - इच्छित वस्तु जो नहीं मिलती वह भी दुःख है। उन उन प्राणियों का उन उन योनियों में जो जन्म-संजाति-अवक्रमण-अभिनिवृत्ति (भौतिक और अभौतिक) स्कंधों का प्रादूर्भाव, आयतनों (इन्दिय विषयों) का लाभ है यही जन्म कहा जाता है। उन उन प्राणियों का उन उन योनियों मे जो बूढा होना - जीर्णता खाण्डित्य (दांत

टूटना) बालित्य (बाल पकना) चमडी सिकुडना, आयु की हानि, इन्दियों का परिपाक है। यही बुढापा कहा जाता है। उन उन प्राणियों का उन उन योनियों से च्युत होना मरण, उन व्यसनों से दुःखों से पीड़ित का जो शोक-शोचना-शोचितत्त्व वही शोक है। रोना क्रन्दन करना, चिन्ता पश्चाताप, झुरना इन अवस्थाओं को आदेवना परिदेवना कहा गया है। शारीरिक पीडा काया के प्रतिकूल स्पर्श से होनेवाले असात या अप्रीतिकर अनुभव को दुःख कहते है। जो मानसिक पीडा मन का प्रतिकूल स्पर्श से हुआ असात अनुभव दौर्मनस्य कहलाता है। उन उन व्यसनों से युक्त, उनसे पीडित व्यक्ति का जो आयास-उपायास अर्थात हैरानी परेशानी होती है।, वही उपायास है। संक्षेप में रुप, वेदना,संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पांचो उपादान स्कंध ही दुःख है। यही प्रथम दुःख आर्य सत्य है।[२०]

द्वितीय आर्य सत्य दुःख समुदय

द्वितीय आर्य सत्य में दुःख का कारण बताया गया है। वह कारण क्या है ? जो यह रागयुक्त नन्दी (तृष्णा) है जो यहां वहां सर्वत्र सभी पदार्थो में जाती है, पदार्थो का अभिनंदन, इच्छा, अभिलाषा करती है, वही दुःखों का कारण है।[२१] कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से तृष्णा अकुशल कर्म की कोटी में आती है। दुःख है और दुःख का तृष्णा रुपी कारण है। कारण का निरोध करने से दुःख रुपी कार्य का निरोध किया जा सकता है। इसी को दुःख निरोध नामक द्वितीय आर्य सत्य कहा गया है।

तृतीय आर्यसत्य दुःख निरोध

उस तृष्णा का सर्वथा निरोध त्याग-प्रतिनिस्सर्ग-मुक्ति-अनालय होकर सर्वथा प्रहाण निरोध हो जाना यही तृतीय दुःख निरोध आर्यसत्य है।[२२]

चतुर्थ आर्य सत्य दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद

इसी को आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। आर्य अष्टांगिक मार्ग के आठों अंग कुशल कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इन्हीं को बुद्ध ने संक्षेप में कहा है कि दो ही बाते सिखाता हूं, दुःख तथा दुःख से मुक्ति ।[२४] शील के रुप में कहे गये ३६७ बोधिपक्षीय धर्म भी कुशल कर्म ही हैं। यथा- ४ स्मृति प्रस्थान, ४ सम्यक प्रथान, ४ ऋद्धिपाद, ५ मानसिक इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग एवं ८ आर्यमार्ग।[२५] इन धर्मो को बोद्धिपक्षीय कहने का कारण यह है कि ये साधक को निर्वाण या मुक्ति के पथ या पक्ष में ले जाते है।

महापुरुष के बत्तीस लक्षण यथा-सुप्रतिष्ठित पाद[२६-५], पैर के तलवे में र्स्वाकार परिपूर्ण नेमि युक्त सहस्र ओरोवाले चक्र,[६] आयतपार्णि७, दीर्घअंगुल[८], मृदुहस्तपाद९, जालहस्तपाद[१०], उस्संखपाद[११], एणीजंघा[१२], आजानुबाहू[१३], सूक्ष्मछवि[१],

एकैकलोम , उर्ध्वग्र लोम , ब्राह्मय-ऋजुगाअ[४], सप्तउस्सद[५], सिंहपूर्वाद्धकाय[६], चितान्तरास[७], न्यग्रोध परिमण्डल ' समवर्तस्कधं रसग्ग-सग्गि[१०], सिहंहनु[११], चव्वालीस दन्त[१२], समदन्त[१३], अविवरदन्त[१४], सुशुक्लदाढ[१५], प्रभूतजिव्ह[१६], ब्रह्मस्वर[१७], अभिनीलनेत्र[१८], गोपक्ष[१९], कपास सी उर्णा[२०], एवं उष्णीषशीर्ष[२१], ये सब कुशल कर्मो के कारण ही प्राप्त होते है।[२७] जिस माता की कोख में ३२ लक्षणवाला महापुरुष जन्म ग्रहण करने वाला होता है, उसकी मां भी पंचशीलो का पालन करनेवाली अर्थात कुशल-कर्म-प्रथ-गामिनी होती है।[२८] कुशल कर्मो से ही व्यक्ति की उन्नति संभव है। भगवान बुद्ध ने इन कर्मो के विषय में जो कुछ कहा है, वह तथा उपासकों एवं भिक्षुओं के अन्य सभी शील सदाचार कुशल-कर्मो की कोटी में आते है।

बोधिसत्त्व का सिद्धान्त भी कुशल कर्मो पर ही आधारित हैं। दस पारमिता को बोधिसत्त्व अवस्था में रहकर उन्हें पूरी करने पर ही बोधिसत्त्व बुद्ध कहलाये। वे दस पारमिताएं भी कुशल कर्म ही है। शील, दान, उपेक्षा, नैष्क्रम्य, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, करुणा तथा मैत्री इन गुणों की निरतिशय पूर्णता को ही पारमिता कहते हैं।[२९] कर्म के आधार पर ही बुद्ध ने अपने को भिन्न अपेक्षाओं से अक्रियावादी भी कहा है और क्रियावादी भी। अकुशल कर्म न करने के कारण वे अक्रियावादी एवं कुशल कर्म करने के कारण क्रियावादी हैं। ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है। कर्मवादी होने के कारण तथा प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्यकारण नियम) को भवचक्र नाम देकर पर्याय से उसे कर्मचक्र कहकर उन्होंने अपने आपको अनिश्वरवादी बतलाया। कर्म अर्थात् श्रम को ही व्यक्त की सम्पन्नता अथवा निर्धनता का हेतु माना। राजा तथा प्रजा की स्थिति को भी कुशल कर्मो के अनुसार सुखद या दुःखद होना स्वीकार किया।[३०] इसी प्रकार विनय के विषय में भी यह देखा जाता है कि कुशलाकुशल कर्मो का विधि-निषेध यही संपूर्ण विनयपिटक की विषयवस्तु है।

उपसंपदा[३१] प्रदान करने से पूर्व कर्मवादी श्रमण-ब्राह्मण को अभ्यासकाल का बंधन लागू नहीं होता था। जिन्हें बुद्ध कर्मवादी नहीं मानते थे उनको परिवास दिया जाता था। इस संबंध में नग्नक साधुओं तथा जटिलकों का उदाहरण दिया जा सकता है।[३२]

निर्धारीत नियमों के विरुद्ध आचरण करने पर भिक्षु भिक्षुणियों के लिये दण्ड-विधान भी निश्चित था।[३३] बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त विनय के नियमों के विपरीत आचरण करनेवाले भिक्षुओं की भर्त्सना की जाती थी और आज भी की जाती है। विनय की पृष्ठभूमि में संघ भेद का इतिहास एक दृष्टि से (कुशलाकुशल) कर्मो को ही इतिहास है। विंनयपिटक में प्रतिपादित नियमों तथा विहित कर्मो का यथोचित पालन करना इसे कुशल धर्मो का आदि (आरंभ), उनका मुखस्वरुप एवं उन सबमें प्रमुख कहा गया है। आदिमेतं मुखमेतं पमुखमेतमं कुसलानं धम्मान[३४] इससे

यह स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धान्त को कितने व्यापक परिमाण में संपूर्ण बौद्ध-धर्म में लागू किया गया है। प्रतीत्य समुत्पाद भी केवल कारण कार्य सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह कर्मचक्र है। इसे ही भवचक्र भी कहा जाता है। यह भव चक्र है; धर्म-चक्र या ब्रह्मचक्र है जिसे तथागत ने अपने सम्यक सम्बोधि रुपी स्वच्छ दर्पण में विश्व की बाह्य और आन्तरिक व्यवस्था में समया हुआ देखा था।[३५] कर्म के कारण ही उन्होंने पुनर्जन्म को स्वीकार किया। संबोधि प्राप्ति के उपरान्त उन्होंने कहा था -

अनेकजाति संसारं संधाविस्सं अनिव्विसं।

गहकारं गवेसन्तों, दुक्खा जाति पुनप्पुनं।।

गहकारकं दिट्ठोसि। पुन गेहं न काहसि[३६]

यहां जिस गहकारकं की बात कही गई है वह कर्म ही है जो अनेक जन्मों में बुद्ध को दौडाता रहा है। वही सबको दौडा रहा है और यदि हम पुनर्जन्मकारी कर्म करते रहेंगे तो भविष्य में भी दौडाता रहेगा। महापरिनिर्वाण में प्रवेश करने के पूर्व उनके अनुचर-आनंद ने पुछा था कि तथागत के शरीर का हम क्या करेंगे[३७] ? इस प्रश्न की उपेक्षा करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा कि तुम केवल सदर्थ के लिए प्रयत्न करों, उद्योग करो। अप्रमादिएवं आत्म संयमी होकर विहरो[३८] । बुद्ध के मृत शरीर की चिन्ता करना तुम्हारा काम नहीं है - इस कथन का स्पप्ट अभिप्राय कुशल कर्मो को करते रहने से है। अपने परिनिर्वाण के बाद किसी व्यक्ति विशेष को नेता न चुनकर धम्मदायाद[३९] के रुप में समग्र संघ को छोडना यह उनकी धर्म के रुप में कर्म पर गहरी आस्था ही व्यक्त करता हैं। उनका अभिप्राय था कि वे मार्गदाता हैं, मोक्षदाता नहीं[४०] । संसार का कोई भी शास्ता ऐसा नहीं है जिसने एक संघबद्ध धर्म को इस प्रकार केवल कर्म या धर्म मात्र की शरण में छोडा हो[४१] । कर्मो से ही उसके नानाविध विपय प्रवर्तित होते हैं, और विपाक स्वंय कर्म संभव है, कर्म से पुर्नजन्म होता है इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता हैं[४२] ।

इस प्रकार विश्व की संपूर्ण योजना मे कर्म ही सबसे प्रधान तत्त्व सिद्ध होता है। क्या हेतु है? क्या प्रत्यय है कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रुपवालों में हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई पडती है। कोई अल्पायु, दीर्घायु, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरुप, रुपवान, असमर्थ, समर्थ, दरिद्र, धनवान, निर्बुद्धि, प्रज्ञावान मनुष्य यहां दिखायी पडते है[४३] । इसका उत्तर जो भगवान बुद्ध ने दिया वही बुद्ध धर्म में कर्म का स्थान निर्धारित करता है। उन्होंने कहा था कि सभी प्राणी कर्मस्वक हैं, अर्थात कर्म ही इनका अपना है, वे अपने कर्म के स्वंय स्वामी, प्रभु और अधिकारी हैं, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को हीनता और उत्तमता में बांटता है[४४] । प्राणातिपाति, क्रोधी, ईर्ष्यालू, लोभी, अभिमानी, पाप कर्मों में चित्त को लगानेवाला व्यक्ति काया छोड मरने के बाद दुर्गति में उत्पन्न होता हे। यदि

इसके विपरीत जिसके कर्म शुभ हैं वह सुगति में जन्म लेता है[४५] । सदाचार से सदगति एवं दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है।[४७] किसी व्यक्ति के कर्मो को अपनी ज्ञान दृष्टि से प्रत्यक्ष कर भगवान बुद्ध यह जानते थे कि मरने के बाद यह अमुक शुभ या अशुभ योनि में उत्पन्न होगा[४८] कर्म नियम की अबाधता में जीवित विश्वास होने के कारण ही जामिन बनते हुए बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा था भिक्षुओं क्रोध को छोडो, लोभ को छोडो.... द्वेष को छोडो। तुम्हें फिर इस आवागमन में आना नहीं पडेगा[४९] । कर्म के कारण ही व्यक्ति ब्राह्मण बनता है जन्म से नहीं चाहे शूद्र हो या अन्य कोई भी प्राणी, यदि वह स्मृति-प्रस्थान की भावना करता है तो निर्वाण का साक्षात्कार कर करता है[५०] । पुण्य कर्म से आयु की वृद्धि होती है[५१] । बुद्ध की शरण जाना भी कर्म की ही शरण जाना है। बुद्ध शरण और कर्मशरण में कोई भेद नहीं है[५२] । जिसका कर्म अच्छा है वह बुद्ध के समीप है चाहे वह भिक्षु बुद्ध से सौ योजन की दूरी पर भी क्यों न हो और जिसका कर्म अच्छा नहीं है वह बुद्ध से दूर है चाहे वह बुद्ध की संघाटी के छोर को पकडकर उनके क़दम दर कदम पर भी क्यों न चल रहा हो[५३]। बुद्ध और धर्म एक रुप है, साथ ही कर्म भी। क्योंकि भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है कि बुद्ध को वही देखता है जो धर्म को देखता है[५४]। और धर्म को देखने का अर्थ है कर्म करना[५५]। भगवान बुद्ध की हम पर अनुकंपा है, और इस अनुंकपा का अर्थ है हम उनके धर्मदायाद बनें, शुभ कर्म करें। अर्थात उनके द्वारा बताये गये कुशल कर्मो में प्रवृत्त हों, और अकुशल कर्मो से दूर रहें[५६] । बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य यही प्रतीत होता है, कि बुद्ध की संबोधि एवं करुणा में जिसकी श्रद्धा है, उससे यही अपेक्षा है कि वह कुशल कर्म करे। यदि हम समझते हैं कि भगवान बुद्ध हितैषी, अनुकंपक शास्ता है, अनुकंपा करके धर्म का उपदेश करते हैं तो हमें चाहिए कि उनके उपदिष्ट धर्मो का अभ्यास करें[५७] । कर्म ही बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद का आधार है। कर्म को मानव जीवन के नैतिक संस्थान का आधार मानना धर्म है[५८] । बुद्ध भिक्षुओं को संबोधित करके कहते थे "तुम्हें हि किच्च आत्तप्पं अवखातारो तथागत्ता"[५९] अर्थात 'तपन' (तपःकर्म, या साधना) तो तुम्हें ही करना है तथागत तो केवल मार्ग बतानेवाले हैं। ये वृक्षमूल हैं, ये सूने घर हैं, ध्यान करों, प्रमाद मत करो[६०] । बुद्ध जानते थे कि कर्म ही उद्धार कर सकता है, उपदेश नहीं। इससे कहा जा सकता है कि बुध्द की प्रार्थना करके अपने उद्धार की बात सोचना गलत है। इस बात का साक्ष्य महापरिनिब्बाण सुत[६१] से भी प्राप्त होता है।

कर्म का स्वरुप

बौद्ध धर्म के मनोवैज्ञानिक स्वरुप को समझे बिना कर्म के स्वरुप को समझा नहीं जा सकता अतः नीचे इसकी चर्चा की जा रही है।

बौद्ध धर्म मनोवैज्ञानिक है। भगवान बुद्ध परम मनोवैज्ञानिक थे। यह उनके

उपदेशों के स्वरुप से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। जब तक मन के स्वरुप का चिन्तन तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत एक विषय बना रहा, तब तक इस पर स्वतंत्र रुप से गंभीर और व्यापक चर्चा नहीं हुई। अरिस्टाटल के समय तक यही स्थिति बनी रही, इसका साक्ष्य उनके डिएनिमा अर्थात 'आत्मा' (पर विचार) इस ग्रंथ से मिलता है। पूर्व समय में आत्मा यही एक चिन्तन का विषय माना जाता था। जिस क्षण से आत्मा का बोझ उतार दिया गया उसी समय से सही दृष्टि से जीवन, उसके हेतु, जीवन में मन का स्थान और कार्य इन बातों पर गंभीर चर्चा आरंभ हुई[६३]। मानस शास्त्रियों ने बहुत समय के पश्चात मन के संबंध में आत्मा से स्वतंत्र और आत्मा के बिना चिन्तन आरंभ किया। दूसरी और भगवान बुद्ध नें आरिस्टाटल के भी दो शताद्बी पूर्व आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार किया एवं मनुष्य के मन से उत्पन्न होने वाले कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार तथा व्यवहारों का विश्लेषण एवं चिकित्सा की[६४]। इसका साक्ष्य धम्मपदं की प्रथम एवं द्वितीय गाथाओं द्वारा होता है। जैसे -

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।

मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।।

ततो नं दुक्खमन्वेति चवक्कं व वहतो पदं।

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।

मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।।

*ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायनि।।*६४

अर्थात (१) मनुष्य के सब व्यवहारों मे मन ही पूर्वगामी है, सभी धर्म मनोमय एवं मनः प्रधान होते हैं। व्यक्ति यदि बुरे विचार से बोलता है या कार्य करता है तो दुःख उस व्यक्ति का पीछा उसी प्रकार करता है, जैसे बैलों का अनुगमन गाडी के चक्के करते हैं।

(२) मनुष्य के सब व्यवहारों में मन ही पूर्वगामी है, सभी धर्म मनोमय एवं मनः प्रधान होते हैं। व्यक्ति यदि बुरे विचार से बोलता है या कार्य करता है तो सुख उस व्यक्ति का पीछा उसी प्रकार करता है जैसे व्यक्ति का कभी साथ न छोडनेवाली उसकी छाया।

बुद्ध ने यह भी कहा है कि "चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि"[६५]। अर्थात भिक्षुओं मै चेतना को ही कर्म कहता हूं। चेतना के द्वारा ही काया से, वाणी से या मन से कर्म को करता है।[६६]। यदि हम चेतना को ही कर्मसर्वस्व मान लेते हैं तो उसके कायिक, वाचिक एवं मानसिक भेदों की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती। भगवान बुद्ध ने चेतना का अर्थ अनेकशः स्पष्ट किया है। चेतना का तात्पर्य है कर्मो

का मूलाधार। जैसे 'मनोपुब्बंगमा धम्मा' इस वाक्यांश में धर्म का अर्थ क्रिया मात्र है। उसी प्रकार चेतना का अर्थ यहां पर 'सभी कर्मों का आधार' है। इसलिए ही बुद्ध ने कहा कि चेतना के ही द्वारा व्यक्ति काया से, वाणी से या मन से कार्य करता है। चेतना ही कर्म का मूल है एवं कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म इसके उपरि स्तभं, शाखा एवं पत्तों के समान है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपनिषदों में जबकि तत्त्व गवेषणा का केन्द्र आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, परमचेतना या परमसत्ता (परासत्ता) है, भगवान बुद्ध ने मनुष्य के आन्तरिक व्यक्ततिव का विशलेषण चित को केन्द्र में रखकर किया है। चित एवं चैतसिक धर्मो का विश्लेषण यह एक महान एवं क्रांतिकारी कार्य माना गया है। प्रतीत होता है कि इसी कारण भन्ते नागसेन ने कहा था कि अरुप, चित्त, चैतसिक धर्मो के सबंध में, जो एक ही आलंबन में विद्यमान रहते है अलग अलग ऐसा विश्लेषण करके दिखाना कि यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है, यह भगवान का एक अतिदुष्कर कार्य है[६७] । चित्त और चैतसिक धर्मो का विश्लेषण यही संपूर्ण अभिधम्मपिटक का विषय है। धम्मसंगणि में कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मो में प्रकारान्तर से कर्म का ही विभाजन किया गया है।

मनुष्य जिस मनोवृत्ति से कोई भी कार्य करने में प्रवृत्त होता है, उसे पालि ग्रंथो में छह भागों में बांटा गया तथा लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ, अद्वेष एवं अमोह। इन मनोवृत्तियों को ही अभिधर्म में कर्म के हेतु की संज्ञा दी गई है। इन छह हेतुओं को ही कुशल एवं अकुशल हेतुओं में विभाजन किया गया है। इन्हीं को कुशल मूल एवं अकुशल मूल भी कहा जाता है। लोभ, द्वेष, मोह ये अकुशल मूल अथवा अकुशल हेतु हैं। अर्थात ये ही अशुभ कर्मो की जड हैं। इसके विपरीत अलोभ, अद्वेष एवं अमोह ये तीन कुशल मूल अथवा कुशल हेतु कहे गये हैं। ये शुभ कर्मो की जड हैं।

कुशल एवं अकुशल चित्तों के अतिरिक्त चित का और एक भेद है, जिसे अव्याकृ त कहा जाता है। जैसे रुप-चार महाभूत और उनपर आधारीत सृष्टि क्रम सभी रुप के अन्दर हैं। जितना भी चार महाभूतों का रचा व्यवहार है, वह अहेतुक है। अर्थात उसकी क्रियाओं में लोभ, द्वेष मोह या अलोभ, अद्वेष , अमोह का कोई संबंध नहीं है। उसी प्रकार चित्त के इन छह हेतुओं से रहित स्वभाव एवं नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित सारे कार्य-व्यापार 'अव्याकृत' कोटि में आते हैं और चित की उस अवस्था को अव्याकृत-चित कहते हैं। जैसे हमारे दैनंदिन जीवन की नित्य नैमित्तिक क्रियाएं श्वासोच्छवास मल-मूत्र विसर्जन आदि।

यह एक सत्य है कि चेतना की जिस व जितनी गहराहयों और सूक्ष्मताओं तथा विस्तार में पालि-ग्रन्थों में चिन्तन हुआ है, वहां तक वे आधुनिक 'मनस' चिन्तक अभी तक भी नहीं पहुंच पाए जो अन्तश्चेतना के विषय मे बडे बडे दावे करते है।[६८]

नाते मै विश्वास करता हूं कि बौद्ध धर्म ही सबसे अधिक परिपूर्ण धर्म है जिसे संसार ने देखा है। बुद्ध का दर्शन, विकासवाद का सिद्धान्त, कर्म का नियम, ये किसी भी सिद्धान्त से बहुत अधिक श्रेष्ठ हैं [६९] ।

कर्म तत्त्व की व्यापकता

इस संपूर्ण सृष्टि का जीवन और अस्तित्व कर्म से ही है और रहेगा। कर्म के ही माध्यम से व्यक्ति अपने भूत, भविष्य एवं वर्तमान से जूडा हुआ है। बीता हुआ आज ही अतीत का कल बनता है और आनेवाला कल आज बन जाता है। यह वर्तमान भूत तथा भविष्य का चक्र अनादि युगों से इसी प्रकार चला आ रहा है। वर्तमान का स्वीकार किये बिना, भूत और भविष्य का कोई अनुमान लगाया नहीं जा सकता। यूं तो वर्तमान के आधार पर भी यह सिद्ध करना आसान नहीं है कि अमुक व्यक्ति भूत में ऐसा था? अथवा भविष्य में ऐसा होगा?, किन्तु इस प्रकार के ज्ञान एवं सत्ता के कालिक अस्तित्व की संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि कर्म शक्ति का कभी नाश नहीं होता, यह तो अब भौतिक विदों ने भी सिद्ध किया हैं। और इससे पुर्नजन्म के सिद्धान्त को भी बल प्राप्त हुआ हैं। यद्यपि पुर्नजन्म के विषय में हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, तथापि भारतीय धर्म-शास्त्रों के अनुसार योगीजन, दिव्य चक्षुओं की सहायता से एक जाति, दो, तीन, चार पांच, दस, बीस तीस, चालीस,, पचार, सौ, हजार... अनेक सवर्त कल्पों अनेक विवर्त कल्पों तक में वहा था, इस नामवाला, इस गोत्रवाला.... मै वहां से (च्युत होकर) मर कर वहां उत्पन्न हुआ इस तरह आकार प्रकार के साथ वह अनेक पूर्व जन्मों का स्मरण व ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं[७०] । इस विषय में इतना ही कहा जा सकता हैं कि इस प्रकार का योगियों का अतिन्द्रिय अलौकिक ज्ञान ही पुर्नजन्म का वास्तविक साक्ष हैं[७१] ।

मन-क्षण तथा कर्म

भगवान बुद्ध के दर्शन ने क्षण क्षण होनेवाले परिवर्तन के कारण आगे चलकर क्षणिकवाद के सिद्धान्त का रुप ले लिया। इस वैज्ञानिक क्षणिकवाद के आधार पर भी कर्म के सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार किसी नदी की अविरल बहती हुई धारा, एक रस तथा एक रुप होकर बहती है परन्तु उसकी प्रत्येक आनेवाली बूंद प्रत्येक पूर्वगामी बूंद से भिन्न होती है, किन्तु इस प्रवाह के सूक्ष्म बिन्दुआं को अलग अलग करके देखा नहीं जा सकता उसी प्रकार सृष्टि अथवा प्राणियों की जीवनधारा के अध्वत्रय में विभक्त सूक्ष्म काल क्षणों को भी अलग अलग करके देखा नही जा सकता है, किन्तु कालक्षणो का सूक्ष्मत्व समय के किसी भी परिमाण से नापा नहीं जा सकता। यदि हम वैसा करने में सक्षम हो भी सकें तो भी

मन की गति और उस गति के कालमान को मापा नहीं जा सकता। एक क्रिया के परिणाम स्वरुप सहस्रों प्रतिक्रियाएं होती हैं, ऐसा भौतिकविदों का कहना है। उसी प्रकार मन अकेला ही मानो एक ही क्षण, में अनेक पूर्व घटनाओं का स्मरण, स्थान-व्यक्ति आदि का चिन्तन करता है एवं भविष्य के अनेक कल्पना चित्र बना लेता है। इस मन की शक्ति अगाध है तथा गति दुर्बोध्य।युगपत बहनेवाले जल के प्रवाह को बांधकर मनुष्य उसे एक निश्चित दिशा में प्रवाहमान कर लेता है और उस प्रवाह बन्धन से उत्पन्न शक्ति का नाना कार्यो में उपयोग लेता है, उसी प्रकार मन, चेतना अथवा कर्म के प्रवाह को भी मनुष्य अपने ही प्रयत्नों द्वारा रोक सकता है।किन कर्मो से किन कर्मो को और क्यों रोकना चाहिए यह भी इस प्रबंध में चर्चा का एक विषय है।

वस्तुतः उठना, बैठना, सोना, पढना इन सभी क्रियाओं का एकीकृ त नाम ही जीवन है। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वे केवल क्रियाए मात्र हैं। कुशलाकुशल का विचार करने पर ही उन क्रियाओं को कर्म की कोटि में लिया जाता है। फिर उन क्रियाओं का भी कर्म न होते हुए जीवन में अनिवार्य योगदान है। क्रिया एवं कर्मो के मिलाप को ही जीवन कहा जाता है। कर्म तथा जीवन की एक रुपता जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ प्रतीत होती है, उसी प्रकार मोक्ष में भी। कर्म तथा मुक्ति की यही व्याख्या बौद्ध दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्म तथा कर्म मुक्ति का अर्थ है कर्मों में मुक्ति यहां अलोभ, अद्वेष तथा अमोह आदि कुशल कर्मों से लोभ, द्वेष तथा मोह रुपी अकुशल कर्मो का निरोध करना होता है। इनके पूर्ण निरोध को ही संक्षेप में मोक्ष कहा जा सकता है।साध्य तथा साधन को एक रुप मानकर निर्वाण की ऐसी कल्पना न्यूनाधिक सभी भारतीय विचारकों को मान्य हैं। इसी अनुभूति को प्रकट करनेवाले काव्यमय उद्गार हमें थेर-थेरी गाथा में मिलते हैं। उनके ऐसे ही आध्यात्मिक अनुभवों को मध्ययुगीन मराठी सन्त शिरोमणी तुकाराम[७२] ने यूं व्यक्त किया है - 'इसी शरीर में उन्हीं आखो से (मन से) मुक्ति के आनंद का मैनें अनुभव किया'। इस प्रकार कर्म के साथ धर्म, दर्शन, मोक्ष एवं समाज का घनिष्ठ संबंध उसकी सर्व व्यापकता एवं गहनता प्रकट होती है। उसी से सृष्टि एवं मानवीय जीवनके सारे क्रिया-कलाप जुडे हुए हैं।

कर्म एवं प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) का 'अर्थ पालि ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है -

(पटिच्च-प्रतीत्य) इसके होने से (समुप्पाद-समुत्पाद) यह उत्पन्न होता है - इद पटिच्च इंद भवति। इस व्याख्या में यह गर्भित है कि इसके न होने से यह नहीं होता, अथवा इसके निरोध होने से, यह भी निरुद्ध हो जाता है[७३] । 'प्रत्यय' शब्द यहां

बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, समुदय और उद्भव आदि शब्द इस प्रसंग में समान अर्थ में व्यवहृत होते हैं[७४] । प्रतीत्य समुत्पाद को 'तथता' 'अवितथता, अनन्यथता एवं इंद्र प्रत्ययता' भी कहा जाता है[७५] । 'तथता' का अर्थ है उन उन प्रत्ययों से उन उन धर्मो, पदार्थो या अवस्थाओं की नियमानुसार उत्पत्ति । उनसे कम या अधिक की नहीं। 'अवितथता' का अर्थ है प्रत्यय सामग्री विद्यमान रहने पर उससे उत्पन्न होने वाले धर्म भी अनिवार्य रुप से उपस्थित होते ही हैं। 'अनन्यथता' अर्थात जिन पदार्थो की उत्पत्ति के जो हेतू या प्रत्यय हैं, उनके होने से ही उन पदार्थो-तत्त्वों की उत्पत्ति होगी, किन्ही अन्य के होने से नहीं। यथा 'अविज्जा पच्चया संखारा'[७६]- संखारपच्चया विञ्ञाण - अर्थात दो वाक्यों में क्रमशः अविद्या के होने से संस्कार और संस्कारों के होने से विज्ञान उत्पन्न होता है किन्ही अन्य हेतु प्रत्ययों से यह नहीं होगा। इदं - प्रत्ययता का अर्थ है सभी पदार्थ प्रत्ययों या प्रत्यय समूहों के द्वारा ही उत्पन्न होने वाले होते हैं । पदार्थो की उत्पत्ति विषयक सामग्री में इसके प्रत्यय (कारण) से यह ऐसा संबंध नित्य बना रहता है। इसी को इंद-प्रत्ययता कहा जाता है।

केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान ही प्रतीत्य समुत्पाद नहीं है[७७] । जिसके होने से जो अन्य वस्तु उत्पन्न होती है, तब पहली वस्तु उस दूसरी वस्तु का प्रत्यय (अर्थात कारण) कहलाती है[७८] । इसी प्रकार जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अवश्यम्भावी रुप से आश्रय (या सहारा) लेकर स्थित होती है या उत्पन्न होती है, तो दूसरी वस्तू उस पहली वस्तू का 'प्रत्यय' कहलाती है[७९] । प्रत्यय का लक्षण है, उपकारक या सहायक होना[८०] ।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यय सामग्री के हेतु (कारण) से जो धर्मो का स्थिति में आना हैं उसे ही प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है। धर्म एवं प्रतीत्य समुत्पपाद की एकरुपता भगवान बुद्ध के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई हे - कि जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है और जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है वह धर्म को ही देखता है। प्रतीत्य समुत्पाद के बारह अंग अनुलोभ, प्रतिलोभ और अन्य कई प्रकार से निम्न रीति से गिनाये गये है-

(अ) *अविद्या - पच्चया - संखारा।*
संखारा - पच्चया - विञ्ञाणं।
विञ्ञाणं - पच्चया नामरुप।
नामरुपं - पच्चया - षडायतन।
षडायतन पच्चया फस्सो
फस्स - पच्चया - वेदना
वेदना - पच्चया - तण्हा।
तण्हा - पच्चया - उपादान।

उपादांन - पच्चया - भवो।
भव - पच्चया - जाति।
जाति पच्चया - जरा-मरण-सोक-परिदेव
दुक्ख दोमनस्सुपायासा संभवति।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खन्धस्स समुदयो होति।
अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुप्पादो।[८१]
अर्थात्
अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं।
संस्कार के प्रत्यय से होता है विज्ञान।
विज्ञान के प्रत्यय से उपजता है नामरुप।
नामरुप के प्रत्यय से जन्म लेता है षडायतन।
प्रत्यय से होता है स्पर्श।
स्पर्श के प्रत्यय से उत्पन्न होती है वेदना।
वेदना के प्रत्यय से जनमति है तृष्णा।
तृष्णा के प्रत्यय से होता है उपादान ।
उपादान के प्रत्यय से निर्मित होता है भव।
भव के प्रत्यय से होती है जाति (जन्म)।
जाति के प्रत्यय से उपजते हैं जरामरण।
शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य एवं उपायास।

इस प्रकार इस संपूर्ण दुःख स्कंध का समुदय होता है[८२] ।उपरोक्त पध्दति को अनुलोम पध्दति कहा गया है। इसी क्रम से दुःख के निरोध को भी बतलाया गया है। जैसे -

अविज्जाय त्वेव असेस विराग निरोधा संखार निरोधो

संखार-निरोधा	*विञ्ञाण निरोधो ·।*
विञ्ञाण-निरोधा	*नामरुप-निरोधो।*
नामरुप-निरोधा	*सलायतन निरोधो।*
सलायतन-निरोधा	*फस्स-निरोधो।*
फस्स-निरोधा	*वेदना-निरोधो।*
वेदना-निरोधा	*तण्हा-निरोधो।*
तण्हा निरोधा	*उपादान-निरोधो।*
उपादान-निरोधा	*भव-निरोधो।*
भव-निरोधा	*जाति-निरोधो।*
जाति-निोधा	*जरा-मरण-सोश-परिदेव।*
दुवख-दोननस्सुपायासा	*निरुझन्ति।*

एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्च समुप्पादो[८३]*।*

अर्थात्,

अविद्या का पूर्णतः निरोध हो जाने से संस्कार का निरोध होता है।
संस्कार का पूर्णतः निरोध हो जाने से विज्ञान का निरोध होता है।
विज्ञान का पूर्णतः निरोध हो जाने से नामरुप का निरोध होता है।
नामरुप का पूर्णतः निरोध हो जाने से षडायतन का निरोध होता है।
स्पर्श का पूर्णतः निरोध हो जाने से वेदना का निरोध होता है।
वेदना का पूर्णतः निरोध हो जाने से तृष्णा का निरोध होता है।
तृष्णा का पूर्णतः निरोध हो जाने से उपादान का निरोध होता है।
उपादान का पूर्णतः निरोध हो जाने से भव का निरोध होता है।
भव का पूर्णतः निरोध हो जाने से जरामरण का निरोध होता है।
जाति का पूर्णतः निरोध हो जाने से जरामरण का निरोध होता है।
जरामरण का पूर्णतः निरोध हो जाने से शोक, परिदेव, दुःख

दौर्मनस्य एवं उपायास का निरोध हो जाता है।[८४] इसी प्रकार प्रतिलोम पद्धति से इसका विवेचन निम्न प्रकार से मिलता है -

कतमो च भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो?[८५] जाति पच्चया जरामरण। उप्पादा वां तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतांन ठिता सा धातु धम्मटिठ्तता धम्मानियामता इदप्पच्चयता। तं तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति। अभिसम्बुज्झित्वा अभिसमेत्वा आचिवखति देसेति पञ्आपेति पट्ठपेति विवरति विभजति उत्तानी करोनि 'पस्सथ' ति चाह 'जाति पच्चया भिक्खवे जरामरण'।

भवपच्चया भिक्खवे, जाति.... पे.।
उपादान पच्चया भिक्खवे भवो।
तण्हा पच्चया भिक्खवे उपादान।
वेदना पच्चया भिक्खवे तण्हा।
फस्स पच्चया भिक्खवे वेदना।
सडायतन पच्चया भिक्खवे फस्स ।
नामरुप पच्चया भिक्खवे सलायतन
विञ्ञाण पच्चचया भिक्खवे नामरुपं
संखार पच्चया भिक्खवे विञ्ञाणं।
अविद्या पच्चया भिक्खवे संखारा[८५] *।*

इसी प्रतिलोम पद्धति के अनुसार उसका निरोध क्रम भी बतलाया गया है।

जैसे-

भिक्षुओं प्रतीत्य समुत्पाद क्या है? भिक्षुओं जाति के प्रत्यय से जरामरण होता है। तथागतों के उत्पन्न होने या तथागतों के उत्पन्न न होने पर भी यह धर्मस्थिति[८६], धर्म नियामता[८७], और इदम्प्रत्ययता[८८], वाली धातु (स्वभाव) स्थित होती ही है। उसे तथागत समझते हैं, जानते हैं, समझकर जानकर कहते हैं, उपदेश देते हैं, प्रज्ञापन करते हैं। खोलकर दिखलाते हैं, विश्लेषण करके दिखलाते हैं, स्पष्ट करते हैं और कहते हैं, भिक्षुओं देखो, जाति के प्रत्यय से जरामरण होते हैं, भव के प्रत्यय से जाति होती है, उपादान के प्रत्यय से भव होता है। इस प्रकार यह पंरपरा अविद्या के प्रत्यय से संस्कार तक चलती है।

आ) अथखो विपस्सिस्स बोधिसत्तस्स एतदहोसि-किम्हि नु खो असति जरामरणं न होति, किस्स निरोधा जरामरण निरोधो ति? अथखो विपस्सिस्स बोधिसतस्स योनिसो मनसिकारा अहु, पज्जाय अभिसमयोजातिया खो असति जरामरणं न होति, जातिनिरोधा जरामरण निरोधो ति। अथखो भिवखवे विपस्सिस्स बोधिसतस्स एतदहोसि किम्हि नु खो असति जाति न होति, किस्स निरोधा जाति निरोधा ति? अथखों विपस्सिस्स बोधिसतस्स योनिसो मनसिकारा अहु, पज्जाय अभिसमयो 'भवे खो असति जाति न होति, भवनिरोधा जाति निरोधा ति। अथखो.... असति भवो न होति, किस्स निरोधा भव निरोधा ति? अथखो....उपादाने खो असति भवो न होति, उपादान निरोधा भव निरोधा ति।..

तण्हा निरोधा उपादान निरोधा ति।
वेदना निरोधा तण्हा निरोधो ति।
फस्स निरोधा वेदना निरोधो ति।
सलायतन निरोधा फस्स निरोधो ति।
नामरुप निरोधो सलायतन निरोधो ति।
विञ्ञाण निरोधा नामरुप निरोधो ति।
संखार निरोधा विञ्ञाणं निरोधो ति।
अविज्जा निरोधा संखार निरोधो ति।[८९]

विपस्सी बोधसत्त्व के मन में ऐसा हुआ कि किसके न होने से जरामरण नहीं होता, एवं किसके निरोध से जरामरण का निरोध होता है? तब विपस्सी बोधिसत्त्व ने उचित रीति से चिन्तन करके, अपने चित से जाना कि जाति के न होने से जरामरण नहीं होता एवं जाति के निरोध से जरामरण का निरोध होता है। किसके न होने से जाति नहीं होती व किसके निरोध से जाति का निरोध होता है? भव के न होने से जाति नहीं होती, भव के निरोध से जाति का निरोध होता हैं। किसके न होने से भव नहीं होता व किसके निरोध से भव का निरोध होता है ? उपादान के न होने से भव नहीं होता व उपादान के निरोध से भव का निरोध होता है। इसी प्रकार

शेष प्रत्ययों के विषय में भी जानना चाहिए।

(इ) दूसरे प्रकार से सातवे प्रत्यय (अर्थात वेदना) से लेकर जरामरण आदि बारहवें अंग तक प्रतीत्य समुत्पाद को अंशतः इस प्रकार भी समझाया गया है-

वेदना पच्चया तण्हा

तण्हा पच्चया उपादान

उपादान पच्चया भवो

भव पच्चया जाति

जाति पच्चया जरामरण[९०] ।

(ई) तीसरे प्रकार से आठवी कडी (तण्हा) से लेकर अविद्या तक किन्तु प्रतिलोभ पद्धति से निरोध के रुप में प्रथम कडी अर्थात अविद्या तक इसी सिद्धान्त को निम्नलिखित रुप से बतलाया गया है-

इमे खो भिवखवे चतारो आहारा किं निदाना किं समुदया किं जातिका किं पमेवा ? 'इमे चतारो आहार तण्हा निदाना तण्हासमुदया तण्हा-जातिका तण्हापभवा'। तण्हा चाय भिवखवे, किं निदाना कि समुदया किं जातिका किं पभवा। तण्हा वेदना निदाना वेदना समुदया वेदना जातिका वेदनापभवा। वेदना चाय भिवखवे कि निदाना कि समुदया कि जातिका कि पभवा ? वेदना फस्स निदाना, फस्स समुदया फस्स जातिका फस्स पभवा। फस्सो चाय भिक्खवे किं निदानो किं समुदयो कि जातिको कि पभवो ? फस्सो सलायतन निदानो सलायतन समुदयो सलायतन जातिको सलायतन पभवो। सलायतन चिदं भिवखवे कि निदान कि समुदय कि जातिका कि पभवं ? सलायतन नामरुप-निदान, नामरुप-समुदय, नामरुप जातिक नामरुप पंभव। नामरुप चिंद भिक्वे कि निदान कि समुदय कि जातिक कि पभव? नामरुप वित्त्राण चिंद भिवखवे वित्त्राण समुदय वित्त्राण जातिक वित्त्राण पभंव। वित्त्राण चिंद भिक्खवे कि निदान कि समुदय कि जातिक कि पभंवा वित्त्राण संखार निदान संखार समुदय संखार जातिक संखार पभवं। संखारा चिमे भिवखवे कि निदाना कि समुदया कि जातिका कि पभंवा ? संखरा अविज्जा निदाना अविज्जा समुदया अविज्जा जातिका अविज्जा पभवा[९१] ।

इन चार आहारों का क्या निदान (हेतु) है? क्या समुदय है? (ये) किससे जन्मे हैं? किससे सम्भूत हैं? इन चारों आहारों का निदान तृष्णा है। समुदय तृष्णा है। ये तृष्णा से जन्म लेते हैं। ये तृष्णा से ही सम्भूत है। इस तृष्णा का क्या निदान है? क्या समुदय है? ये किससे उत्पन्न होती है? किससे सम्भूत है? इस तृष्णा से ही ये उत्पन्न होती है, वेदना से ही ये सम्भूत है। वेदना का क्या निदान है? क्या समुदय है? ये किससे उत्पन्न होती है ? किससे सम्भूत है? वेदना का निदान है स्पर्श, समुदय भी स्पर्श ही है, यह स्पर्श से ही उत्पन्न होती है यह स्पर्श से ही सम्भूत है।

स्पर्श का क्या निदान है? क्या समुदय है? ये किससे उत्पन्न होता है? ये किससे सम्भूत हैं?

स्पर्श का निदान षडायतन है, ये षडायतन ही स्पर्श का समुदय है, स्पर्श षडायतन से ही उत्पन्न होता है, ये षडायतन से ही वह सम्भूत है। षडायतन का क्या निदान है ? क्या समुदय है? ये किससे उत्पन्न होते है ये किससे समभूत हैं? नामरुप ही षडायतन का निदान है, नामरुप ही षडायतन का समुदय है? षडायतन से ही नामरुप उत्पन्न होता है, एवं नामरुप षडायतन से ही सम्भूत है। नामरुप का क्या निदान है? क्या समुदय है ? नामरुप किससे उत्पन्न होता है? ये किससे सम्भूत है? नामरुप का निदान विज्ञान है, समुदय विज्ञान है, नामरुप विज्ञान से उत्पन्न होता है एवं विज्ञान से ही सम्भूत है। विज्ञान का क्या निदान है ? क्यां समुदय है? ये किसेसे उत्पन्न होता है? ये किससे सम्भूत है। विज्ञान संस्कार का निदान है, समुदय से विज्ञान की उत्पत्त होती है एवं वह संस्कार से सम्भुत है। संस्कार का क्या निदान है? क्या समुदय है? संस्कार किससे उत्पन्न होते है एवं वे किससे सम्भूत है? संस्कार अविद्या का निदान है, समुदय है, संस्कार अविद्या से उतपन्न होते हैं, एवं अविद्या से ही वे सम्भूत हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद की विस्तृत चर्चा दीघनिकाय के महानिदान सुत्त में मज्झिम निकाय में, चूलसिंहनाद सुतन्त, महाहत्थिपदोपमसुतन्त, महातण्हा-संखय-सुतन्त, संयुक्त निकाय में निदान संयुक्त, उदान में बोधिवग्ग एवं पट्ठान आदि त्रिपिटक ग्रन्थों में और अनुपिटकों में मिलिन्द पन्ह के अंतर्गत लक्खणपञ्ह नामक परिच्छेद में तथा विशुद्धिमार्ग के १७ वे परिच्छेद में एवं अभिधम्मत्थसंगहो जैसे ग्रन्थो में पायी जाती है। इस प्रकार पिटक और अनुपिटक संपूर्ण पालि वाडमय में प्रतीत्य समुत्पाद और इसके साथ कर्म सिद्धान्त को बहुत ही महत्वपुर्ण स्थान दिया गया है, क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद को भी कर्म माना गया है[९२], तथा कर्मवाद के साथ प्रतीत्य समुत्पाद का (अनिवार्य, अविच्छेद्य एवं अविनाभावी) संबंध है[९३]।

प्रतीत्य समुत्पाद एवं चार आर्य सत्य के सिद्धान्तो पर एकत्र विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रथमतः प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त दुःख समुदय और दुःख निरोध नामक द्वितीय और तृतीय आर्य सत्यों की हेतु सम्मत व्याख्या करता है, और कारण-कार्य-भाव संबंधी अविचल नियम के आधार पर दुःख निरोध की संभावना दिखाता है तथा दूसरे कर्मो के कारणों व उनके निरोध के उपायो का दिग्दर्शन करता है[९४]। जो अधिक विस्तार के साथ चतुर्थ आर्य सत्य आर्य अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत बताया गया है। इस प्रकार एक ओर प्रतीत्य समुत्पाद में संक्षेप में चारों आर्य सत्य समाहित हैं तथा दूसरी ओर चार आर्य सत्यों में प्रतीत्य समुत्पाद गर्भित होता है।

भारत में भौतिकवादी विचारधारा के प्रथम प्रस्तोता बृहस्पति, जिनके दर्शन को व्यंग से 'चार्वाक' शब्द से अभिहित किया गया, उनके पश्चात् बुद्ध दूसरे विचारक, दार्शनिक और धर्मसंस्थापक थे जिन्होंने अनीश्वरवाद के साथ साथ उतने ही बल और दृढतापूर्वक अनात्मवाद के सिद्धान्त की भी स्थापना की। अनीश्वरवादी तो जैन चिन्तक भी थे, और जैन परम्परा आज भी वैसी है, तथापि आत्मा ही परमात्मा है, ऐसे प्रकारान्तर से उन्होंने परमात्म तत्त्व को तो स्वीकार कर लिया, सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं। बुद्ध ने आत्मा परमात्मा और ईश्वर विषयक सभी धारणाओं को स्पष्ट रुप से अस्वीकार किया।

ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने अनात्मवाद को प्रख्यापित किया तथा उनके बाद उनके शिष्यो प्रशिष्यो ने उस पर कई व्याख्याएं की। उत्तरकालीन आचार्यो नागसेन, बुद्धघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित ऐसे सैकडो आचार्यों में से ही कुछ नाम है[९५]। बौद्ध धर्म के कई संप्रदायो ने अनात्मवाद की भिन्न भिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की। भारतेत्तर मनीषियों ने भी इस पर विचार किया। इस विषय का प्रचूर साहित्य तिब्बती, चीनी, जापानी, बरमी, सिहंली और स्यामी भाषाओं में उपलब्ध होता है जिस तक किसी भारतीय विद्यार्थी की पहुंच कठिनाई से ही सम्भव है।[९५] ब्राह्मण एवं जैन (दोनों आत्मवादी) दर्शन परंपराओं के विचारकों ने भी तुलनात्मक दृष्टि से आर बौद्ध अनात्मवाद का शताद्बियों तक अध्ययन किया और आज भी कर रहे हैं। परन्तु हमें विशेष रुप से त्रिपिटक के आधार पर ही इस सिद्धान्त का स्वरुप निर्देश करना है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मवादी एवं अनात्मवादी दोनों दर्शनों में पाया जाता है। पुनर्जन्म धारण करनेवाला कोई न कोई तत्त्व अवश्य है, यह बात पुनर्जन्म माननेवाले सभी संप्रदायों में पायी जाती है। दार्शनिकों का इस संबंध में विवाद इसी एक बात पर है कि पुनर्जन्म धारण करने वाला वह तत्त्व नित्य है या अनित्य। इसी कारण से भारतीय दर्शनों में आत्मवादी एवं अनात्मवादी दर्शनों का इस सबंध में जबरदस्त विवाद चला आ रहा है। आत्मा एवं अनात्मा यह दो समानांतर वाद भगवान बुद्ध के पश्चात विशेष रुप से चर्चित पाये जाते हैं। चूंकि भगवान बुद्ध ने ही अनात्मवाद का सैद्धान्तिक रुप में विकास किया एवं उनके पश्चात कई अन्य संप्रदायों ने उसे अपने अध्ययन का विषय बनाया।

पुनर्जन्म की संगति आत्मवाद (नित्यतावाद) मानने से अधिक अच्छी तरह से लग सकती है या अनात्मवाद से। (अनित्यवाद) अनात्मवाद का विशेष महत्त्व इन्हीं सन्दर्भों में है ऐसा स्पष्ट होता है। वैदिकों की आत्मवादी एवं बौद्धो की अनात्मवादी

गया है।

भगवान बुद्ध कालीन विचारों में आत्मा संबंधी विविध धारणाएं

इसके पूर्व उपर्युक्त पृष्ठों पर कहा गया है कि 'आत्मा' की समस्या नित्यतावाद से संबंधित है। भगवान बुद्ध के समय में आत्मा और लोक को अशतः नित्य और अंशतः अनित्य माननेवाले दार्शनिकों के विचारों का उल्लेख ब्रह्मजाल [९७] सुत्त में दिया गया है। ऐसी मान्यताएं जैन दर्शन के नित्या-नित्यतावाद की ओर इंगित करती प्रतीत होती है। एक प्रकार से जैन दर्शन में उच्छेद वाद एवं शाश्वतवाद का समन्वय मिलता है। सांख्यदर्शन का परिणाम वाद भीवस्तुतः शाश्वतवाद है[९८]। परन्तु भगवान बुद्ध की माधमाप्रतिपदा आस्ति और नास्ति का समन्वय नहीं, अतिक्रम करती है।[९९] जैन दर्शन के अनुसार नित्यानित्य आत्मतत्त्व को भगवान बुद्ध नहीं मानते, वे एक ऐसी निरन्तर प्रवाहमान चित सन्तित को मानते हैं जिससे वे परस्परविरोधी बातें जो आत्मा के संबंध में कही जाती है उससे बच जाते हैं। बुद्धकाल में आत्मा और लोक के संबंध में विविध मत इस प्रकार थे -

कोई वैचारिक निम्नांकित हेतुओं के आधार पर आत्मा को मरणान्तर होशवाला[१००] मानते थे वे हेतु इस प्रकार हैं - मरणान्तर आत्मा रुपवान, रोगरहित और आत्मप्रतीति के साथ रहता है। वह रुपवान और अरुपवान होता है। वह न रुपवान और न अरुपवान होता है। आत्मा सान्त एवं अनंत होता है। न सान्त होता है और न अनन्त होता है। एकात्मसंज्ञीनानात्मसंज्ञी, परिमितसंज्ञावाला, अपरिमितसंज्ञावाला। शुद्ध, दुःखी तथा सुखी एवं दुःखी भी होता है। सुख दुःख से रहित भी होता है। अरोग एवं संज्ञी भी होता है।

मरणान्तर बे-होश होने वाला[१०१] आत्मा मानने के हेतु इस प्रकार दिये गये हैं-आत्मा संज्ञी, रुपवान और अरोग रहता है, रुपवान और अरुपवान, न रुपवान और न अरुपवान, सान्त, अनन्त, सान्त-अनंत, न सान्त और न अनन्त।

मरणानन्तर नहोश और न बे-होशवाला[१०२] आत्मा मानने में भी लगभग वही उपयुक्त आठ कारण दिये गये हैं, केवल असंज्ञी आत्मा की जगह 'नैवसंज्ञीनसंज्ञी' यह हेतु दिया गया है।

आत्मा का उच्छेद[१०३] मानने वालों की ओर से भी ७ हेतु प्रस्तुत किये गये हैं - संक्षेप में वे ऐसा मानते थे कि यथार्थ में आत्माचार महाभूतों से बना है और मातापिता के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिए शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी पूर्णत उच्छिन्न, विनष्ट और लुप्त हो जाती है। इस प्रकार उच्छेदवादी जीव (सत्त्व-आत्मा) का उच्छेद, विनाश और लोप बतलाते हैं।

आत्मा का इसी जन्में मे निर्वाण[१०४] या मोक्ष मानने में निम्न कारणों का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार मिलता है-यह आत्मा पांच कामगुणों (भोंगो) में लगकर सांसारिक भोग भोगता है और इसी संसार में आंखो के सामने ही निर्वाण पा लेता है। इस प्रकार आत्मा के संबंध में बुद्धकालीन नाना मतों का परिचय दिया गया है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि आत्मवादी दर्शनों के अनुसार कर्म तथा पुनर्जन्म की समस्या का समाधान सहज हो जाता है। आत्मवाद के समर्थक विचारवतों का कहना है कि आत्मा मान लेने पर पुनर्जन्म तथा कर्म की संगति बैठाने में कोई समस्या नहीं होती। परन्तु आत्मवादी दृष्टिकोण का गंभीर परीक्षण करने पर यह समस्या अनात्मवादी दर्शनों की अपेक्षा और भी कठिन होती हुई दिखाई देती है[१०५]।

पालि पिटकों के अनुसार अनात्मवाद बौद्ध धर्म की मूलभूत देशना है। बौद्धों की 'अनात्मा' की अवधारणा अनित्य के सिद्धान्त का ही परिणाम है[१०६] ये दो कल्पनाएं एक दूसरे के अतिनिकट हैं। एक का स्पष्टीकरण करने से दूसरी की आवश्यक रुप से व्याख्या हो जाती है।

कर्म एवं अनित्यतावाद

कर्म का अनित्यता से घनिष्ठ संबंध है। 'कर्म स्वंय भी अनित्य है' और वह ऐसे ही अनित्य विपाक या फल को उत्पन्न करता है। 'अनित्यता' की दृष्टि से कारण और कार्य के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। कार्य अपने कारणें में से उत्पन्न और अनित्य है, वैसे ही कारण भी अपने मौलिक धर्मो से उत्पन्न और स्वयं में अनित्य है। कार्य के पूर्व कारण का होना मात्र कारणता है। कारण स्वंय अनित्य रहकर ही अनित्य कार्य को उत्पन्न कर सकते हैं। यदि हम कूटस्थ नितयता के तत्त्व को स्वीकार करते हैं, तो उसमें कारणता नहीं हो सकती। क्योंकि वे दोनो परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। अनित्यता के कारण ही एक ओर कार्य को अस्तित्व मिलता है, दूसरी ओर किसी कार्य की घटना विशेष की आकस्मिकता या रहस्यमयता समाप्त हो जाती है। पुद्‌गल या व्यक्ति भी कारणों में से ही एक घटक मात्र है, इसलिये उसका अस्तित्व भी अन्य कारणों की तरह अनित्यता में ही संभव है। किसी भी परिस्थिति में किसी घटना के घटकों में से कोई भी एक अंशतः या पूर्णतः अनित्यता एवं परिवर्तनशीलता से तटस्थ नही रह सकता। बौद्ध अनित्यतावाद को स्वीकार कर लेने पर, गतिहीनता या नित्यता के लिये कोई अवकाश शेष नहीं रहता[१०७]।

अनात्मवाद

भगवान बुद्ध ने सारनाथ में जो दूसरा प्रवचन पंचवर्गीय भिक्षुओं को संबोधित करके दिया था वह अनत्तलक्खण सुत्त के नाम से विनय पिटक के महावग्ग में उपलब्ध हैं।

बुद्ध ने कहा-भिक्षुओं। रुप आत्मा नहीं है। यदि रुप आत्मा होता तो उसमें रोग न होता, और उसके विषय में कह सकते थे 'मेरा रुप' ऐसा हो, मेरा रुप ऐसा न हो। किन्तु उसमें रोग होता है और उसके संबंध में यह नहीं कह सकते कि मेरा रुप ऐसा हो या ऐसा न हो[१०८] । इसी प्रकार वेदना[१०९], संज्ञा[११०], संस्कार[१११], एवं विज्ञान[११२] के विषय में कहा गया हैं। अर्थात पंचस्कधों में कही भी आत्मतत्त्व विद्यमान नहीं है। यही बात अन्य स्थलों पर भी कही गयी है। अग्निवेश-गोत्र के सच्चक नामके एक नग्न साधु ने भगवान बुद्ध को जब पूछा कि आप अपने शिष्यो को क्या शिक्षा देते है तो उन्होने कहा कि रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पाचों स्कंध अथवा नाम रुपमय संपूर्ण सृष्टि रचना अनित्य, अनात्म एवं दुःख है, यही शिक्षा वे अपने शिष्यों को देते हैं[११३]। इसी का उपदेश उन्होंने राहुल को भी दिया था[११४] । इन्द्रियों पर संयम रखने की शिक्षा देते समय[११५] भी इसी का उपदेश दिया गया। परिलेय्यक वन[११६] में सभी भिक्षुओं को पूर्ण नामक शिष्य को[११७] तथा इन्द्रिय भावना[११८] एवं महापुण्णक[११९] नामक सुतन्त में भी इसी अनात्मवाद का उपदेश प्राप्त होता है। भगवान बुद्ध के कथन से अनित्य, अनात्म एवं दुःख लगभग पर्यायवाची शद्व प्रतीत होते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा था 'रुप नित्य है या अनित्य'?

अनित्य भन्ते।

जो अनित्य है वह दुःख है या सुख

दुःख भन्ते।

जो अनित्य दुःख और विकार को प्राप्त होने वाला है, क्या उसके लिए यह समझना उचित है कि यह (अनित्य पदार्थ) मेरा है, यह मैं हूं या यह मेरा आत्मा है?

नहीं भन्ते।

इसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान को भी अनित्य समझना चाहिए।

जो कुछ भी भूत, भविष्य, वर्तमानसंबंधी, भीतरी या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, अच्छा या बुरा, दूर का या नजदीक का रुप है, सभी रुप न मेरा है, न मैं हूं, वह न मेरा आत्मा है - ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार ठीक से मनन कर, समझकर देखना चाहिए। इसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के विषय मे भी ऐसा देखने से आर्य शिष्य रुप वेदना संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान से उदास होता है, उदास होने पर विराग को प्राप्त होता है। विराग के कारण मुक्त होता है। उसे अपने मुक्ति का ज्ञान होता है, तब वह जानता है कि उसका आवागमन नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य वास पूरा हो गया, करना था सो कर लिया अब यहा कुछ करने को बाकी नही है[१२०] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध ने अनासक्ति की दृष्टि से भी इसका

उपदेश दिया हैं। अब प्रश्न है कि भगवान बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का उपेदश दिया है उसकी संगति कर्म तथा पुर्नजन्म के साथ कैसे लग सकती है। जब आत्मा ही नही है तो कर्म कैसा व किसका, पुनर्जन्म भी कैसा व किसका आदि प्रश्न हमारे सामने खडे होते हैं। इन प्रश्नों का विचार नये दृष्टिकोण से आधुनिक विचारवंतों के मतों से करें।

कर्म तथा पुनर्जन्म के संबंध में विचार करते समय सामान्य रुप से बौद्ध मत की इस प्रकार आलोचना की जाती है कि एक नित्य आत्मा को स्वीकार किये बिना इन दोनों अर्थात कर्म एवं पुर्नजन्म की अवधारणा न तो स्पष्ट हो सकती है और न मान्य। आत्मा सदृश्य किसी स्थायी तत्त्व का अस्तित्त्व हुए बिना, कोई इच्छा और अथवा तद्नुसार कर्म कौन कर सकता है? कौन करता है? किसने किया है? और कौन करेगा। आत्मा जैसे एक स्थायी तत्त्व के हुए बिना यह संभव नहीं। आत्मवाद अथवा अनात्मवाद इन दोनों के ही संबंध में जितनी विप्रतिप्रतियां जितने विसंवाद, विरोध एवं विरोधाभास व्याप्त हैं उनका कहीं अन्त नहीं है। आत्मवाद की समस्या नित्यवाद से संबंधित है। ऐसा कोई एक तत्त्व अवश्य है जो कर्मो का कर्ता है और स्वंय ही उनके तदनुरुप फल को भोगता है। संक्षेप में (कर्म तथा उसके फल के संबंध में) यही आत्मवादी दृष्टिकोण है।[१२१]

आत्मवाद के संबंध में जैन दर्शन की मान्यता है कि वस्तु का स्वभाव गुण-पर्यायात्मक अर्थात नित्यानित्यात्मक है। पर्याय की अपेक्षा से वस्तु क्षणिक (अनित्य) है और गुण की दृष्टि से नित्य इसी प्रकार पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा क्षणिक है, और द्रव्य रुप से नित्य।[१२२] इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरुप अंशतः नित्य एवं अंशतः अनित्य है। शाश्वतवाद का विरोध करना उच्छेदवादी होना नहीं है। उच्छेदवाद जीवन की निरन्तरता का खण्डन करता है, जबकि बुद्ध जीवन को एक गतिमय प्रवाह के रुप में देखते हैं। जीवन का सातत्य भगवान बुद्ध ने मान्य किया है, और जीवन प्रवाह के इस सातत्य को ही कर्म सिद्धान्त से जोडा है।

पदार्थो में निरन्तर घटित होने वाले उत्पति एंव विनाश के लिए कहीं भी स्थिरता या अवकाश नहीं है। इस प्रसंग में मिलिन्दपन्ह में राजा मिलिन्द और भन्ते नागसेन की पारस्परिक चर्चा का उल्लेख करना उचित होगा। राजा मिलिन्द के द्वारा यह पूछे जाने पर कि मरकर पुनः जन्म लेने में कितना समय लगता है? भन्ते नागसेन ने कहा कि इसमें कोई समय नहीं लगता। इस प्रकार सन्ततिवाद का सहारा लेकर उन्होंने जीवन को एक ऐसी अटूट धारा के रुप में स्पष्ट किया जो परिवर्तन के साथ साथ बहती है। मृत्यु के अनन्तर क्षण में ही नया जन्म (प्रतिसन्धि) हो जाता है। अब प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में जीव को कर्म के अस्तित्व का बोध कैसे हो सकता है ? उत्तर है सादृश्य बोध के द्वारा। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे किसी स्थिर

एकरुप अपरिवर्तनशील, शाश्वत तत्त्व की मान्यता के लिए कोई अवकाश नहीं है। इसी के साथ वस्तुगत नित्यता का विचार भी स्वतः निरस्त हो जाता है। आत्मा जैसे एक शाश्वत, अपरिवर्तनशील अस्तित्व को स्वीकार कर लेने पर कर्म, पुनर्जन्म और स्मरण आदि को कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? क्योंकि एक स्थायी, अपरिवर्तशील आत्मतत्त्व को मान लेने पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा उससे विविध प्रकार की चेतनाओं एवं तदनुरुप बहुविध क्रियाओं, कृतियों और कर्मो की जो अपेक्षा की जाती है वह संभव नहीं है। और ऐसी स्थिति में आत्मवाद में किसी भी प्रकार के पुर्ननिर्माण या विकास के लिए कोई अवकाश नहीं रह सकता।[१२३]

अनात्मवादी दर्शन में 'स्व' या चित (विज्ञान) को परिवर्तनशील माना गया है। यदि हम एक बार व्यक्ति के चेतन स्वरुप में परिवर्तन स्वीकार करते हैं, तो हमें ऐसा कोई समुचित स्पष्टीकरण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहां जा सके कि समय की अमुक सीमा के भीतर ही कोई परिवर्तन होता हैं और उस समयावधि के पश्चात आत्मा पुनः अपने अपरिवर्तनशील रुप में आ जाती है। ऐसा मानने से आत्मा में दो विरोधी गुणों की सत्ता माननी पडेगी। आत्मा के भी दो भाग स्वीकार करने होगें। एक भाग को परिवर्तनशील मानना होगा, दूसरे को स्थिर। परन्तु यह स्थिति स्वीकार करने योग्य नहीं है। प्रो. टी.आर.व्ही. मूर्ति[१२४] प्रश्न उठाते हैं कि यदि परिवर्तन शील आत्मा भी शरीर के दूसरे अवयवों की भांति एक भाग हैं, तब हमें एक ऐसा अस्तित्व मानना पडेगा कि जिसमें परस्पर विरोधी गुण धर्म है। जैसे की जैन उसे नित्यानित्य मानते हैं और यह, परस्पर विरोधी गुणधर्मो से युक्त आत्मा की अवधारणा वास्तविकता (वस्तुवादी विचारों) के विरुद्ध ठहरती है।

बौद्ध धर्म में चित सन्तति को ही कर्मो का आधार माना गया है। वहां सभी धर्मो को मनोमय बताया गया है।[१२५] यहा धर्म का अर्थ है कायिक, वाचिक, मानसिक सभी प्रकार की क्रियाएं। ये ही क्रियाएं कुशलाकुशल प्रवृत्तियों के अनुसार आगे चलकर 'कर्म' इस अभिधान को प्राप्त होती हैं। मूलतः कर्म स्वयं चेतना रुप ही होता है, जो ब्राहय मानवीय व्यापारों के रुप में प्रकट होता है। कर्म एवं क्रियाए एक रुप होते हुए भी सभी क्रियाएं कर्मरुप नहीं होती। जैसे - श्वास का आना जाना, यह एक शारीरिक क्रियामात्र है। एक नैसर्गिक शरीर धर्म, कर्म नहीं। इस प्रकार स्थायी आत्मा के स्थान पर क्षण क्षण परिवर्तित होने वाले चित सन्तति को मानकर पालिपिटकों के अनुसार कर्म की संगति अनात्मवाद के साथ बैठाकर यहां कर्म-सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक रुप देने का प्रयास किया गया है।[१२६] इस प्रकार भगवान बुद्ध आत्मवाद के परंपरागत स्वरुप को जो स्वीकार नहीं करते परन्तु यह स्वीकार करते हैं कि संन्तति रुप से नित्य प्रवाहमान चेतना की धारा ही, जीवन प्रदान करती है।[१२८] इस जीवन सातत्य में बौद्ध-कर्म सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है जो पूर्वापर जन्मों के क्रम को

वर्तमान जीवन से जोडता है।

कर्म एवं अनीश्वरवाद

ईश्वर है या नहीं यह समस्या युगयुगान्तर से मानव मस्तिष्क को बेचैन करती रही है। और आज भी कर रही है। मानव जब जंगली अवस्था में था तब अनेक नैसर्गिक घटनाओं को देखकर वह उनके कारणों पर विचार करता था। वे कारण उसकी समझ से परे थे। व्यक्ति जब अधिक विचारशील हुआ तो वह इन घटनाओं से घबराकर किसी शरण स्थान का विचार करने लगा। तब उसने ऐसे सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की।

जब कोई व्यक्ति किसी अजनबी या अनदेखी घटना को देखता है, तो वह उस घटना विशेष के कारणें को जानना चाहता है। यह घटना कैसे घटी ? यह संसार क्या हे, इसका कारण क्या है, सृष्टि के मूल-स्रोत एवं उसकी उत्पत्ति और विकास के रहस्य की जिज्ञासा करनेवाले व्यक्ति के समक्ष ऐसे अ नगिनत प्रश्न खडे हो जाते है।

बुद्ध पूर्व वैदिक दर्शनों में एक परम सृष्टिकर्ता की स्थापना करके उसके ईश्वर, ब्रह्म, महाब्रह्म ऐसे कई नाम दिये गये हैं। ईश्वर की परिभाषाओं के विषय में इतना मतभेद है कि तात्विक रुप से ईश्वर के स्वरुप के विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।[१२९]

आस्तिकवादी दार्शनिकों ने उसे प्रायः सृष्टिकर्ता माना है। और उसे जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना है। इस विषय में नाना दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न मतों की स्थापना की है[१३०] ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है उसके स्वरुप के संबंध में कोई सर्वमान्य शद्ब प्रमाण भी नहीं मिल सकता।[१३१] अनुमान से भी हम कहीं नहीं पहुचते[१३२] और तर्क से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

भगवान बुद्ध ने जिन दस प्रश्नों को अव्यांकृत[१३३] बतलाया उंनमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे ईश्वरवादी है और यदि ऐसा होता तो वे ईश्वरवाद का खण्डन न करते।

ईश्वर की सत्ता के विषय में वह कौन है ? वह कब और कैसे अस्तित्व में आया और उसने क्यों व कैसे इस सृष्टि की रचना की ? ये व ऐसे अन्य अनेक प्रश्न सदा से अनुत्तरित रहें हैं। वास्तविकता यह है कि संसार का (क्रमिक) विकास हुआ है किसी एक सर्वशक्तिमान ईश्वर नामक व्यक्ति या सत्ता के द्वारा 'कुछ' या 'ना कुछ' से सहसा निर्माण नही।[१३४] इन प्राणियों का आदि अव्यक्त है, अन्त अव्यक्त है, केवल मध्य ही व्यक्त है।[१३५] इससे यह प्रतीत होता है कि सृष्टि का आदि या अन्त का पता न लगने से मनुष्य ने ईश्वर जैसी एक काल्पनिक शक्ती को सृष्टि का

कर्ता- . मान लिया।

पथिक सुत[१३६] में भगवान ने ईश्वरवादियों की कल्पना अपने शद्बों में इस प्रकार व्यक्त की है, वे कहते हैं कि बहुत समय के पश्चात इस लोक का प्रलय होता है, तब आभास्वर ब्रह्म लोकवासी वहां दीर्घकाल तक निवास करते हैं। उसके उपरान्त पुनः प्रलय होने पर एक शून्य ब्रह्म विमान प्रकट होता हैं उनमें से कोई प्राणी आयु अथवा पुण्य क्षय होने के कारण वहां से च्युत होकर ब्रह्म विमान मे उत्पन्न होता है। कुछ दिनों के पश्चात दूसरे प्राणी भी इसी प्रकार से वहां उत्पन्न हो जाते हैं। सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले प्राणी के मन में ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि में ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनिभिभूत, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वरकर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पिता हूं। इस वाद का खण्डन करते हुए तेविज्ज सुत[१३७] में भगवान बुद्ध कहते हैं कि तीनों वेदों के जानकार इन ब्राह्मणों में कोई एक भी ऐसा नहीं है, जिसने 'ब्रह्म' का आमने सामने दर्शन किया हो। जैसे कोई अंधो की कतार में न आगे आगे चलने वाला अंधा देख सकता है, न बीच वाला और न पीछे पीछे चलने वाल। इसी तरह ब्राह्मणों का उपयुक्त कथन केवल अंधा कथन है। त्रैविध ब्राह्मणों के पूर्वज मंत्रकर्ता थे, मंत्र प्रवक्ता कृषि थे जिनके गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मंत्र को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान-अनुभाषण करते हैं, भापिक का अनुभाषण करते है, बाचे हुए का अनुवाचन करते है, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वमित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ कश्यप और भृगु। इन सब ऋषियों ने भी यह स्वीकार नहीं किया कि जहा बंह्म है, जिसके साथ ब्रह्म है, जिस विपय में ब्रह्म है, हम उसे जानते हैं, हम उसे देखते है। त्रैविद्य ब्राह्मणों मे एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार किया हो। 'इति किर वासेट्ठे, नत्थि कोचि तेविज्जानं ब्रह्मणान एको ब्राह्मणों पि येन ब्रह्म सक्खिदिट्ठो'[१३८]। इस प्रकार भगवान बुद्ध के कहने का तात्पर्य है कि जिसका किसी ने भी स्वयं साक्षात्कार न किया हो, अथवा जिसे कभी कोई भी नही पा सका हो, उसके अस्तित्व को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

सुख दुःखों का कारक ईश्वर नहीं है

भगवान बुद्ध ने कहा कि, सुख दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं हो सकते, अन्यथा प्राणातिपात, अदिन्नादान, अब्रह्मचर्य, मुसावाद, पिशुनवाचा, परुषवाचा, आदि सभी को ईश्वरकर्तृक मानना पडेगा और इन सबको ईश्वरकर्तृक मानना एक छल ही होगा।[१३९]

कर्म सिद्धान्त और ईश्वर कल्पना

भगवान बुद्ध ने जिस को 'गृहकारक'[१४०] माना है वह अविद्याजनित कर्म है और उसे ही सुख दुःख का कारण भी स्वीकार किया है। संसार में गरीब, और अमीर

तथा उच्च-नीच के जो भेद और जो किनारे निर्मित हुए हैं, उन सभी का प्रधान कारण कर्म ही है। कर्म को संसार का कारण स्वीकार करने पर ईश्वर को सृप्टिकर्ता-हर्ता या सुख दुःख के दाता के रुप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी कारण भगवान बुद्ध ने स्वयं को न सर्वज्ञ माना है[१४१] और न ईश्वर[१४२]।

केवट्टसुत[१४३] के निम्नलिखित प्रसंग से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध ने ईश्वर या ब्रह्मा का सूक्ष्म परिहास किया है।

इस सुत में भगवान बुद्ध केवट्ट से वार्तालाप करते हुए कहते है कि एक भिक्षु को जब यह प्रश्न हैरान कर रहा था कि चारों महाभूत - पृथ्वीधातु, आपधातु, तेजोंधातु एवं वायोधातु पूरी तरह से कहां जाकर निरुद्ध होते है? वह भिक्षु इस प्रश्न का समाधान करने के लिए चातुर्महाराजिक देवताओं के पास गया, एवं उनसे निवेदन किया कि आप बतलाये, ये चारों महाभूत कहां जाकर पूर्ण रुप से निरुद्ध होते हैं? उन देवताओं ने इस विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। इसके बाद वह भिक्षु तावतिसां, याम, सुयाम, तुसिता निम्मानरति परनिमित्तवशवर्ती आदि देवों के पास गया परन्तु किसी ने भी उसके प्रश्न का समाधान नहीं किया।

आखिर वह भिक्षु महाब्रह्म के पास पहुंचा और उनसे भी उपरोक्त प्रश्न पूछा। भिक्षु के उस प्रश्न को सुनकर महाब्रह्मा ने उसे उत्तर दियास - हे भिक्षु में ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूत,... वशवर्ती, ईश्वर, कर्ता निर्माता, श्रेप्ठ, संर्जिता, वशी और सभी भूत भव्यों का पिता हूं। दूसरी और तीसरी बार यही प्रश्न करने पर ब्रह्मा ने यही उत्तर दिया। तब उस भिक्षु ने महाब्रह्म से कहा कि मैं आपसे यह नहीं पूछ रहा हूं कि आप ब्रह्मा, महाब्रह्मा....भूत भव्यों के पिता आदि है, मैं आपसे यह पूछं रहा हूं कि चारों महाभूत कहा जाकर पूर्ण रुप से निरुद्ध होते हैं ? भिक्षु के ऐसा पूछने पर महाब्रह्मा उसे एक बाहं से पकडकर देवताओं की सभा से उठाकर बाहर ले आये और एक ओर ले जाकर बोले कि हे भिक्षु, ये सब ब्रह्मकायिंक देव ऐसा जानते है कि ब्रह्मा के लिए कुछ भी अज्ञात, अदृष्ट, अविदित औरं असाक्षात नहीं है। इसी कारण मैने सब देवताओं के समक्ष तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। भिक्षु मै भी नहीं जानता कि ये चारों महाभूत पूर्ण रुप से कहा जाकर निरुद्ध होते है। भिक्षु यह तो तुम्हारा ही दुष्कृत्य और अपराध है कि तुम भगवान बुद्ध को छोडकर बाहर इस प्रश्न के समाधान के लिए भाग रहे हो। भिक्षु उन्हीं भगवान बुद्ध के पास जाओ और उनसे ही जाकर इस प्रश्न का उत्तर पुछों, वे जैसे उसका उत्तर दे वैसा धारण करों।

बुद्ध ने दूसरी जगह ईश्वर या ब्रह्मा को स्वंय जाकर फटकारा। वह प्रसंग निम्नानुसार है - एक समय.... 'बकब्रह्म'[१४४] को ऐसी बुरी धारण हुई थी - यह ब्रह्मलोक नित्य, धृव, शाश्वत, शुद्ध अच्युत, अजर, अमर है, न च्युत होता है, न उपजता

है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुचंने का स्थान) नहीं है .... भगवान बुद्ध कहते हैं कि तब मै .... ब्रह्मलोक में प्रकट हुआ। बक ब्रह्म ने दूर से ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा आओ मित्र। (मार्ष) स्वागत । बहुत दिनों के बाद है मित्र आपका यहां आना हुआ। मित्र। यह (ब्रह्मलोक) नित्य, धृव .... अजर .... अमर है....। ऐसा कहने पर भगवान बुद्ध ने कहा - अविद्या में पडा है, अहो। वक ब्रह्मा, अविद्या में पडा है, वक ब्रह्मा, जो कि अनित्यता को नित्य कहता है, अशाश्वत को शाश्वत....। .... ऐसा कहने पर वक ब्रह्म ने भगवान बुद्ध को कहा.... हे मित्र मै नित्य को ही नित्य कहता हूं .... तब भगवान बुद्ध ने कहा .... हे वक ब्रह्म .... (दूसरे लोक से) च्युत होकर यहां उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वक ब्रह्म को उन्होंने यह बतलाया कि ब्रह्मलोक अजर, अमर, या शाश्वत नहीं है।

अन्य भारतीय विचार धाराओं में कर्म की अवधारणाएं

कोई मनुष्य संसार में आने के प्रथम क्षण में प्रथम श्वास से लेकर मृत्यु के अन्तिम श्वास तक, जो कुछ भी शारीरिक, वाचिक, मानसिक, क्रियाएं करता है, वे सूक्ष्म हो या स्थूल, दृश्य हो या अदृश्य। जैसे मन के विचार, वे सभी क्रियाएं 'कर्म' शद्ब से अभिहित की जाती हैं। इन कर्मों से उत्पन्न होनेवाली शुभ, अशुभ, सुखद, दुःखद प्रतिक्रियाएं और परिणाम ये सभी कर्म की परिभाषा में समाहित हैं।

बौद्ध दृष्टिकोण से कर्म का विवेचन करने के पूर्व बुद्ध पूर्व एवं उनके समय में जो धर्म-संप्रदाय विद्यमान थे उनके कर्म विषयक अभिप्रायों का सम्यक आलोचन तथा परीक्षण आवश्यक है, क्योंकि कोई भी धर्म संस्थापक जब अपने बिचार समाज में प्रसारित करता है, वह तत्कालीन धर्म, दर्शन, नीति, आचार एवं सिद्धान्तों से निरपेक्ष नहीं रह सकता।

भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति

उस काल में धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को पारलौकिक आधार प्रदान करना भारत के सभी धर्म संस्थापकों की (बृहस्पति व उनके अनुयायियों को छोडकर) सामान्य रीति रही। उन पारलौकिक मान्यताओं को जैसे कोई पूरी तरह से सिद्ध नहीं कर सकता उसी तरह असिद्ध भी नहीं कर सकता। प्रत्येक धर्म के केन्द्र में आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत की सत्ता, उसकी अवधारणाओं, उसकी पदार्थ या अपदार्थता आदि विषयक सूक्ष्म और विशद तत्त्व चिन्तन उपलब्ध होता है और इस चर्चा के बिना किसी भारतीय धर्म-दर्शन को पूर्णता समाधान प्राप्त नहीं होता।

भौतिकवादी दृष्टिकोणं के अनुसार मानव चेतना के परिवर्तनों का कारण सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए, जबकि आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार चेतनागत क्रांति ज्ञान के स्वाधीन विकास और (अतिमानवीय) लौकिक अथवा अलौकिक प्रेरणा से उत्पन्न होती है।[१४५] बौद्ध परंपरा के ऐतिहासिक विकास क्रम को देखने से यह तथ्य भलीभांति प्रकट हो जाता है कि उनकी साधना तथा चिन्तन में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति एवं चिन्तन का अवश्य हाथ था। जिस काल में भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ तब वैदिक संस्कृति उस पतनोन्मुख अवस्था में थी जिसमें जनसाधारण का जीवन याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा उच्च नीच वर्ण एवं वर्ग विभाजन के कारण अस्तव्यस्त हो रहा था।[१४६] यद्यापि सभी मूल भारतीय साप्रंदायिक मान्यताओं में कर्म को ही प्राधान्य दिया गया है, परन्तु बुद्ध के समय तक कर्म का मूल अर्थ पुरुषार्थवाद न रहकर देव, भाग्य, ईश्वरावलंबन, पौरोहित्य एवं कर्मकाण्ड आदि हो गया था। कर्म सिद्धान्त का भी दैवीकरण कर दिया गया था। बहुजन समाज में देव तथा दैव पर अखण्ड विश्वास था।

सामाजिक उन्नति एवं मानवीय हित के लिये यह आवश्यक है कि किसी भी सिद्धान्त का दैवीकरण न करके मानवीकरण किया जाय। इस दृष्टि को श्रमण संस्कृति की दोनों धाराओं (जैन एवं बौद्ध) ने जितनी मात्रा में विकसित किया उतनी वैदिक परंपरा ने नही। वैदिक संस्कृति में मानवीय जीवन का महत्त्व होते हुए भी उसमें कर्मकाण्ड, ईश्वरावलंबन एवं पौराहित्य का प्राबल्य है।[१४७] इस प्रकार कर्म की पृष्ठभूमि में भारत की पारलौकिक मान्यताओं का संकेत मात्र किया गया।

बुद्ध पूर्व दर्शन में कर्म की अवधारणाएं

सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋचाओं में कर्म सिद्धान्त के बीज उपलब्ध होते है।[१४८] परन्तु वे मुख्यतः धार्मिक कर्मकाण्डों से संबंधितथे।[१४९] प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार यज्ञयाग ही वह कर्म है, जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है।[१५०] उपनिषद एक ओर यज्ञ का समर्थन भी करते हैं परन्तु दूसरी ओर कर्मसिद्धान्त को भी प्रस्तुत करते हैं।[१५१]

उपनिषदों में प्रतिपदित कर्म के तीन अवयव हैं-

१. अच्छे कर्मों से मुक्ति मिलती है।

२. अच्छे कर्मों से आगामी मनुष्य जीवन में सुख मिलता है।

३. बुरा कर्म करनेवाला नरक में जाता है।[१५२]

प्रथम अध्याय में वैचारिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में बुद्ध के समसामयिक दार्शनिकों के कर्म से संबंधित विचार इस प्रकार थे. पूर्ण काश्यप के मतानूसार किसी भी दुष्कर्म या अच्छे कर्म का कोई प्रभाव नहीं होता ।[१५३] आत्मा पर पाप पुण्य की कोई भी

क्रिया नहीं होती।[१५४] मक्खलि गोसाल के अनुसार न कोई कुछ कर सकता है और न कोई कुछ होने से रोक सकता है। घटनाएं घटती रहती है।[१५५] अजितकेसंकबलि के मतानुसार कर्मो के ऐसे कोई फल नहीं होते, जिन्हे आत्मा भोग सके वा उसे भुगतने पडे।[१५६] पकुधकच्चायन कहते थे कि व्यक्ति का निर्माण ७ तत्वों से हुआ है, एवं कोई किसी का सिर भी काट दे तो यह कोई मारना नहीं हुआ। यह केवल इतना ही हुआ कि शस्त्र ७ तत्त्वों में प्रवेश कर गया।[१५७] संजय वेलटिठपुत्त भी बुरे अच्छे कर्मो के फल के विपय में संदेह करते थे।[१५८] जहा तक निगण्ठनाथपुत्त का प्रश्न है उनकी कर्म विपयक मान्यताएं बुद्ध के जैसी ही महान एवं क्रान्तिकारी थी जिन पर इसके पूर्व के पृप्ठो में विचार जा चुका है एवं अध्याय आठ में उनके उपलब्ध साहित्य के आधार पर संक्षेप में कुछ विचार किया जायेगा। भगवान बुद्ध की दृप्टि में कौन से संप्रदाय कर्मवादी एवं अकर्मवादी थे इसका पत्ता हमें विनय पिटक में मिलता है।

कर्मवादी संप्रदाय के रुप में दो संप्रदायों का उल्लेख मिलता है। एक है नग्नक[१५९] एवं दूसरा है जटिल[१६०]। बुद्ध के उपसंपदा या प्रव्रज्या संबंधी नियमानुसार क्रियावादी एवं कर्मवादी संप्रदायों के साधकों को परिवास[१६१] का नियम लागू नहीं होता था।[१६१] किन्तु विनय पिटक के महावग्ग के ग्रन्थ के सिवाय अन्यत्र कहीं भी उनके कर्म विषयक सिद्धान्त का विवरण नहीं मिलता। महावग्ग में भी जो उल्लेख आया है वह नाम मात्र है एवं उससे कर्म के संबंध में उनके विशिष्ट विचारों की कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इस मत की पुष्टि निम्न बातों से होती है।

जटिलक अग्निहोत्री याज्ञिक ब्राह्मण थे उनके संबंध में भगवान बुद्ध ने कहा था कि वे जैसे ही दीक्षा लेने के लिए आते हैं उनको (बिनापरिवास के) तुरन्त दीक्षा देनी चाहिए। वे अग्निशाला में अग्नि जलाते हुए अपने शिष्यों सहित रहते थे। उन्होंने बहुत बडे यज्ञ का आयोजन किया था जिसमें राजा श्रेष्ठि एवं अन्य लोगों को बुलाया गया था। इस उल्लेख से जटिलकों की कर्म विषयक विशिष्ट मान्यताओं का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार नग्नक संप्रदाय के संबंध में भी यह निश्चित नहीं है कि उनकी कर्म विषयक मान्यताएं क्या थी ? नग्न संप्रदाय के साधुओं के जैन होने की प्रबल संभावना है और यदि वे जैन हैं तो उनकी कर्म विषयक कई मान्यताएं पालि पिटकों में पायी जाती है।

बुद्ध ने समकालीन विचारकों में निगण्ठनाथपुत अथवा तीर्थकर भगवान महावीर प्रमुख थे। महावीर के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति जो कुछ भी दुःख या सुख अनुभव करता है वह सब उसके पूर्व जन्मों के कर्मो का परिणाम होता है। इस बात का साक्ष्य निम्मानुसार है। पिटकों में इस संबंध में कहा गया है कि तपश्चर्या से पुराने दुष्कर्मो की निर्जरा हो जाती है। और नये दुष्कर्म न करने और संयम तथा

तप के द्वारा नवीन कर्मो का संवर व पुराने कर्मो कि निर्जरा करने से भविष्य के लिए दुष्कर्मो का संग्रह नहीं होता। भविष्य के लिए संग्रह नहीं होने से दुष्कमों का एवं दुःखों का क्षय हो जाता है।[१६३] जैन धर्म का अपना विशाल साहित्य है, जिसमें कर्म सिद्धान्त की बहुत विस्तृत चर्चा की गयी है। यथास्थान इसी साहित्य के आधार पर जैन कर्म सिद्धान्त का विचार करेंगे। भगवान बुद्ध के निर्वाणोपरान्त उनके शिष्यों द्वारा जैन कर्म सिद्धान्त को ठीक से समझे बिना ही उसकी आलोचना करने की संभावना है। क्योंकि त्रिपिटकों का लेखन बुद्ध निर्वाण के कई सौ वर्ष पीछे किया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा कहा जा सकता है कि कर्म को विशुद आचार तत्त्व के आसान पर बैठाने का, उसे स्वतंत्र सत्ता प्रदान करने तथा उसके महत्त्व को किसी भी प्रकार के ग्रंथ प्रमाण से वियुक्त करके नैतिक आदर्शवाद की स्वतः परिपूर्णता सिद्ध करने का श्रेय शाक्य मुनि को (साथ में जैन परंपरा) ही है।

संदर्भ

१. 'कम्मा इज वन एस्पेक्ट आफ धम्मा'।एस.एन.रंगसी, पृ. ९०।
दि.कं.औ.क.अ.रि.इ.थे.बु.।
२. म.नि., महावच्छगोत सुतन्त, २।३।३।
३. वही, धम्मदायाद सुतन्त, १।१।३।
४. इंपरमनन्स अंड सोललेसनेस आर कामन टू आल।
एस.एन. रंगसी, दि.कं.औ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. ९१ ।
५. दे. विनयपिटक, हि.अ. की पादटिप्पणी।
६. म.प.रा.सा. द्वारा संपादित, पृ. ८३ ।
७. वही।
८. वही।
९. पालि वाड्.मय में पृथ्वी, अप, तेज एवं वायु ये चार महाभूत कहे गये है।
१०. विनयपिटक, महावग्ग, १.१७ ।
११. विनय-महावग्ग (धर्मचक्र प्रवर्तन सुत) दी.नि., महासतिपट्ठान सुत ।
१२. दी.नि. महासतिपट्ठान सुत।
१३. अ.स. हि.भा., भाग २, पृ. ७९१।१४
१४. अ.स. हि.भा., भाग २, पृ. ७९२।
१५. दे आर रिसिप्रोसियली डिपेन्डेन्ट, दि.क.औ.क.अ.रि.इ.थे.
बुद्धिज्म, एस.एन. रंगसी।
१६. दी.नि., महापरिनिब्बाण सुत।
१७. दि.क.औ.क.अ.रि.इ.थे.थु., पृ. १७, एस.एन. रंगसी।

१८. दी.नि. महापरिनिब्बाण सुत।
१९. दीघ. नि., भाग १, महासनिपट्ठान सुत, २।९।
२०. महासनिपट्ठान सुत, दीघ नि., २।९। २१. वही।
२२. महासनिपट्ठान सुत, दीघ नि., २।९।
२३. दीघ.नि., २।९ ।
२४. अंगुत्तर निकाय, भाग १, पृ. १०।
२५. मिलिन्दप्रश्नबौधिनी, पृ. ३१ ।
२६. १ से २१ तक के लिए देखे लक्खण सुत्त, दी.नि., १।१४ ।
२७. वही। २८. वही।
२९. बुद्ध और उनका धर्म, पृ. १०१ ।
३०. अ.नि. चतुक्कनिपात, दूसरा वर्ग।
३१. उपसंपदा का अर्थ है किसी व्यक्ति की भिक्षु के रुप में दीक्षा (संस्कार) हो जाना। उपसंपदा का विचार करें तो उसका प्राचीन स्वरुप निम्न प्रकार से था। पंचवर्गीयों की उपसंपदा 'एहि भिक्खवे, स्वाबखातो धम्मो, चरं ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्त किरियाय, इन्हीं वचनों द्वारा हुई थी। कालान्तर में परिस्थितिवश उसमें परिवर्तन किया गया। वह इस प्रकार है - ज्ञप्ती अर्थात किसी भिक्षु द्वारा भिक्षु संघ के समक्ष किसी उपसंपदापेक्षी का नाम किसी भिक्षु के उपाध्यायत्त्व में उपसंपन्न अर्थात दीक्षित करने के लिए कहना, या ज्ञापित करना। अनुश्रावेण - ज्ञप्ती के उपरान्त अनुश्रावण किया जाता था उसमें कहा जाता था कि 'जैसे प्रस्ताव स्वीकार हो वह चुप रहे व जिसे आमान्य है वह बोले। इस प्रकार तीन बार संघ के समक्ष ऐसा कहने के बाद यदि कोई भिक्षु उसके विपक्ष में नहीं बोलता तो अंत में धारणा की जाती थी अर्थात संघ को अमुक व्यक्ति का अमुक भिक्षु के उपाध्यायत्त्व में भिक्षु होना या उपसंपन्न होना स्वीकार है, ऐसी घोषणा की जाती थी। आगे चलकर इसके जो अवांतर नियमोपनियम बने उसका सविस्तार वर्णन विनयपिटक के भिक्खु खंधक में उपलब्ध होता है।
३२. विनयपिटक, महावग्ग, १,३,३, पृ. ७५ ।
३३. विनयपिटक, पातिमोक्ख।
३४. महावग्ग, पृ. ७५।
३५. म.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ४०।
३६. धम्मपदं, ११।९ ।
३७. दीघ नि. २।३ ।
३८. वही।
३९. म.नि.धम्मदायाद सुतन्त, १।१।३ ।

४०. भग.बु.औ.उ.घ. पृ. १६, हि.मा., म.आ.को.।

४१. भ्सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ४८० ।

४२. कम्मा विपाका वतन्ति विपाको कम्म संभवो कम्मा पूनव्भवो होति एवं लोको पवत्तति ति ।। विभंग, पृ. ४२। ४३. म.नि., ३।४।५।

४४. कम्मस्सका साणव सदा कम्मदायादा, कम्म्योनि कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, कम्मं सते विभजति यदिदं हीनपणीतताया ति। म.नि., ३।४।५ (चुलकम्यविभंग सुतन्त के)।

४५. वही।

४६. वही, ३।४।६ (महाकम्मविभंग सुतन्त)।

४७. वही, १।५।१, (सालेयय सुतन्त) । मिलाइये वेरंजक सुतन्त १।५।२।

४८. इतिवुतक - चितसुत, दुट्ठ सुत एवं सक्कार सुत।

४९. इतिवुतक (पाटिभोगवग्ग)।

५०. दी.नि., ३।४ (अग्गज्ज-सुत)।

५१. दी.नि., ३।३ (चक्कवति सहिनाद-सुत)।

५२. बो.द.त.अ.भा.द., पृ. ४७६, भ.सि.उ.।

५३. इतिवुतक संघाटि - सुत।

५४. स.नि. भाग ३, पृ. १२० ।

५५. बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ४७७, भ.सि.उ.।

५६. प.नि., १।१।३, धम्मदायाद५सुतन्त।

५७. वही, ३।१।३, किन्ति सुतन्त।

५८. भग.बु.औ.उ.घ., पृ. १८८, भ.आ.कौ.।

५९. धम्मपदं,२०।४ ।

६०. म.नि., ३।५।१० (इन्दियभावना सुतन्त)।

६१. 'अकम्मं हेतं महाराज जिनपुतान यदिद पूजा। सम्मसन, सखारानं, योनिसो मनसिकारों सतिपट्ठानानुपस्सना, आरम्मणं सारग्गाहों, किलेस युद्ध सदत्थमनुयुज्जना। मिलिन्दपन्हो, देखे साथ में दीघ.नि.,२।३।

६२. डॉ. भाऊ लोखंडे 'प्रतासत्ताक' साप्ताहिक २११२५-१२-१९७२ ।

६३. वही।

६४. धम्मपदं पठमों वग्गों।

६५. अ.नि. तृतीय भाग पृ. १२०, अट्ठसालिनी पृ. ७३ ।

६६. पदसंकेत २ के साथ् धम्मपदं की उपरोक्त दोनों गाथाओं को मिलाकर देखिए। देंखिए ५ अ.नि. भाग ३, 'चैतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन, वाचाय मनसा वा'।

६७. दुक्करं महाराज भगवता कतंति। कि भन्ते नागसेन भगवता दुक्करं कंतति।

दुक्करं महाराज भगवता कतं यं अरुपीनं चित चैतसिकांन धम्मानं एकारम्मणे वतमानानं ववत्थानं अवखातं, अयं फस्सो अयं वेदना, अयं संज्ञा, अयं चेतना इदं चितति। मिलिन्द पन्हो। पृ. ९०।

६८. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ४७२।

६९. वही।

७०. दीघ.नि., १।२, पृ. ३१।

७१. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. १३। ५

७२. तुकाराम अंभग गाथा, क्र. ११३ ।

७३. इमस्मि सति इंद होति, इमस्स उप्पादा इंद उप्पज्जति, इपस्मिं असति इंद न होति, इमस्स निरोधा इंद निरुज्झति। म.नि. ३।२।५ मिलाइये वही, १।४।८ (बहुधातुक एवं महातण्हा संखय सुत्तन्त)।

७४. पच्चयो, हेतु कारण, निदान, संभवो, पभवोति आदि अत्थतों एवं व्यञ्जनतो नान - विसुध्दिमग्ग १७।६८ ।

७५. इति खो, भिवखवे या तत्र तथता, अवितथता, अनञ्ञथता, इदंपच्चयता अयं वुच्चति भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादों - स.नि.।

७६. विसुद्धिमग्ग् १७।६ ।

७७. वही, १७।११, न उप्पादमत्तं पटिच्च समुप्पादो।

७८. वही, १७।६८, पटिच्च एमस्मा एती तिपच्चयो।

७९. वही, योहि धम्मो यस्स धम्मस्स ठितिया वा उप्पतिया वा उपकारको होति सो तस्स पच्चयोति वुच्चति।

८०. विसुद्धिमग्ग, १७।६८ ।

८१. सं.नि. २।१, (निदान संयुक्त)।

८२. संयुक्त निकाय (निदान संयुक्त), देखिए, विसुद्धिमग्ग, १७।२ ।

८३. सं.नि., भाग २, निदान संयुक्त, १ ।

८४. वही।

८५. सं.नि., भाग २, १२।२०।२१ ।

८६. प्रत्यय से उत्पन्न (होकर) धर्म स्थित होते हैं, इसलिए धर्मस्थितता कहा जाता है। विसुध्दिमग्ग, भाग २, पृ. १३०, पादटिप्पणी ।

८७. प्रत्यय धर्मो को ठीक करता है, इसलिए उसे धर्म-नियामता कहा जाता है। वही।

८८. इदंप्रत्ययता अर्थात इसके प्रत्यय से होना । जरामरण आदि के प्रत्यय को इदम्प्रत्यय कहा जाता है, और प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त को इदम्प्रत्ययता ही इदम्प्रत्यता कहा गया हैं। वही।

८९. स.नि., भाग २, १२।४।५ ।

९०. सं.नि., भाग २।१, (निदान संयुक्त)।
९१. सं.नि., भाग २।१, १२।१।१० ।
९२. डॉ.बी.सी. जैन, भा.स.बौ.ध.यौ., पृ. ९२।
९३. आचार्य नरेन्द्र देव, बौ.ध.द ., पृ. २२१ ।
९४. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ३८१ ।
९५. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ४१२ ।
९६. वही।
९७. दी.नि., १।१ । ९८. जी.सी. पाण्डेय, पृ. ७६, बौ.ध.के.वि.का.इ., ।
९९. वही, पृ. ८२ ।
१००. दी.नि., १।१ । १०९१. वही।
१०२. वही।
१०३. दी.नि., १।१ ।
१०४. वही।
१०५. दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. १६७, एस. एन. रंगसी।
१०६. वही।
१०७. प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय, धम्मदर्पण, दिसम्बर, १९७८०।
१०८. रुप भिवखवे अनता। रुपं च हिदं भिवखवे अत्ता अभाविस्सा, न यिदं रुप आबाधाय सम्वत्तेय्य लब्भेय च रुपे एवं में रुप होतु, एवं में रुप मा अहोसीति। यस्मा च खो भिवखवे रुप अनत्ता तस्मा रुप आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति रुपे एवं में रुप होतु एवं में रुप मा अहोसीति! महावग्ग १, विनयपिटक, १।१।७ ।
१०९. वही।
११०. वही।
१११. वही।
११२. वही।
११३. म.नि., १।४।५ ।
११४. वही, ३।५।५ । ११५. म.नि. १।४।८ ।
११६. स.नि., २१।८।९ ।
११७. वही, ३।५।३ ।
११८. वही, ३।१।१० ।
११९. वही, ३।१।९ ।
१२०. विनयपिटक, महावग्ग, १।१।७ ।
१२१. दि.कं.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु. पृ. १४०, एस.एन.रंगसी ।
१२२. समयसार, पृ. १८३ ।

१२३. दि.क.औ.कं.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. १४२, एस.एन. रंगसी।
१२४. दि सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ. ३२ ।
१२५. धम्मपद गाथा प्रथम।
१२६. दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. १७४, एस.एन. रंगसी।
१२७. वही। १२८. प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय, धम्मदर्पण, पृ. २५ (१९८०) ।
१२९. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग १, पृ. १२५ ।
१३०. न्याय वैशेषिक के मतानुसार ईश्वर नित्य इच्छा ज्ञानादि गुणवान विभुकर्ता विशेष है।जैमिनी ईश्वर का काम 'अपूर्व' से ही निकाल लेते हैं। मायावादी वेदान्ती उसे माया विशिष्ट चैतन्य की कोटि में डाल देते हैं। दटव्य, भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग १, पृ. १२४-२५।
१३१. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग १द्व पृ. १२५। १३२. वही।
१३३. १. क्या लोक शाश्वत है।
२. क्या लोक अशाश्वत है।
३. क्या लोक अन्तवान है।
४. क्या लोक अनन्त है।
५. क्या जीवशरीर एक है।
६. क्या जीव अन्य है और शरीर अन्य है।
७. क्या तथागत मरणान्तर रहते हे।
८. क्या थागत मराणान्तर नहीं रहते।
९. क्या तथागत मरणोपरान्त रहते हैं, और नहीं भी रहते।
१०. क्या तथागत मरणोपरान्त नहीं रहते और नहीं भी रहते।
म.नि., अलगद्युपम सुत, दी.नि., १। १३, तेविज्जसुत ।
१३४. भ.बु.औ.उ. धर्म पृ. १९५. भ.आ.कौ. ।
१३५. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना। गीता, १२।२८।
१३६. दी.नि. २४ वां सुत।
१३७. दी.नि. १/ १३
तेविज्ज सुत, दी.नि., १।१३ ।
१३९. तत्र भिक्खवे, ये तो समण ब्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिट्ठिनों यं कि चाय पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुख वा दुवखं वा अदुवखम सुख का सब्बं तं इस्सर निम्मान हेतु त्याह एवं वदामि-तेना हायस्मन्तं पाणातिपातिनों हस्सर निम्मान हेतु इस्सर निम्मांन खो पन भिक्वखवे, सारतो पच्छागच्छत न होति छन्दो वा वायामों वा इंद वा करणीय इंद वा अकरणीय ति। इति करणीयाकरणी ये खो पन सच्चतो थेततो अनुपलाभ्भियमाने मुठ्ठस्सतीनं विहरतं न होति

पच्चत सहधम्मि को समजवादो अ.नि., १, ३।७।१ (तित्थायन सुत)।

१४०. धम्मपदं, ११।९ ।

१४१. म.नि. तेविज्जएवं वच्छगोत्त सुतन्त।

१४२. बी.सी.जैन, पृ. ११५, बौ.सं. का इ.।

१४३. भूतपुब्ब केवट्ट, इमस्मिं येव भिवक्खुसं घे अञ्जतरस्स भिक्खुनों एवं चेतसो परिवितक्को उदपादि 'कत्थ नुखो इमे चतारो महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति, सेययथिदं-पथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु,ति?

अथ खो सो, केवट्ट भिक्खु तथारुपं संमाधि समापज्जि यथासमाहिते चिते देवयोनियो मग्गो पातुरहोसि। अथखों सो, केवट्ट, भिक्खुयेन चातुमाहाराजिका देवा तेनुपसङ्कमि, उपसंकमित्वा चातुमाहाराजिके देवे एतद्वोच -'कत्थ नुखो आवुसो, इमें चतारों महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति, सेय्यथिदं - पथवीधातु ... वायोधातु' ति ?

एवं वुत्ते, केवट्ट, चातुमहाराजिका देवा तं भिवखु एतदवोचु - मयं पि खो, भिक्खु, न जानाम यत्थिमें चतारो महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्तिं, सेय्य थिदं - पथवीधातु .... वायोधातु' ति । अत्यि खो भिक्खु चतारो महाराजानो अम्हेहि अभिक्कन्तरा च पणीततरा च। ते खो एतं जानेय्युं ... चतारो महाराजानों तं भिवखु एतदवोचु - मयं पि खो भिवखु न जानाम ... वायोधातु ति। तावतिसां ... याम - देवानभिन्दों ... सुयाम .... तुसिता... निम्मानरति ... परनिम्मितवसवती वसवती ,.. सो खो एतं जानेय्य ... वायोधातु ' ति ।

ब्रह्मयानियों मग्गो पातुरहोसि... ब्रह्मकायिके देवे एतेदवोच ... कत्थ नु खो ... वायोधातु ति। ... ब्रह्मा ... अथखों सो, केवट्ट भिक्खु येन महाब्रह्मा तेनुपसंकमि उपसंकमित्वा तं महाब्रह्मान एतदवोच - कत्थ नु खों आवुसो इमे चतारों महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति, सेय्यथिदं - पथवीधातु ... वायोधातु ति ? एवं वुत्ते, केवट्ट, सो महाब्रह्मा तं भिक्खु एतदवोच - अहमस्मि भिक्खु, ब्रह्मा महाब्रह्मा अभिभू अनभिभूतो अज्जदत्थुदसों वसवती इस्सरो कतता निम्माता सेट्ठो सजिता वसी पिता भूतभब्यान' ति। दुतियंपि .. कत्थ नु खो तं आवुसो इमे चतारो महाभूता ...पथवीधातु ...वायोधातु ति? न खोहं तं, आवुसो एवं पुच्छामि - त्वमसि ब्रह्मा महाब्रह्मा अभिभू अनभिभूतो अञ्जदत्थुदसो वसवती इस्सरो कता निम्माता सेट्ठो सजिता वसी पिता भूतभब्यानं ति। एवं च खो अहं त, आवुसो, पुच्छामि - कत्थ नु खो, इमे चतारो महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति, सेय्यथिदं पथवीधातु - आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु ति ?।

आवुसो, इमे चतारो... वायोधातु ति ?

अथखो सो, क`वट्ट महाब्रह्मा तं भिक्खु बाहाय गहेत्वा एकमन्तं अपनेत्वा तं भिक्खु एतदवोच - इमे खो मं, भिक्खु, ब्रह्मकायिका देवा एवं जानन्ति नत्थि ब्रहुनो अज्जातं, नत्थि किन्चि ब्रहुनो अदिट्ठं, नत्थि किन्चि ब्रहुनो अविदितं, नत्थि किन्चि ब्रहुनो असच्छिकतं ति। तस्मातं तेसं सम्मुखान व्याकांसी। अहं पि खो भिक्खु, न जानामि यत्थि मे चतारों महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति, सेय्ययिदं - पथवीवाधु, आपोधातु तेजोधातु, वायोधातु ति। तस्मातिह, भिक्खु तुम्हेवेतं दुक्करं तुरहेवेतं अपरद्वं य़ं त्वं तं भगवन्तं अतिधावित्वा वहिद्धा परियेटिठ आपज्जसि इमस्स पन्हस्स वेययाकरणाय। गच्छत्व, भिक्खु, तमेव भगवन्तं उपसंकमित्वा इमं पन्ह पुच्छायथा चते भगवाव्याकरोति तथा न धारेय्यासी ति।

१४४. म.नि., १।५।९ । ब्रह्मनिमतिकसुत।

१४५. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि. का इ., पृ. १७ ।

१४६. बी.सी. जैन, बौ.स. का इ., पृ. ३९७ ।

१४७. जगन्नाथ उपाध्याय, धर्मदूत, पृ. ८४ ।

१४८. एस.एन. रंगसी, दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. ७।

१४९. वही।

१५०. लो.ति. , गी.र., पृ. ५५ ।

१५१. एस.एन. रंगसी, दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. ८।

१५२. वही।

१५३. दी.नि. प्रथम, प्रथम सुत,

१५४. वही।

१५५. वही। १५६. वही।

१५७. वही।

१५८. दी.नि. प्रथम, प्रथम सुत,

१५९. विनयपिटक, महावग्ग, पृ. ७५ ।

१६०. वही।

१६१. परिवास का अर्थ है तीन माह का प्रशिक्षणकाल। जो संप्रदाय कर्मवादी नहीं थे उनके लिए बुद्ध ने यह नियम बनाया था कि उन्हें बौद्ध संघ में दीक्षित होने के पूर्व तीन माह तक किसी बौद्ध भिक्षु की देखरेख में रहना पडता था एवं अपनी बौद्ध भिक्षु बनने की योग्यता सिद्ध करनी होती थी।

१६२. विनयपिटक, महावग्ग,

१६३. म.नि. प्रथम, १।२।४ ।

तृतीय अध्याय

कर्मों का वर्गीकरण

ऊपर दूसरे अध्याय में पालि-त्रिपिटक में कर्म तथा धर्म, कर्म का स्थान व महत्व, कर्म व अन्य सिद्धान्तों का संबंध तथा कर्म के स्वरुप पर संक्षिप्त चर्चा की गयी। इस अध्याय में पालि ग्रन्थों के अनुसार कर्मों के विविध प्रकार, भेद-प्रभेद आदि विषयों की चर्चा करेंगे।

त्रिपिटक में कर्मों की चर्चा स्थान-स्थान पर अत्यधिक सूक्ष्मता एवं विस्तार से पायी जाती है। कर्मों का वर्गीकरण कुशल-अकुशल, कुशलाकुशल एवं न कुशल न अकुशल (शील, विनय अथवा आचार के रुप में भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक, उपासिका), व्यक्तिगत तथा सामूहिक इस क्रम से किया गया।

भगवान बुद्ध ने चेतना को ही कर्म कहा है। इस दृष्टि से कर्म के दो ही प्रकार किये जा सकते हैं - चेतना तथा उसकी प्रेरणाएं[१] अथवा चितकर्म एवं चेतसिक (काय एवं वचन से उत्पन्न) कर्म। चेतना से प्रेरित कर्मों का कुशल तथा अकुशल भेद से पालि साहित्य में निरुपण किया गया है।

कुशल कर्म

सभी कर्म कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

कायिक कुशल कर्म

१. प्राणिहिंसा[२] से विरत रहना (पाणातिपातविरति)।

२. चोरी से विरत रहना (अदिन्नादानविरति)।

३. काममिथ्याचार से विरत रहना (कामेसुमिच्छाचारविरति)।

वाचिक कुशल कर्म

१. झूठ बोलने से विरत रहना (मुसावादविरति)।

२. पैशुन्यवाक से विरत रहना (पिसुणावाचा विरति)।

३. संप्रलाप से विरत रहना (सम्फप्पलापविरति)।

४. परुषवाचा से विरत रहना (परुसावाचाविरति)।

मानसिक कुशल कर्म

१. अलोभ (अनभिज्झा)।

२. अद्वेष (अव्यापाद)।

३. अमोह या प्रज्ञा (सम्मादिटिठ)।[३]

इन कायिक, वाचिक तथा मानसिक कुशल कर्मों को अभिधर्म के अनुसार कामावचर कुशल कर्म, कुशल कर्मपथ, एवं सुचरित भी कहा जाता है।[४]

कर्म पथ के संबंध में निम्न प्रकार से स्पष्टीकरण दिया गया है - कर्म पथ दो प्रकार के होते हैं। कुशल कर्म पथ एवं अकुशल कर्मपथ। अकुशल कर्मों से अकुशल कर्मपथ एवं कुशल कर्मों से कुशल कर्मपथ होता है। अकुशल कर्म कर्मपथ होने वाले भी होते हैं और कर्मपथ न होने वाले भी होते हैं। अपायभूमि तक पहुचांने वाले (अर्थात पुनजन्म की भूमि या स्थान तक पहुंचाने वाले) पथभूत कर्म को ही अकुशल कर्मपथ[५] कहा गया है।

इसी प्रकार कुशल कर्म अर्थात प्राणिहिंसा से विरति प्रभृति दस कुशल कर्म जो कि कामसुगतिभूमितक पहुंचाने वाले होते हैं, ऐसे पथभूत कर्म को ही कुशल कर्मपथ कहा गया है।[६]

कुशल वा अकुशल कर्म यदि कर्मपथ होते हैं तो उनमें प्रतिसन्धि फल देने में समर्थ जनकशक्ति ही मुख्य रुप से होती है। कर्मपथ होने पर भी वे प्रतिसन्धिफल देनेवाले भी होते हैं और न देने वाले भी होते हैं। सभी कर्म कर्मपथ ही होते हैं तथापि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उपकार प्राप्त कुशल या अकुशल कर्म ही प्रतिसन्धि फल दे सकते हैं।[७]

साथ ही यह भी कहा गया है कि कर्मपथ हुआ अथवा नहीं इसका सम्यक ज्ञान करने के लिए उससे संबंधित सभी अंग पूर्ण हुए है कि नहीं यह देखना पडता है। यदि सभी अंगपुर्ण हुए तो कर्मपथ होता है, यदि नही होते तो कोई भी कर्म कर्मपथ नहीं होता। यदि प्राणातिपात अर्थात कोई हिंसा में उसके सभी अगं पूर्ण हुए तो वह कर्म 'कर्मपथ' होगा यदि नहीं हुए तो इस कायिक अकुशल कर्म को केवल कायदुश्चरित कहा जावेगा।[८] इसी प्रकार अन्य कुशल एवं अकुशल कर्मों के संबंध में जानना चाहिए।

इन प्रमुख कुशल कर्मों को परिपुष्ट करने वाले जो दस प्रकार के कर्म हैं उन्हें कामावचर कुशल कर्म कहा जाता है, वे इस प्रकार हैं।

(१) दान, (२) शील, (३) भावना, (४) अपचायन, (५) वैययावृत, (६) पतिदान, (७) प्राप्तानुमोदन, (८) धर्मश्रवण, (९) धर्मदेशना एवं (१०) दृष्टिऋजुकर्म।

...दान, शील एवं भावना ये प्रमुख कर्म हैं, शेष ७ कर्म उनमें समाविष्ट हो जाते हैं -

पत्तिदान, प्राप्तानुमोदन - दान के अंतर्गत

अपचायन, वेययावच्च - शील के अंतर्गत

धमश्रवण, धर्मदेशना एवं दृष्टिऋजुकर्म - भावना के अंतर्गत ।

दान

जिस चेतना से दान दिया जाता है वह चेतना दान है। देने की कारण भूत चेतना को ही कहा गया है[९]। साथ ही दातव्य वस्तु को भी दान कहा जाता है। दान चेतना तीन प्रकार की कही गयी है। दान दूंगा ऐसा विचार मन में लाने से लेकर या देय वस्तु अनुपलब्ध होने पर उसे प्राप्त करने के प्रयत्न से लेकर 'देता हूं' इस प्रकार की सार्थक चेतना जिस क्षण उत्पन्न हो जाती है (उत्पाद - क्षण), इस क्षण के आने से पूर्व के क्षण तक उत्पन्न चेतना को 'पुव्वचेतना' कहा जाता है। 'देता हूं' इस क्षण में उत्पन्न होने वाला चेतना को 'मुञ्चचेतना' कहा जाता है। दान के बाद उसका स्मरण करके उत्पन्न होने वाली सौमनस्य चेतना को अपरचेतना कहा जाता है। ये चेतनाएं सुअवसर होने पर प्रतिसंधि रुप फल भी दे सकती है[१२]।

इस 'दान' नामक कुशल कर्म को परिपुष्ट करने वाले अन्य कर्म निम्नानुसार हैं।

पत्तिदान

सत्पात्रों को दान देने से प्राप्तव्य कुशल भाग (अर्थात जो पुण्य अर्जित होता है) कुशल भाग (पुण्य) के विषय में किसी एक या संपूर्ण तत्त्वों को लक्ष्य करके यह कुशल (पुण्य) जितना मुझे प्राप्त हुआ है, उतना एक को या संपूर्ण तत्त्वों को प्राप्म हो, ऐसा मनसिकार[१३] करके (कुशल भाग को दूसरों के लिए अर्पित करने की) देने की कारणभूत चेतना पतीदान (कही जाती) है[१४]। कुशल भाग दूसरों को देने से दाता के कुशल की कमी नहीं होती। जिस प्रकार एक से दूसरी मोमबत्ती जला लेने से प्रथम मोमबत्ती का प्रकाश कम नहीं होता[१५]।

पत्तानुमोदन

दूसरों द्वारा दिये गये पतिदान का अनुमोदन करने की कारणभूत चेतना को पतानुमोदन कहा जाता है[१६]। दान स्वामी द्वारा दिये गये समभाग का साधुवाद करने से पतानुमोदन कुशल होता है[१७]।

शील

अकुशल कर्मो को स्वयं न करने औरी न (बाहय कारणों से प्रेरित होकर) होने देने के लिए कायिक एवं वाचिक कर्मो का अच्छी प्रकार से धारण करने वाला या सम्यक प्रतिष्ठापित करने वाली चेतना को ही शील कहा जाता है[१८] । शील[१९] का सार है - चित का कुशल धर्मो की आर झुकाव और वह होता है कायिक एवं वाचिक संयम के द्वारा[२०] । पुनः शील के ४ प्रकार कहे गये हैं - भिक्षुशील, भिक्षुणीशील, श्रामणेरशील एवं गृहस्थशील (उपासक-उपासिका)। भिक्षु एवं भिक्षुणी प्रतिमोक्ष में उल्लिखित सभी आचार-व्यवहार भिक्षु एवं भिक्षुणी शील के अंग हैं। ये पृथक रुप से 'सिक्खापंद समादियामि' इस प्रकार शिक्षापद का समादान करके ग्रहण किये जाने वाले शील न होकर उपसम्पदा ग्रहण करने के बाद अपने आप गृहीत हो जाने वाले हैं। भिक्षु भिक्षुणियों को आजीवन इनका पालन करना होता है। ये उनके नित्यशील हैं। पाराजिक आपत्ति होने पर या स्वयं भिक्षु जीवन का परित्याग करने के उपरान्त व्यक्ति इन शीलों से मुक्त हो जाता है। परन्तु इसके बाद भी अपने आप को भिक्षु समझे और वैसी लोकों में घोषणा करे तो उसका वह शील तथा वैसी भावना दुःशील मानी जाती है। पाराजिक के अतिरिक्त अन्य शिक्षा पदों में से कोई भिक्षु किसी एक का भी अतिक्रमण करके विनय के अनुसार शुद्धि नहीं करता, तो उसे अलज्जी (लज्जाहीन) पुदगल कहते हैं। इसी प्रकार भिक्षुणी के विषय में भी जानना चाहिए[२१]।

श्रामणेर त्रिशरण स्वीकार करके प्राणातिपात विरति आदि दस शीलों का समादान स्वयं ही करता है। यदि वह उनमें से एक का भी भंग करता है तो उसका श्रामणेर भाव नष्ट हो जाता है। त्रिशरण का पुनः समादान करने पर वह फिर शील सम्पन्न श्रामणेर हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थों के लिए पंचशील (हिंसा, चोरी, झूठ बोलना, काम-मिथ्याचार एवं नशीली चीजों का सेवन इत्यादि से विरत रहना) नित्यशील के रुप में आदेश दिया गया हैं। इनके पालन करने से लाभ होता है और पालन न करने से आपत्ति होती है[२२] । इन सामान्य शीलों से संबंधित उपोसथशील, चरित एवं वारितशील भी होते हैं[२३] ।जो संक्षेप में इस प्रकार है।

उपोसथ शील

उपरोक्त पंचशीलो के अतिरिक्त तीन शीलों को मिलाकर 'अष्टांगशील' होता है वे तीनशील है - दोपहर के बाद भोजन न करना, (विकाल भोजन वेरमणि) ब्रह्मचर्य का पालन करना (अब्रह्मचरियावेरमणि) उच्च आसन या उच्चशय्या पर न सोना। (उच्चसयन महासयणा वेरमणि) ये गृहस्थों के उपोसथ शील हैं[२४]। ये शील केवल उपोसथ के दिन ही नहीं तो अन्य दिनों में भी पालन करने योग्य होते हैं[२५] । गृहस्थ यदि चाहें तो इस शीलों का उपरोक्त आठो के अतिरिक्त चांदी, सोने की चीजों का व्यवहार न करना (जातरुपरजतपटिग्गहणा वेरमणि) माला, सुगन्धित पदार्थ, माथे

[illegible] तथा किसी भी प्रकार के आभूषण या अलंकार धारण न करना (माला गन्धविलेपन - धरण, मंडणविभुसनट्ठाना वेरमणि) का भी पालन कर सकते हैं[२६] । पंचशील के अतिरिक्त शीलों में से किसी एक के भंग होने पर पाप नहीं होता, केवल फल की प्राप्ति नहीं होती किन्तु पंचशील में से किसी एक के भंग होने पर पाप होता है[२७] ।

गृहस्थो की भांति भिक्षुओं के लिए भी उपोसथशील की व्यवस्था बौद्धविनय में की गई है - जिसे विनयपिटक में स्वतंत्र स्थान दिया गया है। उस विनयपिटक में दिये हुए नियमों उपनियमों का उल्लंघन करने पर भिक्षु भी संघ के साथ या अकेले भी उपोसथ करते हैं तथा अपने अपराधों को स्वीकार करते हैं उसे ही उपोसथशील या उपोसथ-कर्म कहा जाता है[२८] । उनके उपोसथ संबंधी कार्य का विवरण निम्न प्रकार से है।

उपोसथ का तात्पर्य भिक्षु संघ एकत्रित होकर धर्मोपदेश करने से हैं। जो विधिनियम भिक्षु के लिए लागू किये गये हैं जैसे पाराजिक संघादिसेस, अनियतधर्म आदि (इनका विवेचन प्रथम अध्याय में साहित्य के परिचय के प्रसंग में किया जा चुका है) इन नियमों का पाठ उपोसथ के दिन किया जाता है। इन नियमों को प्रकाशित करने की प्रक्रिया को प्रातिमोक्ष[२९] कहा जाता है। उपोसथ के दिन धर्मोपदेश भी किया जाता हैं किन्तु इस प्रसंग में भिक्षु नियमों का जो पाठ किया जाता हैं वही महत्वपूर्ण है।

उपोसथ के लिए दिन एवं सीमा का निर्धारण किया गया है। चतुदर्शी पूर्णमासी एवं अष्टमी को उपोसथ किया जाता है। उपोसथ के लिए पर्वत, पाषाण, वन, वृक्ष, मार्ग, वल्मीक, नदी, उदक आदि चिन्ह निश्चित कर दिये जाते हैं। कभी विहार, अटारी-प्रसाद, हर्म्य, गुहा आदि को भी उपोसंथागार के रुप में निश्चित कर दिये जाते है जहां सभी भिक्षु पूर्व सूचनानुसार स्थाविर भिक्षु के पास पहुंच जाते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं - (१) संघ के कुछ भाग का धर्म विरुद्ध उपोसथ कर्म करना (२) समग्र संघ का धर्म विरुद्ध उपोसथ कर्म करना (३) संघ के एक पार्श्व या भग का धर्मानुकूल उपोसथ करना और (४) समग्र संघ का धर्मानुकूल उपोसथ करना। इनमें चतुर्थ क्रम का उपोसथ कर्म विधेय माना गया है। जिसका विस्तृत विवरण विनयपिटक के महावग्ग में दिया गया है[३०] ।

चारित्र एवं वारित्र (चारित एवं वारित) शील

जो भगवान बुद्ध द्वारा 'यह करना चाहिए' कहे गये शिक्षापद (नियम) का पालन करना है वह चरित्र शील है[३१] । इस संबंध में निश्चित व्यवस्था नही दी गई है। फिर भी साधारणतः सेखीय[३२] धर्मो को इस कोटि में लिया जा सकता है।

अभिधम्मत्थसंगहो में इस कल्पना का संकेत मिलता है, अपने देश जाति, कुल एवं काल के अनुसार उचित समझे जाने वाले एवं आचरण किये जाने वाले कर्म 'चारित' शील है[३३] । विनयपिटक के खन्धक नामक प्रकरण (महावग्ग) में आने वाले वे कर्म जिनका पालन करने से तो कुशल फल होता है किन्तु पालन न करने से कोई आपति नहीं होती, वे भी चरितशील ही हैं[३४] । उनके न जानकर पालन करने से पाप न होनें पर भी लोक में निन्दा अवश्य होती है[३५] । जिनके पालन न करने से आपत्ति (पाप) होती है वे पाचं शील 'वारित' शील हैं[३६]। इसका पालन करने से कायिक एवं वाचिक कार्यो का संयमन एव संरक्षण होता है जिसे 'इन्द्रियगुति' कहा गया है[३७] ।

अपचायन, माता, पिता, गुरु एवं धर्म पालन करने वाले श्रमण ब्राह्मणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना एवं उनका अभिवादन करना, जो कि अपने लाभ या यश के लिए नहीं होता[३८] । वेय्यावच्च - मातापिता एवं रोगी आदि अन्य व्यक्तियों के द्वेषरहित कार्यो में सहायता करने की कारणभूत चेतना वेय्यावच्च कहलाती है[३९]।

भावना

अनुत्पन्न कुशल धर्मो को उत्पन्न करती है एवं उत्पन्न कुशल धर्मो को बढाने वाले चितों का उत्पाद करती है[४०] । जब भावना प्रारंभ की जाती है तब कुशल चित उत्पन्न होते हैं तथा उन कुशल चितों के उत्पाद के अनन्तर पुनः पुनः भावना करने से वे कुशल चित वृद्धिगत होते हैं। चित का संयम भावना से ही होता है[४१] । इस कुशल कर्म को निम्नलिखित कर्म पुष्ट करते हैं।

१. धर्मश्रवण

लोक प्रशंसा की अपेक्षा न करके अपने ज्ञान के लिए तथा दूसरों को भली प्रकार धर्म देशना करने के लिए धर्मश्रवण करना ही धर्मश्रवण है[४२] ।

२. धर्मदेशना

लाभ, सत्कार, यश आदि की कामना न करके सत्त्वों के हित सुख के लिए पवित्र चेतना द्वारा की गयी धर्मदेशना ही धर्मदेशना है[४३] ।

३. दृष्टिऋजुकर्म

सम्यक देखने वाले ज्ञान को सम्यक दृष्टि कहते हैं। वह दृष्टि स्वसंबद्ध[४४] कारणों द्वारा ऋजु किये जाने के कारण ऋजु कर्म कहलाती है। इस प्रकार दृष्टि एवं ऋजुकर्म को दृष्टिऋजुकर्म कहा जाता है[४५] ।

अकुशल कर्म

ऊपर कुशल कर्मों के भेद-प्रभेद एवं उनका वर्गीकरण दिखलाया गया है। नीचे संक्षेप में अकुशल कर्मों के भेद तथा उनके मूल हेतुओं के अनुसार उनका वर्गीकरण निम्नानूसार है।

प्राणातिपात, अदतादान, काममिथ्याचार, मृषावाद, पैशुन्यवाक्क, परुषवचन, संप्रलाप, अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि[४६]।

उपर्युक्त १० अकुशल कर्म कायिक, वाचिक एवं मानसिक इन ३भेदों में विभाजित हैं[४७]।

कायिक

प्राणातिपात, अदतादान, काममिथ्याचार।

वाचिक

मृषावाद, पैशुन्यवाक, परुषवचन एवं संप्रलाप।

मानसिक

अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि।

इन्हीं कर्मों को पृथक पृथक लोभ, द्वेष एवं मोहमूलक होने से निम्न प्रकार से बांटा गया है।

लोभमूलक चित से काममिथ्याचार, अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि ये तीन अकुशल कर्म उत्पन्न होते हैं[४८]।

प्राणानिपात, परुषवाक एवं व्यापाद ये तीनों कर्म द्वेषमूलक चिंत से उत्पन्न होते हैं२[४९]।

अदतादान, पैशुन्यवाक, संप्रलाप एवं मृषावाद ये चार अकुशल कर्म संयुक्त रुप से लोभमूल एवं द्वेषमूल से उत्पन्न होते हैं[५०] जिनका अध्याय चार में 'संस्कार' के अंतर्गत विशेष विचार किया जावेगा।

कायिक,वाचिक एवं मानसिक कुशल कार्में का विशेष विचार किया गया है।सर्वप्रथम प्राणातिपात को लें।प्राणातिपात (हिंसा) किसी शस्त्र आदि द्वारा अतिक्रमण करके जीवितोन्द्रिय के निपात करने की चेतना को प्राणतिपात कहते हैं[५१]।

किसी दूसरे (जीवधारी) सत्त्व का स्वयं वध करने रुप क्रिंया एवं उसका वध कर दो इस प्रकार के आज्ञारुप वाक-प्रयोग का उत्पाद करने वाली वाक चेतना भी प्राणातिपात है[५३]। हिंसक, क्रूर, लोहितपाणी (खून से रंगे हाथों वाला) मारकाट में

रत होना, प्राणियों के प्रति निर्दय होना यह सब प्राणातिपात है। इस प्रकार कायिक, वाचिक एवं मानसिक किसी भी प्रकार से हिंसा की भावना, हिंसा पूर्ण वचन, एवं हिंसक कृत्य प्राणातिपात के अंतर्गत आते हैं।

प्राणातिपात में दो शद्ब हैं - प्राण तथा अतिपात। लोक व्यवहार में प्राण सत्त्व अथवा प्राणवान जीव को कहा जाता है। पात का अर्थ है निपात। अतिशीघ्र निपात करना ही अतिपात है। इस प्रकार प्राणानिपात का अर्थ है प्राण का अतिशीघ्र निपात करना[५४]। अपने कर्म के अनुसार किसी प्राणी को पूरे समय तक (जीवित) न रहने देकर शीघ्र (समय से पूर्व) निपात करना प्राणातिपात कहलाता है[५५]।

इसके पूर्व कुशल कर्मो के प्रसंग मे कर्मपथ की चर्चा की गई है। अर्थात किसी भी कर्म से प्रतिसन्धी या पूनर्जन्म होने के लिए उसके (कर्म) के जो अंग होते है वे परिपूर्ण हुए अथवा नहीं इसी पर उनका कर्मपर्थ निश्चित होता है पत्येक कर्मो के अंगो की संख्या भिन्न है। अब उपरोक्त 'प्राणातिपात' कर्म के अंगो एवं प्रयोगो का विचार करें।

इस कर्म के पांच अंग होते है, प्राण, प्राण की संज्ञा, घात (वधक), चित, उपक्रम अर्थात उस कर्म में उत्साह रुप वीर्य तथा उस उत्साह के कारण मृत्यु ये प्राणतिपात कर्म की वधक चेतना के कारणभूत अंग है[५६]। ये सभी अंग परिपूर्ण होने पर प्राणातिपात कर्मपथ होता है। पूर्व के चारों अंगो के परिपूर्ण होने पर भी यदि पाचंवा अंग परिपूर्ण नहीं होता अर्थात मरण नहीं होता हैं तो यह कर्म कर्मपथ नहीं होता[५७] प्राणातिपात छः प्रकार से किया अथवा कराया जा सकता है - वे निम्न प्रकार से कहे गये हैं।

१. साहत्थिक प्रयोग

अपने हाथ से दण्ड शस्त्र आदिं लेकर मारना ही साहत्थिक प्रयोग है[५८]।

२. आणतिक प्रयोग

मुख द्वारा, लिखकर, संकेत बनाकर या सन्देशवाहक द्वारा वध की जो आज्ञा दी जाती है वह आणतिक प्रयोग है[५९]।

३. निस्सग्गिय प्रयोग

तीर, बन्दूक, माला, पत्थर या दण्ड आदि फेंककर भवध करना[६०]।

४. थावर प्रयोग

मारने के लिए मार्ग में गड्ढा आदि बनाकर वध के उपकर रख देखा[६१]।

५. विज्जामय प्रयोग

तंत्र, मंत्र, योगिनी आदि द्वारा वध करना[६२]।

६. इद्धिमय प्रयोग

'कर्मज' ऋद्धि के बल से वध करना इद्धिमय प्रयोग है[६३]। विशुद्धि मार्ग में कर्मज ऋद्धि की जगह 'कर्म-विपाकज ऋद्धि' शद्ब प्रयोग मिलता है[६४]।

चोरी (अदत्ता दान)

अदत (बिना दी हुई) वस्तु को ग्रहण करना अथवा ग्रहण करने की चेतना ही चोरी (अदिन्नादान) है[६५] । अदत वस्तु की स्वयं चोरी करके झूठ बोलकर या किसी को आज्ञा देकर उसको ग्रहण कर लेने रुपी काय-प्रयोग एवं वाक प्रयोग का उत्पाद करनेवाली चेतना ही (वास्तव में) अदिन्नादान है[६६] । तिरच्छान की सम्पत्ति ले लेने में आपत्ति होने या न होने के विषय में पिटकों में एक वाक्यता नहीं पायी जाती। विनय के अनुसार कोई आपति नहीं होती, किन्तु सुत्तन्त (सुतपिटक) एवं अभिधर्म के अनुसार अदिन्नादान कर्म हो जाता है[६७] ।

इस कायिक कुशल कर्म के भी पाचं अंग हैं -

१. दूसरे की संपत्ति का होना।

२. यह दूसरे की संपत्ति है ऐसा ज्ञान होना।

३. स्तेय चित (अर्थात चोरी करने की इच्छा होना) का होना।

४. उपक्रम (स्तेय कर्म में कायप्रयोग या वाक प्रयोग द्वारा प्रयत्न का होना)।

५. उस प्रयत्न (उपक्रम) द्वारा अपहरण किया जाना[६८] ।

प्राणातिपात की तरह इसके भी छः प्रयोग कहे गये हैं[६९] । जो दूसरों का बिना दिया, चोरी का कहा जानेवाला, गाव या जंगल में रखा धान या अन्य कोई सामान रखा है उसको ले लेना यह भी अदिन्नादान का क्रियात्मक रुप है[७०] । इसके भी अंग परिपूर्ण होने पर ही यह कर्मपथ होगा अन्यथा धर्मपथ नहीं होगा।

काममिथ्याचार

यह तीसरे प्रकार का कायिक अकुशल कर्म है। स्त्री-पुरुष के रमण में पापाचार करना ही काममिथ्याचार है[७१]। इस कर्म के भी चार अंग एवं एक प्रयोग होता है[७२]।

१. अगमनीय वस्तु का होना।

२. उसके सेवन का चित होना।

३. प्रयोग (अर्थात सेवन के लिए प्रयत्न होना)।

४. मार्ग द्वारा मार्ग के सेवन में रसानुभूति या मार्ग से मार्ग की प्राप्ति की कामना (कामांग द्वारा कामागों की प्राप्ति)।

इन चार अंगो की परिपूर्णता होने पर ही यह अकुशल कर्म कर्मपथ होता है। इसका केवल एक साहत्थिक प्रयोग होता है[७३] । इसे कर्मपथ होने वा न होने तथा इसके अंगो के संबंध में मतभेद हैं। वे मुख्यतः इस प्रकार है -

१. कुछ आचार्यों के मतानुसार स्वयं प्रयोग न करके दूसरों द्वारा किये जाने वाले प्रयोग में यदि रसानुभूति होती है जो प्रयोग न होने के कारण कर्मपथ नहीं होता[७४] ।

२. प्रयोग नहीं होने पर भी यदि सेवन का चित होता है तो कर्मपथ हो ही जाता है, क्योंकि कभी कभी स्त्री-आदि द्वारा प्रयोग न होने पर (अर्थात पुरुष् के साथ सहवास न करने पर) भी कृत्य सम्पन्न होता है[७५] । इस प्रकार इस कर्म में कर्मपथ होने या न होने में मतभेद है जो कि सचमुच विचारणीय हैं। मूलपिटकों में इस संबंध में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

प्रथम मत का विचार किया जाय तो स्वंय अपने प्रयोग न होने पर अर्थात वह कार्य न करने पर कर्मपथ नहीं होना चाहिए। क्योंकि यह कायिक कर्म है। किसी शराबी व्यक्ति ने शराब पीने पर नशा तो उसे ही आयेगा अन्य को नहीं। इसी प्रकार स्वयं कामाचार का प्रयोग किये बिना केवल रसानुभूति के कारण उसे कर्मपथ मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। दूसरे मतानुसार बिना प्रयोग (अर्थात पुरुष के बिना) भी यदि कृत्य (कामाचार) सम्पन्न हो जाता है तो चार अंग नहीं होने चाहिये, तीन ही होने चाहिए[७६] । जब पुरुष के साथ सहवास ही नहीं होगा तो चार अंग होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होना चाहिए था किन्तु अट्ठकथा[७७] में चार अंग कहे गये हैं इसलिए परम्परावशात् चार अंग ही माने जाते हैं। अब अगमनीय वस्तुओं की सूचि पिटकों के अनुसार दी जा रही हैं जिसमें हमें यह विदित होगा कि अगमनीय वस्तुएं कौन सी हैं।

(१) मातृरक्षिता (२) पितृरक्षिता (३) मातृ-पितृरक्षिता, (४) भगिनी-रक्षिता (५) भ्रातृरक्षिता (६) ज्ञातिरक्षिता (७) गोत्ररक्षिता (८) धर्मरक्षिता[७८] (समान धर्म का आचरण करने वाली बुद्धभिक्षुणी-आदि द्वारा रक्षित)

उपरोक्त आठ प्रकार की स्त्रियों की कामवस्तु (योनि) का कोई स्वामी नहीं होता। अतः ये अपनी इच्छानुसार अपनी कामवस्तु से दूसरों को रमण करने की अनुमति दे सकती हैं। ऐसा करने पर इन स्त्रियों को काममिथ्याचार का अपराध नहीं लगता। केवल कायदुश्चरित का दोष लगता है[७९] । जिन स्त्रियों के साथ सहवास करने पर पुरुषों को काममिथ्याचार का दोष लगता है वे इस प्रकार हैं -

९. सपरिदण्डा - जिसके साथ् सहवास करने में राजा (शासन) द्वारा दण्ड निर्धारित किया गया हो।

१०. सारक्खा - गर्भावस्था से ही जो किसी के द्वारा परिगृहित कर ली जावे कि यह मेरी है। अथवा जिसके विवाह की निश्चित कर दी गयी रहती है, उसे सारक्खा कह सकते हैं।

११. धनक्कीता - धन द्वारा किसी के द्वारा खरीदी गई स्त्री ।

१२. **छन्दवासिनी** - मातापिता की अनुज्ञा के बिना अपने द्वारा मनोनीत पति के घर वास करने वाली।

१३. **भोगवासिनी** - किसी पुरुष की सम्पति का भोग करने के लिये, अपने आप उसे पति बनाकर, उसके घर में वास करने वाली।

१४. **पटवासिनी** - वस्त्रों की प्राप्ति के लिये किसी के घर में रहनेवाली स्त्री।

१५. **ओदपतकिनी** - पात्र में जल गिराकर ग्रहण की गई स्त्री।

१६. **औभटचुम्बटा** - वह स्त्री जो पहले लकडी, पानी आदि ढोने के लिए सिर पर चोमली रखे रहती थी, किन्तु पति मिल जाने के कारण जिसकी चोमली हट चुकी।

१७. **धजाहटा** - पराजित देश से बन्दी बनाकर लायी हुई स्त्री ।

१८. **कम्मकारी भरिया** - पत्नी के रुप में रखी हुई नौकरानी।

१९. **दासी भरिया** - पत्नी के रुप में रखी हुई दासी।

२०. **मुहुतिका** - धन देकर कुछ समय के लिए रखी गई वेश्या आदि।

उपर्युक्त बारह प्रकार की स्त्रियो का कोई न कोई स्वामी अवश्य होता है। अतः यदि ये अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से सहवास करती हैं जो इन्हें काममिथ्याचार का अपराध लगता है। धन लेकर अपनी कामवस्तु को अर्पित करनेवाली वेश्या जिससे प्रथम धन लिया है उसके साथ सहवास करने के पूर्व यदि किसी अन्य पुरुप के साथ सहवास करती है तो वह भी काममिथ्याचार की दोषी होती है[८०] ।

इससे स्पष्ट होता है कि मातृरक्षितादि ८ स्त्रियों द्वारा अपनी कामवस्तु को दूसरों को देने पर भी काममिथ्याचार नहीं होता। सारवखादि ग्यारहप्रकार की स्त्रियां अपने पति के सिवा अन्य पुरुषों के साथ सहवास करती हैं या उन्हें अपनी कामवस्तु अर्पित करती हैं तो उन्हें काममिथ्याचार का दोष् होता है। पुरुषों के लिए अपनी पत्नी के अतिरिक्त उपरोक्त सभी बीसों प्रकार की स्त्रियों से सहवास करने पर काममिथ्याचार होता है। फिर भी वह अपने धन से खरीदी हुई स्त्री आदि के (अर्थात ११से २० तक की स्त्रियों के) साथ् सहवास कर सकता है अर्थात अपनी पत्नी के अतिरिक्त यदि ११ से २० तक की स्त्रियों में से किसी भी एक स्त्री से जो उसकी भरिया हो गई अथवा जिसने उसे अपना पतिमान लिया ऐसी स्थिति में पुरुष को काममिथ्याचार का दोष नहीं लगता।[८१]

वाचिक अकुशल कर्म

मृषावाद (मुसावाद) पैशुन्यवाक (पिसुणावाचा) परुषवाक (फरुसावाचा) एवं संप्रलाप (सम्फप्पलाप) ये चारों प्रकार के कर्म वाचिक अकुशल कर्म कहे गये है[८२] । ये कर्म वची विज्ञप्ति[८३] नामक वाकद्वार[८४] में ही बहुलतया प्रवृत्त होते हैं इसलिय इन्हें वाक कर्म या वाचिक कर्म कहा जाता है[८५] ।

मृषावाद

इन शद्बो का प्रयोग जिस व्यावहारिक अर्थ में आज किया जाता है, उसी अर्थ में पालि पिटको में भी उनका प्रयोग किया गया है। मृषावाद को सबसे गंभीर अकुशल वाक कर्म कहा गया है[८६] । झूठ बोलने को मृषावाद कहा जाता है। किसी वस्तु के विषय में पूछने पर ज्ञात होने पर भी नही कहना, या ठीक से जानने पर भी नहीं कहना, या ठीक से जानने पर भी कुछ का कुछ कह देना मृषावचन है[८७] । जिस चेतना द्वारा 'अभूत' अर्थात 'मृषा' कथन किया जात है स्वयं वह चेतना ही मृषावाद है[८८] । लिखकर या हाथों से अथवा भ्रामक संकेतो के रुप में की जाने वाली कायिक क्रियाएं भी मृषावाद के अंतर्गत आती है। तथापि प्रधानतः मृषावाद वाचिक अकुशल आचरण हैं, क्योंकि वाक द्वारा ही अधिकतर मृषावाद होता है इसलिए 'बहुलतया' यह विशेषण लगाकर वाचिक अकुशल कर्म को अधिक स्पष्ट किया गया है[८९] । सभा, परिषद, ज्ञाति, प्रंचायत, या राजदरबार में साक्षी के बुलाने पर न जानते हुए न देखते हुए जानता हूं, देखता हूं, ऐसा कहना अथवा अपने या पराये के लिए झूठ बोलना[९०] ये सब मृषावाद के ही अंतर्गत आते हैं।

मृषावाद के चार अंग होते हैं। अभूत वस्तु विसंवादन चित, विसंवादन चित के अनुसार होने वाला व्यायाम (प्रयत्न) तथा दूसरों द्वारा उस वचन के अर्थ को जानना। यदि मृषा कहने पर भी दूसरों के द्वारा विश्वास नहीं किया जाता तो कर्म बन्धंन नही हो सकता[९१] । विश्वास होने पर तथा विश्वास करके किसी कृत्य के करने से यदि अनर्थ होता है तभी मृषावाद का कर्म बंध होगा। किसी अपराधी के विषय में जिसके प्रति अपराध हुआ है, वह यदि कहे कि जिसे अपराधी समझा जा रहा है, उसने ऐसा कोई अपराध नहीं किया उसे दण्ड न दिया जावे, तो शासन एवं तथाकथित अपराधी इन दोनों का हित हुआ तथा प्रसन्नता हुई ऐसे मृषावाद में कर्म बन्ध नहीं होता[९२] ।

पैशुन्यवाक

फूट डालने के लिए यहा सुनकर वहा कहना, फूट डालनेवालों को बढावा देना (या उत्पनन हुई फूट को बढावा देना) वर्ग भेद, दलबंदी में रत, आनन्दित रहना तथा वर्ग भेद उत्पन्न करने वाली वाणी बोलना, ये सभी पैशुन्यवाक के अंतर्गत् आते है[९३] । समग्र भाव (एकता) को जो पीसती है अर्थात संचूर्ण करती है वह पैशुन्यवाक है[९४] । दो व्यक्तियों के परस्पर ऐक्य को नष्ट करना, किसी को अपना प्रिय बनाने या अपनी ओर आकर्षित करने के लिये दूसरों के विषय में उनके अर्थात दो व्यक्तयिों के परस्पर प्रेम के प्रति प्रेम नष्ट करने वाले वचन कहना ये सब व्यवहार भी पैशुन्यवाक के अंतर्गत आते है, ऐसे वाक्यों को भी, एवं उसकी कारणभूत चेतना को भी पैशुन्यवाक कहा जाता है[९५] ।

इसके चार अंग हैं - भेदनीय वस्त् उसके प्रति प्रिय की कामना, अथवा उसके प्रिय को अपना बनाने की कामना, उस कामना से उत्पन्न व्यायाम (प्रयत्न) तथा भेद करने के अभिप्राय को दूसरों के द्वारा समझा जाना[९६]। इसमें दो प्रयोग होते है, एक वाक प्रयोग एवं दूसरा काय प्रयोग। दो व्यक्तियों को परस्पर झगडा कराने में मुख से बोलने पर वाक्प्रयोग होता है, तथा हाथ पैर से इशारा करके झगडा कराने पर काय प्रयोग होता है[९७]।

परुष वचन

आरे की तरह तीक्ष्ण, कर्कश, कठोर दूसरों को पीडित करने वाली वाणी को परुष वचन कहा गया है[९८] एवं उसकी कारणभूत चेतना को भी (कोर्योपचार से) परुष वाक कहा जाता है[९९]।

माता पिता एवं गुरु आदि अपने पुत्र, पुत्री एवं शिष्य को उन्हीं की भलाई के लिए डांटते डपटते हैं, या कठोर वाणी का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनकी चेतना मृदु होती है। अतः वाणी कठोर होने पुर भी चेतना के मृदु होने के कारण उनका डांटना डपटना (परुष्वचन) नहीं कहा जाता[१००] कोप, उपकृष्ट (भर्त्सना) एवं आक्रोश (गाली या शाप देना) ये परुषवाक के तीन अंग है[१०१]। चेतना के कठोर होने पर वाणी के मृदु होने पर परुषवाक कर्मपथ होता है[१०२]।

सम्प्रलाप

अयथार्थ, अधर्मवादी, अविनयपूर्ण, असमय, उद्देशहीन, तात्पर्यहीन, अनर्थयुक्त, निःसार वाणी बोलना आदि 'संप्रलाप' नामक वाचिक अकुशल कर्म कहलाता है[१०३] और जिस चेतना द्वारा हित सुख का नाश करने वाली ऐसी वाणी का कथन होता है उस चेतना को भी संप्रलाप कहा जाता है[१०४]। सुख का नाश करने वाला तत्त्व 'सम्फ' कहलाता है[१०५]। इसके दो अंग होते हैं - (१) दूसरों के द्वारा कही जाने वाली निरर्थक कथा को प्रोत्साहन देना अथवा (२) स्वयं ऐसी कथा कहना।

दूसरों द्वारा (सुननेवालो द्वारा) 'यह सत्य है' ऐसा ग्रहण किया जाने पर ही यह अकुशल कर्म कर्मपथ होता है[१०६], परन्तु वास्तविक कोई वस्तु न होने पर भी दूसरों के हित सुख के लिए काल्पनिक बातें उदाहरण के लिए कही जाती हैं, या लिखी जाती हैं तो संप्रलाप नहीं होती[१०७]।

मानसिक अकुशल कर्म

कायिक एवं वाचिक अकुशल कर्मों के उपरान्त, मानसिक (चैतसिक) अकुशल कर्मों के संबंध में चर्चा करेंगे।

अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि ये तीनों मानसिक कर्म हैं। इन्हें मानसिक

या मनोकर्म कहने का कारण यह है कि ये तीनों अकुशल कर्म कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति के बिना भी बहुलतया मनोद्वार में ही जन्म लेते हैं और प्रवृत्त होते हैं[१०८]। इन त्रिविध कर्मों का स्वरुप इस प्रकार है।

अभिध्या

दूसरों की धन संपत्ति का लोभ करना, वह पराया धन मेरा हो जाय इस प्रकार का लोभ करना ही अभिध्या कर्म है[१०९]। अपने कर्म, ज्ञान एवं वीर्य द्वारा उपार्जित संपत्ति उनके पास न रहकर मेरे पास आ जावे, ऐसी असामान्य इच्छा एक विशेष प्रकार का लोभ है, इसलिये भी इसे अभिध्या कहते हैं। पर-सम्पति की अभिलाषा मात्र करना अभिध्या कर्मपथ नहीं होता[११०]। याचना करके या क्रय करके कोई वस्तु प्राप्त करने की इच्छा सामान्य अभिलाषा है। उससे कर्मपथ नहीं होता[१११]। इसके दो अंग होते हैं - (१) परसम्पत्ति एवं (२) उसके स्वायत्तीकरण की अभिलाषा।

व्यापाद

जिस द्वेष के कारण पुरुप दुसरे सत्त्वों के हित, सुख को उनके अहित की कामना से नष्ट करने में प्रवृत्त होता है वह द्वेष ही व्यापाद है[११३]। दूसरों के प्रति केवल क्रोधमात्र करने से कर्मपथ नहीं होता व्यापाद मात्र होता है[११४]। केवल द्वेष मात्र कर्मपथ नहीं होता अपितु दूसरे सुखी सत्त्वों को देखकर यह सत्त्व (प्राणी) विनष्ट हो जाय तो अच्छा हो, यह कब विनष्ट होगा, इसके लिए में क्या करुं। इस प्रकार से उनका विनाश चाहनेवाला विशेष प्रकार का द्वेष ही व्यापाद कर्मपथ होता है[११५]।

इसके दो अंग होते हैं - परसत्त्व एवं उसके विनाशदृ की चिन्ता[११६]।

मिथ्यादृष्टि

जो विपरीत रुप से देखती है वह मिथ्यादृष्टि है[११७]। श्रेष्ठ आर्य पुदगलों द्वारा पज्ञप्त सत्य धर्मो को न मानकर उन्हें विपरीत रुप से देखने वाले दृष्टि चैतसिक को मिथ्यादृष्टि कहते हैं[११८]। पंचस्कधों में से किसी एक स्कंध में यह आत्मा है इस प्रकार का उपादान करने वाली सत्कायदृष्टि, ब्रह्मजालसुत में दी हुई बासष्ट दृष्टियां एवं सामञ्ञफलसुत में आनेवाली दस नत्थिकदृष्टियां इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के अनेक भेद-प्रभेद हैं[११९]। 'नत्थिक', 'अहेतुक' एवं 'अकिरिया' इन तीन दृष्टियों से ही कर्मपथ होता है। शेष दृष्टियों से नहीं होत[१२०]। कर्मपथ होने वाली उपरोक्त तीनों दृष्टियों का संक्षेप यहां दिया जाना विषय की दृष्टि से अनिवार्य होने से उनका विचार किया जा रहा है।

नत्थिक दृष्टि

दीघनिकाय[१२१] में कहा गया है कि नत्थि महाराज, दिन्न, नत्थि यिट्टं

नत्थिहुतं, नत्थि सुकत दुक्करानं कम्मानं फल विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थिपरो लोको, नत्थि माता, नत्थि पिताः नत्थिसता ओपपातिका, नत्थि लोक समणब्राह्मणा समग्गता सम्मापटिपन्ना ये इमञ्च लोक परञ्च लोक सयं अभिज्जा सच्छिकत्वा पवेदेन्ति। अर्थात दान नहीं है, यजन नहीं है, हवन नहीं है, सुकृत, दुष्कृत का फल नहीं है, यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता नहीं है, पिता नहीं है, औपपातिक सत्त्व नहीं है, संसार में ऐसे ऐक्य सम्पन्न एवं सम्यक प्रतिष्ठित श्रमण ब्राह्मण नही है जो इस लोक एवं परलोक को स्वंय जानकर, साक्षात करके लोक को उपदेश करें।

सामञ्ञफल सुत्त की अट्ठकथा[१२२] में इस दृष्टि को विपाक पटिबाहन्तेनामि कम्मं पटिवाहित होतीं। इस प्रकार कहा गया है। अभिधम्मत्थसंगहो[१२३] अनन्तरभव में कर्मो का विपाक नहीं होता इस प्रकार कर्मफल का अपलाप करने वाली (एवं) अथवा सत्त्व मरने के अनन्तर उच्छिन्न हो जाता है अर्थात उसकी सन्तति मरणोत्तर विद्यमान नहीं रहती इस प्रकार की दृष्टि भी नास्तिक दृष्टि ही है ऐसा कहा गया है। उपरोक्त दोनों मत मूलपालि का विचार करने से समीचीन जान पडते है।

अहेतुक दृष्टि

हेतु (कारण) भी नहीं है एवं फल भी नहीं है इसे ही अहेतुक दृष्टि कहा गया है। इस सबंध में भी दीघनिकाय[१२४] ~~में कहा गया है~~- नत्थिमहाराज। हेतु, नत्थिपच्चयों सतानं सङ्किलेसाय, अहेतु अपच्चया सत्ता सङ्किलिस्सन्ति। नत्थि हेतु, नत्थिपच्चयों सत्तान विसुद्धिया, अहेतु अपच्चया सत्ता विसुज्झन्ति। अर्थात सत्वों के संक्लेश के लिए हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। वे बिना हेतु एवं प्रत्यय के शुद्ध होते हैं। सत्वों की विशुद्धि का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है।

अकिरिया दृष्टि

कुशल एवं अकुशल कर्म किये जा ने पर भी वे नहीं के बराबर है। इस प्रकार कारणभुत कर्मो का ही अपलाप कर दिया जाता है। इसे पालि में इस प्रकार व्यक्त किया गया है 'करोतो खो महाराज।' कारयतो छिन्दतो छेदाययतो ... न करीयति पाप[१२५] ।(अकुशल कर्म) करते हुए, कराते हुए, करते हुए, करवाते हुए भी कोई पाप नहीं किया जाता। इस प्रकार यहा पर भी स्पष्ट होता है कि कर्मो का अपलाप करने से तज्जन्य विपाक का भी अपलाप हो जाता है। इसी कारण से दीघ निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि कम्म पटिवाहन्तेनापि विपाको पटिबाहितो होती[१२६] । इस प्रकार यहा दृष्टव्य है कि उपरौकत तीनों दृष्टियां कर्म तथा कर्मफल का अपलाप करती हैं। इन तीनों मे से नास्तिक दृष्टि का ग्रहण अजित के संकबलि द्वारा अहेतुक दृष्टि का ग्रहण मक्खलि गोसाल द्वारा एवं अक्रिया दृष्टि का ग्रहण पूरणकस्सप द्वारा किया गया था। इन आचार्यो की गृह्णीत दृष्टि को हटाने में स्वयं भगवान बुद्ध

भी असमर्थ है। अतः इन्हे नियतमिथ्यादृष्टि कहते है। यही तीन दृष्टियां कर्मपथ होती है[१२८] ।

इसके दो अंग है (१) गृहीत वस्तु की विपरीतता एवं (२) उसे (विपरीत को) सत्य रुप में मानना[१२९] अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि के व्यापार मन में ही उत्पन्न होते हैं, मन से ही इनका संबंध है और मन ही इनकी सीमा है।

सुरापान

पालि पिटकों में सुरापान को अकुशलकर्मो में नही गिनाया गया है। मज्झिमनिकाय [१३०] के सम्मादिठिसुत में भी कुशल कर्मो की सारिपुत्र ने चर्चा की है। उसमें भी सूरापान से विरति को कुशल कर्म के रुप में उदधृत नहीं किया गया है। सुरापान की कारणभूत चेतना को सुरापान कहा गया है[१३१] । सुरापान को सीधे सीधे कर्मपथ नहीं कहा जा सकता[१३२], तथापि विभंग की अट्ठकथा में उसे अकुशल कर्मपथों में समाविष्ट किया गया है[१३३] । भगवान बुद्ध ने कहा था 'सुरामेरयपानं मिक्खवे । अ सेवितं भावितं बहुलीकतं निरयसंवतनिकं तिरच्छायोनिसवतनिकं पेतविसयसंवतनिकं। यो सब्बहुल सो सुरामेरयपानस्स विपाको मनुस्सभूतस्स उम्मतकसंवतनिको होतीति[१३४] ।

अर्थात भिक्षुओं। सुरामेरयपान आसेवितं भावित एवं बहुलीकृत किया गया 'निरय' (नरक) तिरश्चीन योनि एवं पितृस्थान को प्राप्त करने वाला होता है। सुरापान का जो सबसे साधारण परिणाम है वह भी मनुष्य को उन्मत करने वाला होता है। सिक्खापद विभग की अट्ठकथा में प्राणातिपात आदि पाच अकुशल कर्मो को ही कर्मपथ कहा गया है[१३५] । अन्य अनुपिटक साहित्य[१३६] में जो अकुशल कर्मो का वर्गीकरण है उसमें भी सुरामेरयमज्जपमादटत्त का उल्लेख नहीं है फिर भी औषध के रुप में भी सुरापान करने अथवा उसे पीकर दुश्चरित न करने पर भी 'कर्मपथ' होता है[१३७] ऐसा कहा गया है।

शिक्षा पदो में 'सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणी'[१३८] अर्थात सुरामेरय एवं मद्यपान इन प्रमाद स्थानों (प्रमाद के हेतुओं) से विरमण करने या विरत रहने की प्रतिज्ञा को एक (नित्य) शिक्षापद तो कहा गया है परन्तु वहा भी इस अकुशल कर्मो में इसका समावेश नहीं किया गया। जबकि काय, वाक, मन इन तीनों कर्मपथों में ऐसे एकाधिक कर्मो का स्पष्ट उल्लेख है जो दो दो मिलकर एक एक में समाविष्ट हो सकतें हैं। अतः उपर्युक्त अट्ठकथाकार के द्वारा दवा के रुप में भी सुरापान करने पर वह 'कर्मपथ' होता है, यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो तेल में मद्य डालने की भगवान द्वारा अनुमति नहीं मिलती[१३९] । हा अधिक मात्रा से पीकर मदहोश होने का निषेध अवश्य किया गया था[१४०] । मद्य का वर्ण, गन्ध और रस न जान

पडे, ऐसी मर्यादा भी मानी गयी थी। ऐसी स्थिति में अट्ठकथाकार का यह मत कि सुरामेरयमद्यपान प्रत्येक स्थिति व परिस्थिति में 'कर्मपथ' होता है, समीचीन नहीं जान पडता। जिस प्रकार प्राणातिपातविरति आदि दस कुशल कर्मों को दस अन्य कुशल कर्म अर्थात दान, शील भावना, अपचायन, वैय्यावृत, पतिदान, प्राप्तानुमोदन, धर्मश्रवण, धर्मदेशना एवं दृष्टिऋजुकर्म परिपुष्ट करते हैं इसी प्रकार सुरापान करने पर व्यक्ति निर्भय होकर अकुशल कर्म करता है एवं उसके व अकुशल कर्म परिपुष्ट होते हैं, और वह प्राणातिपात, काममिथ्याचार आदि अकुशल कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। सुरापान के कारण मृषावाद एवं अभिध्या ये वाचिक एवं मानसिक कर्म मुख्य रुप से किये जाते हैं। अतः इस सुरापान को अकुशल कर्मपथों का आधारभूत कहा गया है[१४१]। खुद्यकपाठ की अट्ठकथा में 'मुसावादो वचिकम्ममेव, योपन (मुसावादो) अत्यमज्जको, सो कम्मपथप्पतो, इतरो कम्ममेव। सुरामेरयमज्ज-पमादट्ठान कायकम्मेमव[१४२]' ऐसा कहा गया है। अर्थात सामान्य मृषावचन वाचिक कर्ममात्र होता है। परन्तु आदि उससे कोई अनर्थ होता है, तब वह 'कर्मपथ' बन जाता है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार साधारण सुरापान करना केवल कायिक कर्म मात्र है।

उपर्युक्त चर्चा से ज्ञात है कि केवल सुरापान को कर्मपथ नहीं माना गया[१४३]। फिर भी भिक्षु एवं उपासको के लिए मद्यपान का निषेध करने का भगवान बुद्ध का यही प्रयोजन था कि जैसे कोई व्यक्ति स्वयं अकुशल कर्म न करके दूसरों द्वारा को अकुशल कर्म करने की प्रेरणा देता है और प्रेरणा देने के कारण वह अधिक पातक का भागी होता है, इसी तरह सुरापान स्वयं में पातक न होने पर भी प्राणातिपातादि दुश्चरित कर्मो का प्रेरक होने से अधिक भयंकर होता है। इसलिए इससे विरत रहना एक प्रकार का नित्य शील होता है[१४४]।

इस प्रकार कुशल एवं अकुशल कर्म, उनसे होने वाले कर्मबन्ध, उनके अंग एवं प्रयोग आदि का विचार यहां पर किया गया। ये कुशलाकुशल कर्म चितोत्पादवश से २० प्रकार के होते है, जिन्हें पुण्य-अपुण्य अभिसंस्कार भी कहा जाता है[१४५]। पुनर्जन्म की दृष्टि से इनका प्रत्यक्ष संबंध होता है। अकुशल कर्म होने में अकुशल हेतु एवं कुशल कर्म होने में कुशल हेतु कारण भूत होते हैं। इन हेतुआं को चैतसिक भी कहा गया है।

कामावचर कुशल चित्त

१. जब कोई पुद्गल (व्यक्ति) देय (दान की) वस्तु को ग्रहण करने वाले योग्य पात्र को अथवा किसी अन्य सौमनस्य के हेतु को प्राप्त करके 'मैनें दान दिया' इस प्रकार सम्यक दृष्टि को आगे करके कष्ट अनुभव न करते हुए तथा इस दान कर्म के लिये किसी अन्य द्वारा प्रेरणा न प्राप्त करके स्वयं दान-आदि पुण्य-कर्मों को करता

है, तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम कामावचर कुशल चित्त कहलाता है। उसे ही सौमनस्य सहगत ज्ञान संप्रयुक्त असंस्कारित चित्त भी कहते हैं[१४६]।

२. जब कोई पुदगल उपर्युक्त प्रकार से प्रसन्न हुआ सम्यक दृष्टि को आगे करके भी दान की गई वस्तु के प्रति आसक्ति रखते हुए दुःखी होता है, अथवा किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा पाकर दान करता है तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित द्वितीय कामावचर कुशल चित्त अर्थात सौमनस्य सहगत ज्ञान संप्रयुक्त ससंस्कारितचित कहलाता है[१४७]।

३. जब जाति बंधु अथवा अपने पूर्वजो की परंपरा से परिचित बालक भिक्षुओं कों देखकर सौमनस्य से युक्त होता हुआ सहसा हस्तगत वस्तु का दान कर देता है, अथवा वन्दना आदि के द्वारा सत्कार करता है तो ऐसे बालक का वै. चित तृतीय कामावचर कुशल चित्त अथवा सौमनस्य सहगत ज्ञानविप्रयुक्त असंस्कारित चित कहलाता है।

जब कोई बालक दान दो, वन्दना करो आदि प्रकार से जातिबंधु अथवा वृद्ध पुरुषो से प्रेरण पाकर, दान, प्रमाण आदि कृत्यों में प्रतिपन्न होता है (प्रवृत्त होता है) तो इस प्रकार के पुदगलों का वैसा चित्त चतुर्थ कामावचर कुशल चित या सौमनस्य सहगत ज्ञान विप्रयुक्त ससंसकारिक चित्त कहलाता है[१४८]।

जब कोई पुदगल देयवस्तु का दान करने के लिए किसी योग्य पात्र अथवा सौमनस्य के किसी हेतु को प्राप्त करके कर्म के उपर्युक्त चारों प्रकारों में सौमनस्य से रहित होकर (उपेक्षा भावना से) दान आदि कुशल कर्मो का संपादन करता है तो उक्त प्रकार के पुदगलों में वैसा चित पंचम कामवाचर कुशल चित्त या उपेक्षा सहगत ज्ञान संप्रयुक्त असंस्कारित चित कहलाता है[१४९]। इसी प्रकार सौमनस्य से रहित होने पर (उपेक्षा भावना से युक्त होकर) इसके पूर्व के द्वितीय से लेकर चतुर्थ चित शेष ३ उपेक्षा सहगत चित्त अर्थात षष्ठ, सप्तम एवं अष्ठमं कामावचर चित्त उत्पन्न होते हैं[१५१]। इस प्रकार 'सौमनस्य', 'उपेक्षा', 'ज्ञान' एवं 'संस्कृत' के भेद से उसके ८ भेद कहे गये हैं। इन्हें महाकुशल भी कहा जाता है[१५२]।यही कामावचर शोभन चित्त है[१५३]। अव्याकृत चितों का विचार किया जाय तो उन्हें सहेतुक कामावचर विपाकचित[१५४] एवं सहेतुक कामावचर क्रिया चित्त [१५५] भी कहा जाता है।

अकुशल चित्त

लोमभूलक कर्म

लोकमूलक कर्म अर्थात काममिथ्याचार, अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि ये ३ अकुशल कर्म करने में ८ प्रकार की अकुशल चेतनाएं होती हैं। इन्हीं चेतनाआं को

लोभमूलक ८ अकुशल चित्त कहा गया है[१५६] । जब कोई मनुष्य अकुशल कर्म करता है तब ऐसा कर्म करने में यदि उसे प्रसन्नता होती है तो पालि में उसे सौमनस्य (सौमनस्य) सहगत कहा जाता है। यदि उपेक्षा की भावना रहती है[१५७], तो उसे उपेक्खा (उपेक्षा) सहगत चित्त कहा जाता है। यही बात हम कुशल चित्त के विषय में देख चुके हैं। इन ८ कुशल चित्तों का स्वरुप इस प्रकार है -

१. यदि लोभमूलक कोई दुष्कर्म (काममिथ्याचार, अभिध्या या मिथ्यादृष्टि) किसी मिथ्याधारणा का सहारा लेकर किया जाता है जैसे 'यह तो मेरा कर्तव्य ही है' ऐसा समझता है एवं ऐसा समझकर अकुशल कर्म करता है, आदि। तब इस दशा में इसे दृष्टिगत (दिटिठगत सम्पयुत) अकुशल चित्त कहा जाता है[१५८] ।इसी को सौमनस्य के साथ मिथ्याधारणा से युक्त असंस्कारिक अकुशल चित्त कहा जाता है[१५९] ।

२. यदि उपर्युक्त प्रकार की मिथ्याधारणा का सहारा न लेकर यदि कोई अकुशल कर्म किया जाता है, या किया गया है तो उसे दृष्टिगत-विप्रयुक्त (दिटिठगत विप्पयुत) या मिथ्याधारणा से मुक्त चित्त (से किया गया कर्म) कहा जाता है[१६०] । उसे ही सौमनस्य के साथ मिथ्याधारणा से रहित असंस्कारिक अकुशल चित्त कहा जाता है[१६१] ।

३. उपर्युक्त पहले प्रकार से किये गये दुष्कृत्य में किसी दूसरे की प्रेरणा से, संकोच पूर्वक किये गए लोभ मूलक दुष्कृत्य को संसास्कारिक अकुशल चित कहा जाता है[१६२] । अर्थात मिथ्याधारणा का सहारा लेकर दूसरों द्वारा प्रेरित करने पर जो दुष्कृत्य किया जाता है उसे सौमनस्य से युक्त ससांस्कारिक चित्त कहा जाता है[१६३] ।

४. उपर्युक्त दूसरे प्रकार से किये गये दुष्कृत्य में अर्थात मिथ्याधारणा से रहित होकर दूसरों की प्रेरणा से कोई दुष्कृत्य किया जाता है जो ऐसे कृत्य को सौमनस्य के साथ मिथ्याधारणा से रहित ससंस्कारित चित्त कहा जाता है[१६४] ।

उपर्युक्त चारों अकुशल कर्मों को करने में सौमनस्य की भावना होती है उसी प्रकार उपेक्षा की भावना भी होती है उसके अनुसार होने वाले अकुशल कर्म भी उपरोक्त प्रकार से दिये गये हैं। जो निम्न प्रकार से हैं -

५. उपेक्षा के साथ मिथ्याधारणा से युक्त असांस्कारिक।

६. उपेक्षा के साथ मिथ्याधारणा से युक्त संसांस्कारिक।

७. उपेक्षा के साथ मिथ्याधारणा से रहित असांस्कारिक।

८. उपेक्षा के साथ मिथ्याधारणा से रहित ससांस्कारिक।

द्वेष मूलक चित्त (अकुशल कर्म)

१. दौर्मनस्य सहगत[१६५] एवं प्रतिघ[१६६] से संप्रयुक्त असंस्कारिक चित्त-दोर्मनस्य (खेद) सहित द्वेष (पटिघ) युक्त ऐसा चित्त जिसकी उत्पत्ति में किसी दूसरे कि प्रेरणा कारण न हो[१६७] ।

२. दौर्मनस्य सहित द्वेष युक्त ऐसा चित्त जिसकी उत्पत्ति में किसीं दूसरे की प्रेरणा कारण हो[१६८] ।

मोहमूलक चित्त (अकुशल कर्म)

१. उपेक्षा[१६९] सहगत एवं विचिकित्सा से संप्रयुक्त चित्त[१७०] ।

२. उपेक्षा सहगत एवं औध्दत्त्य-युक्त चित्त[१७१] ।३

ये दोनों मूढता युक्त चित्त है[१७२] । इन दोनों चितो के प्रसग में किसी दूसरे की प्रेरणा से और जिसमें किसी दूसरे की प्रेरणा न हो, ऐसे दो भेद नहीं किये गये। क्योंकि सदिग्ध-चित्त या भ्रमित-चिंत्त कोई कार्य नहीं कर सकता[१७३] ।इसलिए किसी दूसरे की प्रेरणा से और किसी दूसरे की प्रेरणा न हो ऐसे दो भेद नहीं किये गये।

इस प्रकार पूर्व के आठ कुशल चित्त एबं उपरोक्त बारह अकुशल चित दोनो मिलाकर बीस प्रकार की चेतनाएं कामावचर भूमि के अंतर्गत आती है। १२ अकुशल चेतना को अपुण्याभिसंस्कार[१७४] एवं ८ कुशल चेतना को पुण्याभिसंस्कार[१७५] कहा गया है।

ध्यान भावना के अनुसार होनेवाले कूशल कर्मों का विचार आगे के पृष्ठों पर दिया जा रहा हैं। वस्तुतः वे मानसिक कर्म है[१७६] ।

पालि पिटकों से ज्ञात होता है कि ध्यान भावना के अनुसार होने वाले चैतसिक कर्मों को एक प्रकार से कुशल कर्म माना गया है। उसके रुपावचार चित्त एवं अरुपावचर चित इस प्रकार दो भेद होते हैं। रुपी पदार्थो को आलंबन (निमित्त) बनाकर किया जानेवाला ध्यान रुप ध्यान हैं एवं उस ध्यान की चेतना को रुपावचर चित्त कहा गया है[१७७] । इसके विपरीत अरुपी पदार्थो को आलंबन बनाकर किये जाने वाले ध्यान को अरुपध्यान कहा गया है, एवं उस ध्यान की चेतना को अरुपावचर चित्त कहा गया है[१७८] ।

रुपी पदार्थो की ध्यान भावना के अनुसार होने वाली रुपावचर की ५ प्रकार की कुशल चेतनाओं को ही रुपावचर के ५ कुशल[१७९] कर्म (कहे जा सकते) हैं। वे निम्न प्रकार से हैं।

१. प्रथम रुपावचन कुशल चेतना

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं समाधि ये ध्यान के ५ अंग हैं[१८०]। इन सभी अंगो से युक्त चित को प्रथम रुपावचर कुशल चेतना कहा गया है[१८१]। ध्यान भावना करने वाले योगी को यह चित सर्वप्रथम प्राप्त होता है। भगवान बुद्ध ने इसका सर्वप्रथम उपदेश किया है[१८२]।

२. द्वितीय रुपावचर कुशल चित्त

वितर्क का अतिक्रमण करने पर ध्यान भावना का वह चित द्वितीय रुपावचर कुशल चित्त कहलाता हैं। इस द्वितीय ध्यान में विचार, प्रीति, सुख एवं समाधि ये चार ध्यानांग शेष रहते हैं[१८३]।

३. तृतीय रुपावचर कुशल चित्त

विचार का अतिक्रमण करने पर ध्यान भावना का वह चित तृतीय रुपावचर कुशल चित्त कहलाता है। इस ध्यान में प्रीति, सुख एवं समाधि ये तीन ध्यानांग शेष रहते है[१८४]।

४. चतुर्थ रुपावचर कुशल चित्त

प्रीति से विरक्त हो जाने पर ध्यान भावना के चित्त को चतुर्थ रुपावचर कुशल चित कहा गया है[१८५]।

५. पंचम रुपावचर कुशल चित्त

सुख के अस्त हो जाने पर उपेक्षा एवं समाधि से युक्त पाचंवा रुपावचर ध्यान पंचम रुपावचर कुशल चित्त कहा जाता है[१८६]। इस ध्यान में उपेक्षा एवं समाधि ये दो ध्यानांग शेष रहते हैं। अभिधम्मत्थसंगहों में 'एकाग्रता' शद्ब को समाधि के स्थान में लिया गया है[१८७]।

भूमि के विचार से ये पांचो चित्त रुपावचर भूमि में समाविष्ट होते हैं। इन्हीं के कारण रुपभूमि (अर्थात रुपलोक) में जन्म होता है। अब इस रुपावचर चित के पांचो ध्यानागों का विचार करेंगे।

वितर्क

यह प्रथम ध्यानांग है। स्त्यान[१८८] एवं मिद्ध[१८९] नामक नीवरणों[१९०] का स्वभाव आलस्य है, इसके विपरीत वितर्क का स्वभाव आलंबन में (चित्त का) सर्वदा अभिरोप करना (बारबार लगाना) है।

विचार

यह द्वितीय ध्यानांग है। वितर्क द्वारा जिन संयुक्त धर्मो (अर्थात चित चैतसिकों) का आलंबन में अभिरोपण किया जाता है उसमें विचिकित्सा[१९१] द्वारा संशय उत्पन्न हो सकता है। इसलिए 'विचार' द्वारा चित को प्राप्त आलंबन से न हटने देने के लिए आलंबन का पुनः पुनः अनुमंजन (विचार विमर्श) किया जाता है। विचार से विचिकित्सा नामक नीवरण नष्ट होता है[१९२]।

प्रीति

व्यापाद नाम द्वेप का है। व्यापाद के कारण आलंबन के प्रति द्वेष या अप्रीति होती है। प्रीति नामक ध्यानांग आलंबन के प्रति प्रेम या आकर्षण उत्पन्न करता है[१९३]।

सुख

यह औध्दत्य[१९४] एवं कौकृत्य[१९५] नामक नीवरण धर्मो का प्रहाण करता है[१९६]।

एकाग्रता

कामच्छन्द नामक नीवरण को नष्ट करती है। काम्य विषयों में आसक्ति उत्पन्न करने वाले लोभ एवं तृष्णा को कामच्छन्द कहते हैं। काम्य विपयों का अनुगामी होने से यह चितधातु (अर्थात चित्त) को विकीर्ण (चंचल) बनाता है। अथवा विकम्पित करता है। एकाग्रता चित्त को आलंबन से विचलित होने नही देती[१९७]। ध्यान के विविध अंगो से युक्त ये सभी चित्त ध्यान भावना करने वाले योगी को क्रमशः प्राप्त होते हैं। अव्याकृत कर्मो की दृष्टि से इन्हे ही रुपावचर विपाक चित्त[१९८] एवं रुपावचर क्रिया चित भी कहा गया है।

अरुपान्तर ध्यान भावना के अनुसार होने वाले कुशल कर्म निम्नलिखित चार प्रकार के हैं -

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल चित्त।
२. विज्ञाना नन्त्यायतन कुशल चित्त।
३. आकिन्चन्यायतन कुशल चित्त।
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन[१९९] कुशल चित्त।

१. आकाशानन्त्यायतन

जिस प्रदेश का विलेखन नहीं किया जा सकता उस प्रदेश को 'अकास' (आकाश) कहते है तथा ऐसे 'आकाश' को ही आकाश कहा गया है[२००]। यहां ऐसे ही आकाश को अनंत आकाश कहा गया है क्योंकि उसका 'उत्पाद' एवं 'भंग' से परिच्छेद नहीं होता[२०१]। इस प्रकार यहा अनंत आंकाश ही आकाशानन्त्य कहा गया है। आयतन

शद्व का अर्थ आधार है[२०२] । आकाश प्रज्ञप्ति को ही ध्यानचित्त का आधार होने के कारण आयतन कहा जाता है[२०३] । इस प्रकार जिस ध्यान संप्रयुक्त चित्त का आधार आकाशप्रज्ञप्ति होती है वह आकाशानन्त्यातयन है[२०४] । आकाशानन्त्यायतन (ध्यान) में प्रवृत्त कुशल चित्त को ही आकाशानन्त्यायतन कुशल कहा गया है[२०५] ।

२. विज्ञानानत्यायतन कुशल चित

योगी के द्वारा 'अनन्त विज्ञान अनन्त विज्ञान'- इस प्रकार भावना करने से उसकी भावना के अनुसार (उत्पन्न होने वाले) पूर्वोक्त विज्ञान[२०६] को अनन्त विज्ञान कहा जाता है[२०७] । 'विज्ञान' को आलंबन बनाकर जो ध्यान किया जाता है उसे 'विज्ञानानत्यायतन' नामक अरुपावचर ध्यान कहते हैं। तथा विज्ञानानन्त्यायतन (ध्यान) में प्रवृत्त चित्त को विज्ञानानन्त्यायतन कुशल चित कहा जाता है[२०८] ।

३. आकिन्चन्यायतन कुशल चित्त

जिस प्रथम आरुप्य विज्ञान का किंचित (भंगपात्र) भी अवशिष्ट नहीं है वह प्रथम आरुप्य विज्ञान अकिंचन है[२०९] । 'अकिंचनता' की भावना को आकिचन्य कहते हैं[२१०] । यह चित्त उत्पाद-भंगात्मक है, तथापि उत्पाद से लेकर अंगपर्यन्त स्वरुपतः यह किंचित भी नहीं होता, इसलिए इसे नास्तिभावप्रज्ञप्ति कहते हैं[२११]। इससे स्पष्ट होता है कि आकिंचन्य शद्व से नास्तिभावप्रज्ञाप्ति का ही ग्रहण होता है। इस ध्यान में प्रवृत्त चित्त को ही आंकिचन्यायतन कुशल चित कहा जाता है[२१२]। इस चित्त के द्वारा नास्तिभावप्रज्ञप्ति का आलंबन किया जाता हैं[२१३] ।

नेवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशलचित्त

जिसमें न तो संज्ञा की स्थिति होती हैं और असंज्ञा की, फिर भी कुछ है ऐसा बोध अर्थात बाहय सत्ता और स्वंय के अस्तित्व का अति सूक्ष्म संवेदन मात्र ध्यान की जिस अवस्था में शेष रहता है उस अवस्था विशेष को नैवसंज्ञानसंज्ञा कहते ह। इस चतुर्थ अरुपध्यान से सम्प्रयुक्त चित में हानेवाले संज्ञा-चैतसिक के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसके द्वारा (वस्तुओं के) अनित्य, अनात्म एवं दुःख, लक्षणों का सम्मर्शन (विमर्श) नहीं किया जा सकता[२१४] । इस प्रकार अनित्य-आदि स्वभावों के भी अवभासित न होने से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही इसे नैवसंज्ञानसंज्ञायतन नामक अरुप ध्यान कहते हैं। ध्यान की इस अवस्था में चेतना के अत्यन्त् सूक्ष्म होने पर भी उसकी सत्ता का (सर्वथा) अपलाप नही किया जा सकता[२१५] । इसे समझाने के लिए निम्नांकित दृष्टान्त दिया जाता है, जैसे - कोई भिक्षु अपने शिष्य के साथ किसी मार्ग से होकर जा रहा है, शिष्य सामने पानी को देखकर गुरु के उपानह(पादुका) आर्द्र (होकर खराब) न हो इस विचार से गुरु को कहता है 'आगे पानी हैं' शिष्य के इस वचन को सुनकर गुरु उससे स्नान करने के लिए वस्त्र मांगते हैं। तब शिष्य

कहता है कि 'पानी नहीं है' शिष्य का दुबारा यह कहना कि पानी नहीं है पानी की असत्ता का सूचक नहीं है। उसका आशय केवल इतना ही है कि स्नान करने योग्य पानी नहीं है, क्योंकि कुछ पानी तो अवश्य ही है[२१६]। इसी प्रकार नैवसंज्ञानसंज्ञायनन में भी अनित्य-आदि लक्षण तक भी अवभासित न होने से उस चित को 'नैवसंज्ञानासंज्ञा' कहा गया है। किन्तु वह 'कुछ' अवश्य है। अतः सर्वथा निःस्वभाव न होने के कारण उसे नासंज्ञा (नासञ्ञा) भी कहा गया हे।

रुपावचर एवं अरुपावचर कर्म मनो कर्म ही है। वह भी भावनामय अर्पणा प्राप्त होते है[२१७]।

यहां मनः कर्म भावनामय कहने पर भी वे काम कुशल मनः कर्म जिस प्रकार भावनामय होते है उस प्रकार भावना मय नहीं है, अपितु 'अर्पणा[२१८] नामक ध्यान को प्राप्त होने वाले भावनामय मनःकर्म[२१९] है। इसलिए उन्हें अर्पणा प्राप्त (अप्पनांपत) कहा गया है[२२०]।

उपरोक्त चार कर्मो को ही अव्याकृत कर्मो की दृष्टि से अरुपावचर विपाक चित[२२१] एवं अरुपावचर क्रिया चित्त[२२२] भी कहा गया है।

लोकोत्तर चित्त

स्त्रोतापत्ति मार्ग चित्त

प्रवाह (या धारा) को स्रोत कहा जाता है। आर्य अष्टांगिक मार्ग भी उंस प्रवाह या धारा के समान होने से उसे भी स्रोत कहा जाता है[२२३]। जिस प्रकार गंगाआदि महानदियों की धारा हिमालय से उद्भूत होकर मार्ग में बिना रुके वेग से समुद्र की ओर अग्रसर होती हुई अंत में समुद्र में ही मिल जाती है, उसी तरह 'सम्यकदृष्टि' आदि आर्य अष्टांगिक मार्ग अपने प्रथम उत्पाद-क्षण से लेकर अप्रतिहागति से वेग पूर्वक अग्रसर होते हुए अंत में निर्वाण रुपी समुद्र तक पहुंच जाते हैं[२२४]।

स्रोतापति से अधिगत मार्ग स्रतापति मार्ग है एवं उस 'स्रोतापति मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त स्रोतापति मार्ग चित्त है[२२५]। इसे विशेष अर्थ में 'स्रोतस की तरह आर्य मार्ग के अष्टांगों की प्रथम प्राप्ति से अधिगत मार्ग-सम्प्रयुत चित्त कहा गया है[२२६]। 'स्रोतस' एवं 'मार्ग' दोनों का अर्थ आर्य अष्टांगिक मार्ग ही है, तथापि भेदोपचार करके 'स्रोतापति मार्ग' कहा गया है[२२७]।

सकदागामी मार्ग चित्त

काम-भूमि में अभ्यासवश (बारबार उत्पन्न होते रहने से आदत पड जाने के कारण) जो एक बार काल भूमि में आता है उसे सकदागामी (सकृदागामी) कहतें है[२२८]। जो केवल एक बार जन्म ग्रहण करना है वह काम भूमि में जन्म ग्रहण करता है या

ब्रह्मलोक में, इस सबंध में मतैक्य, प्रतीत नहीं होता क्योंकि परमथदीपनी में[२२९] ब्रह्मलोक से भी पुनः एक बार आने के संबंध में विस्तापूर्वक उल्लेख मिलता है।

सकदागामी पुदगल (व्यक्ती) के मार्ग को सकदागामी मार्ग एवं उससे सम्प्रयुक्त चित्त को सकदागामी मार्ग चित्त कहा गया है[२३०] ।

अनागामी मार्ग चित्त

कामभूमि में पुनः प्रति सन्धि ने लेने वाले पुदगल (व्यक्ती) को अनागामी कहा जाता है[२३१] । काम भूमि से च्युत होने के अनन्तर यदि वह अर्हत नहीं होता है तो ब्रह्मलोक में प्रतिसन्धि लेता है[२३२] ।

अनागामी पुदगल के मार्ग को अनागामी मार्ग एवं उससे सम्प्रयुक्त चित को अनागामी मार्ग चित्त कहा गया है[२३३] ।

अर्हतमाग 'चित

अर्हत के भाव को अर्हत्व कहते हैं[२३४] । यह अर्हत फल चित है। कहा भी गया है कि अरहतस्स मग्गो अरहतमग्गो[२३५] । इस स्थान पर कार्य से कारण को विशेषित किया गया है।अर्हत फल चित्त कार्य है एवं अर्हत मार्ग चित्त कारण है[२३६]।

अर्हत पुदगल के मार्ग से संप्रयुक्त चित्त अर्हत मार्ग चित है[२३७] ।

इस प्रकार यहा लोकोत्तर चित्तों का विचार किया गया है। अव्याकृत कर्मों की दृष्टि से इन्हे ही विपाक चित्त भी कहा गया है[२३८] ।

अव्याकृत कर्म (चित्त)

कर्म चाहे शारीरिक हो या वाचिक या वह मानसिक ही क्यों न हो वे कुशल या अकुशल अर्थात शुभ या अशुभ में विभाजित हो जाते हैं। परन्तु कोई ऐसे भी कर्म हैं जो कि कुशल या अकुशल के परे होते है और ऐसे ही कर्मो को अव्याकृत कर्म कहा जाता है।

अव्याकृत कर्म (चित्त) वह है जो इच्छा से रहित होता है[२३९] । या तो वह अत्यन्त स्वाभाविक रुप से पूर्व जन्मों के कर्मो के परिणाम स्वरुप प्राप्त होता हैं जिसमें इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नहीं होता और इस (वर्तमान) जन्म के कर्मों से संबद्ध न होने के कारण जिसका स्वरुप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय होता है[२४०] । या यह विगत तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अर्हत) की चितावस्था का सूचक होता है और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नहीं करते[२४१] । इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते है[२४२] ।

अव्याकृत चित्त के दो प्रकार है -

१. **विपाक चित्त** - जो पूर्व जन्म के कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तो के परिणामस्वरुप हो सकते हैं[२४३]।

२. **क्रिया चित्त**-जो साधारण अवस्था में विपाक भी दूसरे जन्म में होता है[२४४]।

विपाक चित्तों को भूमियों के आधार पर निम्न प्रकार से वर्गीकृ त किया गया है। इनका संक्षेप कुशल-अकुशल, अहेतु एवं सहेतु के रुप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

१. **कामावचर भूमि**

अ) कुशल विपाक चित्त - अहेतुक - ८ [२४५]

ब) अकुशल विपाक चित्त - सहेतुक - ८ [२४६]

क) अकुशल विपाक चित्त - अहेतुक - ७ [२४७]

२. **रुपावचरभूमि** - कुशल विपाक चित - ५ [२४८]

३. **अरुपावचर भूमि** - कुशल विपाक चित्त - ४ [२४९]

४. **लोकोत्तरभूमि** - कुशल विपाक चित्त - ४ [२५०]

रुपावचर, अरुपावचर एवं लोकोत्तर भूमियों में जो विपाक चित्त होते हैं उनके कुशल या अकुशल हेतु नहीं होते[२५१]। इन सबका विचार आगे के पृष्ठों में किया जावेगा।

क्रियाचित्त

क्रियाचित्तो के सहेतुक एवं अहेतुक ऐसे दो भेद कामावचर (भूमि) के क्रियाचित्तो के लिए ही लागू होते हैं। रुपावचर एवं अरुपावचर भूमियों के क्रिया चित्तों के लिए नहीं।

भूमियों के अनूसार उनका संक्षेप इस प्रकार है। कामावचर के ११चित्त[२५२]। (तीन अहेतुक एवं आठ सहेतुक) रुपावचर के ५ चित्त[२५३], अरुपावचर के ४ चित्त[२५४]

लोकोत्तर भूमि में क्रिया चित्त नहीं होते क्योंकि स्रोतापत्ति मार्ग आदि से जब एक बार क्लेशों का प्रहाण हो गया तो पुनः प्रहाण नहीं होता[२५५]।

उपरोक्त क्रिया चित्तों का विचार आगामी पृष्ठों में उपस्थित किया जावेगा। विपाक के संदर्भ में पालि ग्रन्थों में इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया गया है। 'अञ्ञमञ्ञ विसिट्ठान कुसलाकुसलान पाका ति विपाका'[२५६] अर्थात अन्योन्यविरुद्ध कुशल एवं अकुशल धर्मो के पाक को विपाक कहते हैं। अथवा 'पहायक-पहातव्बभावेन विरुद्धानं पाकाति विपाका'[२५७] माने परस्पर विशिष्ट कुशल, अकुशल धर्मो (कर्मो) के पाक को विपाक कहा जाता है।

साधारणतः विपाक चित्त के ही कुशल एवं अकुशल ऐसे दो भेद किये गये है[२५८] ।

भूमियों[२५९] की दृष्टि से विचार करें तो कामावचरभूमि के 'विपाक' एवं 'क्रिया' चित्त सहेतुक एवं अहेतुक इस प्रकार दो भागों में बटे हुए है[२६०] ।

जो इस प्रकार है।

कामावचर के जो ८ कुशल चित दिये गये हैं उनके विपाक स्वरुप ही ये ८ कुशल चित उत्पन्न होते हैं एवं उन्हें ही कामावचर कुशल विपाक[२६१] कहा गया है। अभिधम्मत्थसंग्रह के लेखक अनुरुद्धाचार्य ने इन्हें 'सहेतुक' यह विश्लेशण लगाकर उन्हें सहेतुक कामावचर कुशल चित्त[२६२] भी कहा है।

अकुशल चित्तों का विपाक केवल एक अहेतुक ही होता है अन्य नहीं[२६३] होता इसलिए उसके सहेतुक एवं अहेतुक ऐसे दो भेद नहीं होते केवल कुशल चित्तों का विपाक सहेतुक एवं अहेतुक (दोनों प्रकार से) होता है[२६५] । उसी प्रकार क्रिया चित्त भी सहेतुक एवं अहेतुक होते है[२६६] । कामावचर के ८ कुशल चित, ऊपर के पृप्टो पर दिये गये ८ सहेतुक कामावचर कुशल विपाक चित एवं ८ सहेतुक कामावचर के ८ क्रिया चित्त कुल २४ चितों को महाकुशल, महाविपाक एवं महाक्रिया कहा जाता है[२६७] । इनके फल देने की सीमा के अत्यन्त विस्तृत होने के कारण इनमें 'महा' विशेषण प्रयुक्त किया गया है[२६८] । साधारणतः ऐसा माना गया है कि क्रियाचित्त केवल अर्हत की सन्तान में ही होते है[२६९] । एवं वे विपाक या फल प्रदान नहीं करते, किन्तु यदि वे विपाकोन्तुख हों तो कुशल चितों की तरह उनका विपाक (भी) असीमित ही होगा। अतः इन्हें भी महाक्रिया कहा गया है[२७०] । शोभन अशोभन चित्त की दृष्टि से उपरोक्त २४ चित्तों को कामावचर शोभन चित्त भी कहा गया है[२७१] । अब शोभन तथा अशोभन का विचार करें।

शोभन चित्त

श्रद्धा आदि चेतसिकों से युक्त चित्त को शोभन चित्त कहा जाता है[२७२] । या क्लेशादि धर्मो से विशुद्ध होने के कारण जो शोभित होते हैं वे चित्त शोभन कहलाते है[२७३]

अशोभन चित्त

साधारणतः शोभनचित्त के विपरीत चित्त को अशोभन चित्त कहा जा सकता है। क्लेश (लोभ) आदि चैतसिक धर्मो से सम्प्रयुक्त चित्त को अशोभन[२७४] कहा गया है।

उपर्युक्त विचारों से यह ज्ञात होता है कि चित का शोभन या अशोभन होना

संप्रयुक्त होने वाले चैतसिक धर्मो पर निर्भर है[२७५] । अतः 'शोभन' (या अशोभन) यह नाम चित का न होकर चैतसिकों का है[२७६] ।

कामावचर के अशोभन चित्तों का विचार करें तो १२ अकुशल[२७७] कर्म अशोभन चित हैं तथा १८ अहेतुक चित्त[२७८] जो कि अव्याकृ चित्तों के अंतर्गत हैं वह भी अशोभन चित्त ही कहलाते हैं। इस प्रकार कुल ३० चित्त अशोभन कहे गये हैं। अब १८ अहेतुक (विपाक एवं क्रिया) चित्तों को लें।

अव्याकृत चित्त (अहेतुक)

ऊपर के पृष्ठो में अव्याकृतचित्त के संबंध मे कामावचर भूमि के सहेतुक विपाक एवं क्रिया चित्तों का विचार किया गया है जिनकी कुल संख्या १६ होती है। उन्हें कामावचर के ८ कुशल चितों के साथ मिलाकर कामावचर के २४ शोभन चित्तो मे लिया गया है। वहां विशेपतः ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि वे कुशल चित है एवं 'सहेतुक'[२७९] है।

पूर्व जन्म के शुभ व अशुभ कर्मो के परिणाम स्वरुप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल विपाक एवं अकुशल विपाक ऐसे दो स्वरुप होते है । शुभ कर्मो के परिणाम स्वरुप उत्पन्न होने वाले कुशल विपाक जो अनुकूल पदार्थ के साथ इन्दियों के सन्निकर्ष होने के कारण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हैं -

१.	चक्षु विज्ञान उपेक्षा से युक्त	(उपेक्खा सहगत)।
२.	श्रोत्र-विज्ञान उपेक्षा से युक्त	(उपेक्खा सहगत)।
३.	घ्राण विज्ञान उपेक्षा से युक्त	(उपेक्खा सहगत)।
४.	जिव्हा विज्ञान उपेक्षा से युक्त	(उपेक्खा सहगत)।
५.	काय-विज्ञान सुख या सौमनस्य से युक्त	(सुख सहगत)।
६.	मनोधातु उपेक्षा से युक्त।	
७.	मनोविज्ञान-धातु	उपेक्षा से युक्त।
८.	मनोविज्ञान-धातु[२८०]	सुख या सौमनस्य से युक्त[२८१] ।

इन्हें अहेतुक कामावचर कुशल विपाक चित भी कहा गया है।[२८२] ।

चक्षुविज्ञान (चक्खुविञ्ञाण)

चक्षुः (रुपी) प्रासाद में आश्रित विज्ञान को चक्षुविज्ञान कहा गया है[२८३] । इसी प्रकार श्रोत्र विज्ञान, घ्राण विज्ञान, जिव्हा विज्ञान एवं काय विज्ञान को भी जानना चाहिए[२८४] । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण एवं जिव्हा आदि विज्ञानो को उपेक्षा सहगत कहने का कारण यह है कि इन चारों विज्ञानों द्वारा रुप आदि (इन चारों इद्रियों के विषयों का अर्थात रुप, शद्ब, गंध एवं रस) विषयों का केवल आलबंन मात्र किया

जाता है। उनका वेदना के रुप में स्पष्टतया अनुभव नहीं होता इसलिए उपरोक्त विज्ञान (चित) उपेक्षा से ही सम्प्रयुक्त होते हैं[२८५]। ऐसा कहा गया है। ये कुशल या अकुशल (कर्म) के विपाकस्वरुप चित्त सन्तति में अपने आप उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। विपाक होने के कारण इनमे लोभ आदि हेतुओं का होना आवश्यक नहीं, अतएवं ये अहेतुक कहे जाते हैं[२८६]।

धातुएं तीन प्रकार की कही गई है, मनोधातु, पंचविज्ञानधातु तथा मनोविज्ञानधातु[२८७] इनका भेद इस प्रकार है -

मनोधातु- 'मननमता धातु मनोधातु'[२८८] यहां मनन मात्र धातु ही मनोधातु है, ऐसा कहा गया है।

मनोविज्ञानधातु- इसमें मनस शद्ब 'जानना' के अर्थ में एवं विज्ञान शद्ब 'विशेपतया जानना' के अर्थ मे होता है, अतः आलंवन के जानने में इसका विशेष रुप से जानना होता है२८९।

पंचविज्ञान धातु- यहां मनोधातु की अपेक्षा कुछ अधिक 'जानना'[२९०] के अर्थ में इसे कहा गया है। पंच विज्ञान धातुए निम्न प्रकार से हैं -

चक्षुविज्ञान धातु, घ्राण विज्ञान धातु,
श्रोत्र विज्ञान धातु, जिव्हा विज्ञान धातु,
काय विज्ञान धातु।

सात अकुशल विपाक चित्त (अहेतुक)

पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरुप उत्पन्न होने वाले ७ अकुशल विपाक चित्त निम्न प्रकार से हैं।

१.	चक्षु विज्ञान	उपेक्षा से युक्त
२.	श्रोत्र विज्ञान	उपेक्षा से युक्त
३.	घ्राण विज्ञान	उपेक्षा से युक्त
४.	जिव्हाविज्ञान	उपेक्षा से युक्त
५.	काय-विज्ञान	दुःख या दौर्मनस्य से युक्त[२९१]
६.	मनोधातु	उपेक्षा से युक्त
७.	मनोविज्ञान धातु	उपेक्षा से युक्त[२९२]

ग्यारह क्रिया चित्त

कामावचर के ८ कुशल चित्तों का उल्लेख पहले ही किया गया है। साधारण अवस्था में उनका विपाक भी दूसरे जन्म में होता है[२९३]। अर्हत की जीवन क्रियांये तो किसी विपाक को पैदा नहीं करती[२९४]। जैसे सामान्यजन वैसे अर्हत भी दानादि पुण्य कर्म करते ही हैं, किन्तु उनके वे कर्म कुशल-कर्म नहीं होते[२९५]। वे जो भी

कुशल (कर्म) करते है, वह क्रिया मात्र होता है, उसका विपाक नहीं होता[२९६] । अकुशल तो अर्हतों से होता ही नही[२९७] । जिनके विषय में ऊपर कहा गया है वे ८ कामावचर के सहेतुक क्रिया चित हैं। अब ३अहेतुक चित्तों को लें।

१.	मनोधातु	उपेक्षा से युक्त
२.	मनोविज्ञान धातु	उपेक्षा से युक्त
३.	मनोविज्ञान धातु	सुख या सौमनस्य से युक्त[२९८] ।

'अभिधम्मत्थ संग्रह'[२९९] में इन तीनों क्रिया चित्तों को क्रमशः पंचद्वारावज्जन[३००] चित, मनो द्वारावज्जन[३०१], चित्त और हसितुप्पाद[३०२] चित्त कहा गया है। किसी अन्य चित्त के द्वारा अधिग्रहीत आलंवन का पहले-पहल और केवल एक बार ग्रहण करता है अतः दुर्बल होने के कारण पंच द्वारावर्जन चित्त उपेक्षा सहगत ही होता है[३०३] । मनोद्वारावर्जन चित भी उपरोक्त चित्त के अनुसार किसी अन्य चित्त के द्वारा अग्रहीत (नवीन) आलंबन का पहलेपहल ग्रहण करता है, तथा अपने असदृश्य जवनसंतती (बेग से गमन करना) की प्रवृत्ति के लिए उपकार करता है। इस प्रकार अत्याधिक व्यापार बहुल होने के कारण इसे आलबंन के अनुभव का भलीभांति अवकाश नहीं मिलता। इसलिए यह भी उपेक्षा सहगत होता हे[३०४] -

श्रोत्रविज्ञान, घ्राण विज्ञान एवं जिव्हाविज्ञान, ये चारों विज्ञान चाहे अकु पाक में अनिप्ट आलंबन हो या कुशल विपाक में चाहे इप्टांलबन हो किन्तु दोनों विज्ञानों की उत्पत्ति में वस्तु (प्रसाद) और आलंबन का घट्टन (संस्पर्श) इतना दुर्बल होता है कि तज्जन्य विज्ञान उपेक्षा-वेदना-सहगत ही होता है[३०५] । वस्तु और आलंबन (काय एवं उसका विपय) के घट्टन के अति बलवान होने से अकुशल विपाक में आलंबन के अनिष्ट इप्ट होने से कायविज्ञान सुख सहगत होता है[३०६] ।

रुपावचर विपाक एवं क्रिया चित्त

रुपावचर (कुशल चित) चित ध्यान भेद से पाचं प्रकार के हैं। वे ही कुशल, विपाक एवं क्रिया भेद से १५ प्रकार के हो जाते है[३०७] । ये १५ चित्त प्रज्ञा चैतसिक से संप्रयुक्त होने के कारण ज्ञानसंप्रयुक्त ही होते हैं[३०८] । इन्हें ही रुपावचर शोभन चित्त भी कहा गया है[३०९] । इनका परिचय रुपावचर कुशल चित्त के अंतर्गत तक दिया गया हैं।

अरुपावचर विपाक एवं क्रिया चित्त

अरुपावचर चित आलंबन के भेद से चार प्रकार के होते हैं ।वे ही कुशल-विपाक एवं क्रिया के भेद से १२ प्रकार से (विभक्त होकर) स्थित हैं[३१०] । इन्हें ही अरुपावचर शोभन चित भी कहा गया है[३११] ।रुपावचर के १५ एवं अरुपावचर के १२ कुल २७

चित महग्गत चित्त भी कहे जाते हैं[३१२]।

लोकोत्तर के विपाक चित्त

सोतापति फल चित्त सकृदागामी फल चित्त, अनागामी फल चित एवं अर्हत फलचित - इस प्रकार लोकोत्तर विपाक चित्त हैं[३१३]। चार मार्गों के भेद से चतुर्विध कुशल तथा (मार्गों के) फलों के भेद से चतुर्विध विपाक होता है[३१४]।

चार मार्गों (चित्तों) का भेद

आर्य अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत परिगणित सम्यकदृष्टि, सम्यकव्यायाम, सम्यकस्मृति एवं सम्यक समाधि - ये चार क्रमशः प्रज्ञेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतिन्द्रिय एवं समाधिन्दिय हैं। ये (चारों) इंद्रिया स्रोतापति मार्ग के क्षण में मन्द, सकृदागामी मार्ग के क्षण में तीक्ष्ण, अनागामी मार्ग के क्षण में तीक्ष्णतर तथा अर्हत मार्ग के क्षण में तीक्ष्णतम होती हैं। इसलिए मार्ग के एक होने पर भी इन्दियों के मन्द, तीक्ष्ण-आदि तर-तम भेद से वह चतुर्विध होता है[३१५]। कुशल मार्ग चित्त के चतुर्विध होने से उनके विपाक फलचित भी चतुर्विध होते हैं[३१६]।

व्यष्टिकर्म और समष्टिक एक दूसरे पर प्रभा

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को बहुजनहिताय बहुजनसुखाय सभी दिशाओं में विचरण करने के लिए प्रेरित किया था। इसका आशय ही यह है कि व्यक्तिगत आचरण के द्वारा समाज को भी उन्नतिगामी कर्मों को करने के लिए प्रेरित करें।

'गवं ते तरमानानं जिह्य गच्छति पुगंवो।

सब्ब गावी जिम्हणं यन्ति नेते जिम्हं गते सति ।।'

एकमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो

सो चे अधम्मं चरित पगेव इतरा पजा।।

सब्बं रटठं दुक्ख सेति राजा चे होति अधम्मिको[३१७] .. अर्थात गायों के नदी पार करने के समय यदि अगुवा टेढा हो जाता है, तो उसके कारण गायें भी टेढी हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना गया है जैसे - (राजा) यदि वह अधार्मिक (अकुशल) कर्म करता है तो सारा राष्ट्र दुःखों का भागी हो जाता है।- इस प्रकार एक व्यक्ति अर्थात नेता के अकुशल कर्म करने से, उसके अनुयायी भी वैसा ही कर्म करते हैं, और इससे सभी दुःख के भाजन बनते हैं। इसके विपरीत एक अन्य गाथा में कहा गया है कि -

'एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठ सम्मतो।

सो चे धम्मं चरति पगेव इतरा पजा

सब्ब रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको[३१८] ।

अर्थात मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना जाता है यदि वह धर्म करता है अर्थात कुशल कर्म करता है शेष प्रजा पहले ही धर्म करती है एवं राजा के धार्मिक होने पर सारा राष्ट्र सुख । करता है। अन्यत्र भी कहा गया है कि -

'सुख बुद्धानं उप्पादो सुखो सधम्मदेसना।

सुख धस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो[३१९] ।।

अर्था बुद्धों का जन्म सुखकारक है (स्वयं कुशल कर्म करने वाले तथा संसार को भी कु कर्मो की प्रेरण देने वाले धर्म नायक के रुप में) धर्म का उपदेश देना सुखद है। की एकता सुखदायक है और संघ का एकतायुक्त हो, तप करना सुखदायक है। इस प्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक कर्मो का प्रभाव समूह पर भी पडता है। सा होने पर भी कर्म का जो सैद्धान्तिक स्वरुप है अर्थात वैयक्तिक सुख-दुःख अथवा उन्नति या अवनति इनका संबंध कुशलाकुशल कर्मो से ही है। कर्म वैयक्तिक हो चाहे उसका शुभ या अशुभ परिणाम (विपाक) उस कर्म की कुशल या अकुशल ही निर्भर करता है। 'कुशल कर्म व्यापक होने चाहिए। अर्थात उनका पालन लोगों द्वारा होना चाहिए तभी सामाजिक चरित्र बलवान होता है अन्यथा नहीं। इस तथ्य से भगवान भलीभाति परिचित थे। संभवतः इसी कारण से उन्होंने भिक्षुओं को चरथभिवखवे चारिकं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, हिताय सुखाय देवमनुस्सान[३२०] ऐसा आदेश दिया था। यह भी कहा जा सकता है कि सारे संसार को उन्नति शील बनाने की करुणा बुद्धि से ही बुद्ध ने अपने संघ का निर्माण किया।

यह संघ सामूहिक रुप से धर्मप्रचार का माध्यम बना। एवं संघ के माध्यम से ही सामान्य जनों का कल्याण करने की प्रक्रिया आरंभ हुई। बुद्ध चाहते तो अपने निर्वाण या मुक्ति का आनन्द अकेले ही लेकर परिनिर्वाण पा सकते थे। परन्तु उन्हें ज्ञात था कि सबकी मुक्ति में ही अपनी मुक्ति का सही सुख प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी विश्वास से प्रेरित होकर बुद्ध ने लोकों पर अनुकम्पा करके कुशल कर्मपथ पर चलने का उपदेश दिया।

सामुहिक कर्म किस प्रकार व्यक्ति के जीवन और उसकी नियति को प्रभावित करते हैं, उसके यथेच्छ उदाहरण दिये जा सकते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध युक्ति का भी यही अभिप्राय है। जहां कोई बडा समूह हिंसक, होता है और हिंसा उसके आचार व्यवहार का आवश्यक अंग होती है, वहां किसी एक व्यक्ति

के लिए हिंसा से बचना दूभर हो जाता है और बहुधा वह हिंसक आचरण करन के लिए विवश हो जाता है। वर्तमान समाज मे इसके चाहे जितने उदाहरण खोजे जा सकते हैं। अधिकांश व्यक्तियों द्वारा हिंसा, दुराचार और भ्रष्टाचार के साधन अपना लिए जाने से पूरे के पूरे समाज वैसे होते जा रहे हैं और उनमें किसी व्यक्ति के लिए स्वीकृत व्यवहारों के अनुसार अहिंसा, सत्य, सदाचार एवं धर्मपर निष्ठापूर्वक चल पाना प्रायः असंभव हो गया है। व्यक्ति-कर्म इसी प्रकार निरन्तर प्रभावित और परिवर्तित होते रहते हैं। समाज जीवन की यह एक अखण्ड प्रक्रिया है। इस प्रवाह में साधारणतः समाज-कर्म बलवतर होता है और बुद्ध जैसे विशिष्ट व्यक्ति जन्म लेकर इस प्रवाह को पुनः पुनः नयी दिशा प्रदान करते हैं।

संदर्भ

१. प्रेरणाओं का आशय चेतना से प्रेरित होने वाले कायिक एवं वाचिक कर्म हैं।

२. जब किसी मनुष्य को प्राणतिपात करने का अवकाश प्राप्त होता है तब मै प्राणातिपात नहीं करुंगा, इस प्रकार की विरति चेतना विज्ञप्ति रहित मनोद्वार में ही उत्पन्न होती है। तथापि यह कायिक अकुशलकर्म से विरत रहने की चेतना है इसलिये इस विरति चेतना को भी कायिक कर्म कहा जाता है। इसी प्रकार वाचिक कर्म के विषय में भी इसी प्रकार विचार करना चाहिए।

३. म.नि. १।९, (सम्मादिट्ठीसुतन्त)।

४. अ.स. भाग २ पृ. ५५७ ।

५. दृष्टव्य, अ.स., भाग २, पृ. ५३१ ।

६. वही, पृ. ५५७ ।

७. देखिए, परमत्थदीपनी, पृ. १६७-६८ ।

८. दृष्टव्य, अ.स. भाग २, पृ. ५३१ ।

९. अ.सं. भाग २, पृ. ५५७ ।

१०. वही, पृ. ५५८ ।

११. परमत्थदीपनी, पृ. १९८, (दीयति एतेना ति घनं परिच्चागचेतना विभावनी, पृ. १३३)।

१२. विभावनी, पृ. १३३ - ३४, परमत्थदीपनी, पृ. १२९ ।

१३. मन में करना मनसिकार है। पहले के मन से अन्य प्रकार का मन करता है, इसलिए भी मनसिकार (कहा जाता) है। विशुद्धिमार्ग, परिच्छेद १४ ।

१४. प.दी., पृ. २०१ ।

१५. अट्ठसालनी, पृ. १२९ ।

१६. प.दी., पृ. १९८ ।

१७. अ.सं., पृ. ५६६ (भाग२)।

१८. विभागनी सीलयतीत सीलं कायवची कम्मनि सम्मादहति सम्मा ठवेतीत्थत्थों सीलयति वा उपधारे तीति सीलं, उपधारेणं पनेत्थ कुसलानं, पृ. १३३-३४।

१९. सामान्यतः प्राणातिपात विरति उसकी अभिव्यक्ति आदि जो दस प्रकार के कुशल कर्म कहे गये हैं, वे सब शील के अन्तर्गत आते है।

२०. बौद्ध ध. के वि.का इ., पृ. ११६, डॉ. गो.च. पाण्डेय।

२१. देखिए, विनय पिटक, अनु. म.प.रा.सा., ।

२२. विभंग, पृ. २९४- २९६

२३. विसुद्धिमग्ग, पृ. १०-११ ।

२४. अ.सं. भाग २ पृ. ५६२ ।

२५. वही।

२६. अ.सं. भाग २, पृ. ५६२ ।

२७. वही।

२८. विनयपिटक महावग्ग, उपोसथ स्कंधक, २।१।४ ।

२९. वही।

३०. भलाइयो में प्रमुख है इसलिये पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) कहा जाता है। महावग्ग, २।१।४ ।

३१. विसुद्धिमग्ग, प्रथम परिच्छेद पृ.।१३

३२. सेखीय धर्मो का विचार इसी प्रबंध में अध्याय १ में दिया गया है।

३४. वही।

३५. वही।

३६. विसुद्धिमग्ग, १।७ । ३७. दी.नि., भाग १, पृ. ६२, विभंग, पृ. २९८-९९।

३८. प.दी. पृ. २०१ ।

३९. अट्ठसालनी, पृ. १२९ । ४०. वही, पृ. १३० ।

४१. वही, पृ. १२९ ।

४२. वही।

४३. अट्ठसालिनी, पृ. १३० ।

४४. स्वयंबद्ध कारणों का तात्पर्य यहां प्रतीत्य समुत्पाद के उस नियम से है जहा योग्य कारणों द्वारा योग्य परिणाम उत्पन्न होता है। अर्थात् अविद्या के प्रत्यय से संस्कार की उत्पत्ती होती है।

४५. अट्ठसालिनी, पृ. १३० ।

४६. मज्झिम निकाय, १।१।९, १।५।१ ।

४७. अभिधम्मत्थ संगहो, पृ. ५५४, अनु. रेतधम्म।
४८. अ.स. द्वितीय भाग, पृ. ४९ ।
४९. वही, पृ. ५०।
५०. वही, पृ.५१ ।
५१. विभावनी, पृ. १३० ।
५२. अट्ठसालिनी, (अट्ठकथा-धम्मसंगणी) ।
५३. म.नि.,१।५।१ सालेय सुत।
५४. अ.सं. प्रभाग २, पृ. ५३०, 'पाणस्स अतिपातो पाणातिपातो'।
५५. वही।
५६. अट्ठसालिनी, पृ. ८०।
५७. अ.सं. भाग २, पृ. ५३२ ।
५८. अट्ठसालिनी, पृ. ८०।
५९. अ.सं. भाग २, पृ. ५३२ ।
६०. वही।
६१. वही।
६२. वही।
६३. वही। सब पक्षियों का, सब देवताओं का, किन्हीं किन्हीं व्यक्तियों का और किन्हीं किन्हीं विनिपातिकों का आकाश में जाना आदि कर्म विपाकज ऋद्धि है। भाग २, पृ. ९ ।
६५. म.नि. १।५।१, पृ. १६९ ।
६६. अ.सं. द्वितीय भाग, पृ. ५३४ ।
६७. वही।
६८. परपरिग्गहितं, परपरिग्गहितसाज्जिता, थेय्ययचित्त, उपक्कमो, तेनहरणंति। अट्ठसालीनी, पृ. ८१ ।
६९. 'छप्पयोगो-साहत्थिकादयों व 'अट्ठसालीनी, पृ. ८१ ।
७०. म.नि., ११।५।१ , पृ. १६ ।
७१. अट्ठासालीनी, पृ. ८१ । ७२. वही।
७३. अ.स. भाग २, पृ. ५३५ ।
७४. वही।
७५. वही।
७६. अ.स. भाग २, हि.भा., पृ. ५ ।
७७. प.दी., पृ. १८६-८७ ।
७८. अ.सं., भाग २, हि.भा. पृ. ५३५ ।
७९. वही।

८०. एक से बीस्र तक की स्रयों का उल्लेख, अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५३६ से किया गया है।
८१. अ.सं. भाग २, हि.भा. पवृ. ५३६ ।
८२. म.नि., १।५।१ ।
८३. वाणी द्वारा ज्ञापित करना - वचिविज्ञप्ति है।
८४. मुह को ही वाकद्वार कहा जाता है, अं.स. भाग २, हि.भा. पृ. ५४१ ।
८५. दे.अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५४१ । ८६. दे.अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५४१ ।
८७. म.नि., १।५।१ ।
८८. म.नि., पृ. १९१ ।
८९. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५४२ !
९०. म.नि. १।५।१ ।
९१. अट्ठसालिनी, पृ. ८२ ।
९२. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५४३ ।
९३. म.नि. १।५।१
९४. विभावनी, पृ.१३१-३२ ।
९५. परमत्थदीपनी, पृ. १९२ ।
९६. अट्ठसालिनी, पृ. ८२ ।
९७. अ.सं. भाग २, हिन्दी भा. पृ. ५४४ ।
९८. परमत्थदीपनी, पृ. १९१ ।
९९. वही ।
१००. अट्ठकथा, पृ. ८२-८३ ।
१०१. वही, पृ. ८२ ।
१०२. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५४५ ।
१०३. म.नि. १।५।१ ।
१०४. 'सम्फयेन पलपतीति सम्फप्पलापो, परमत्थदीपनी, पृ. १९१ ।
१०५. अ.स. भाग २, हि.भा. पृ. ५४५ ।
१०६. अ.सं., हि.भा भग २, पृ. ५४५ ।
१०७. अट्ठसालिनी, पृ. ८३ ।
१०८. अभिधम्मत्थ संगहो, पृ. ५४७, रेवतधम्म।
१०९. म.नि., १।५।१ ।
११०. अभिधम्मत्य संगहो, पृ. ५४७ ।
१११. विभावनी, पृ. १२२, अट्ठसालिनी, पृ. ८३ ।
११२. 'देमिज्झाय परमण्ड अतनो परिणामनं' अट्ठसालिनी, पृ. ८३।

११३. व्यापादेन्ति परसते विनासं आपन्ने कत्वा चिन्तेन्ति एतेना नि व्यापादो। प.दी. पृ. १९३ ।
११४. विभावनी, पृ. १३२ ।
११५. अ.सं. भाग २, पृ. ५४८ ।
११६. व्यापादस्स परसत्तो तस्स विनासचिन्ननं । अट्ठसालिनी, पृ. ८३ ।
११७. वही।
११८. अ.सं. भाग २, पृ. ५४९ ।
११९. अ.सं. भाग २, पृ. ५४९ ।
१२०. प.दी.पृ. १९४ ।
१२१. प्रथम भाग, पृ. ४५-५२ ।
१२२. दी.नि. पृ. १५० ।
१२३. भाग २, पृ. ५४९ ।
१२४. प्रथम भाग, पृ. ४६-४७ ।
१२५. दी.नि. भाग १, पृ. ४५-४६ ।
१२६. दी.नि. पृ. १५० ।
१२७. अ.सं. भाग २, हि..भा. पृ. ५५१ ।
१२८. विभावनी, पृ. १३५ ।
१२९. अट्ठसालिनी, पृ. ८३ ।
१३०. भाग १।९, पृ. ६३ ।
१३१. विभंग अट्ठकथा, पृ. ३८४ ।
१३२. अं.स. भाग २, हि.भा., पृ. ५३७ ।
१३३. विभंग मूल, अट्ठकथा, पृ. १८९ ।
१३४. अं.नि. भाग २, हि.भा. पृ. ३४५ ।
१३५. विभंग अट्ठकथा, पृ. ३८५ ।
१३६. दे.अ.स. विशुद्धिमग्ग ।
१३७. परमत्थ दीपनी, पृ. १८६ ।
१३८. बौद्ध जीवन पद्धति।
१३९. वि.पि. महावग्ग, १६ ।
१४०. वि.पि. महावग्ग, १६ ।
१४१. विभंग अट्ठकथा, पृ. ३८६।
१४२. वही, पृ. २२ ।
१४३. अ.सं. भाग २, हि.भा.ऋ, पृ. ५३९।
१४४. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५४० ।
१४५. वही, भाग २, हि.भा., पृ. ५५४-५५ ।

१४६. विसुद्धि मग्ग भाग प्रथम पृ. ७० ।

१४७. अ.सं. प्रथम भाग हि.भा. पृ. ५६ ।

१४८. वही।

१४९. विसुद्धिमग्ग प्रथम, पृ. ७०।

१५०. अ.सं. भाग १, हि.भा, पृ. ५६ ।

१५१. वही।

१५२. वही, पृ. ५६ ! १५३. वही, पृ. ५५ ।

१५४. अ.सं. भाग १, पृ. ५७ ।

१५५. वही, पृ. ५८ ।

१५६. अ.सं. भ.आ.कौ. पृ. २५ ।

१५७. पा.सा.का इ., पृ. ४१३, भ.सिउं. ।

१५८. वही।

१५९. अ.सं. भ.आ.कौ. पृ. २४५ ।

१६०. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. २५ ।

१६१. वही।

१६२. भ.सि.उ. पा.सा. का इ., पृ. ४१४ ।

१६३. वही।

१६४. वही।

१६५. 'दुट्ठमनो दुमनो, दुमनस्स भावो दोमनस्स' अर्थात दुष्ट मनस दुर्मनस है और उस दुष्ट मनस के भाव को दौर्मनस्य कहते हैं। विभावनी, पृ. ६२।

१६६. 'पटिघेन संपयुतं पटिघसंपयुत' अर्थात प्रतिघ (द्वेष) से संप्रयुक्त चित प्रतिघ पटिघ-संप्रयुक्त कहलाता है। अट्ठसालिनी, पृ. २०७ ।

१६७. अ.स. भ.आ. कौ. पृ. ४ ।

१६८. वही।

१६९. मद्य पीकर नशे मे चूर किसी व्यक्ति को मधुर वचनों से न तो सुख होता है न कटु वचनों से कोई दुःख ही होता है। इसी प्रकार मोह से संमूढ व्यक्ति सौमनस्य एवं दौर्मनस्य दोनों से विरक्त होता है और वह मध्यम अनुभूति करने वाली उपेक्षा वेदना से ही संप्रयुक्त होता है। दृष्टव्य, अ.सं., भाग १, पृ. ३९ ।

१७०. अ.सं. भ.आ.कौ., पृ. ४ ।

१७१. वही।

१७२. अ.सं. भ.आ.कौ. हि.भा. पृ. ५ ।

१७३. वही।

१७४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४८ ।

१७५. वही।

१७६. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५६९ ।

१७७. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ६२ ।

१७८. वही, पृ. ७२ ।

१७९. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५६०९ ।

१८०. वही, भाग १, पृ. ६८ । १८१. वही, पृ. ६३ ।

१८२. वही, पृ. ६२ ।

१८३. वही।

१८४. वही।

१८५. वही।

१८६. अ.सं. भाग १, पृ. ६23 ।

१८७. दे. विसुद्धिमग्ग पृ. ७०, भाग २ ।

१८८. जो चित को मन्द, करता है, वह स्त्यान है। (चित को) अनुत्साहित करना इसका लक्षण है। इससे सप्रयु क्त होने वाले (चैतसिक) धर्म उत्साहहीन होते हैं। प.दी., पृ. ८४ ।

१८९. जो चित चैतसिक धर्मो को अकर्मण्य करके नष्ट करता है वह मिद्ध है। इसका लक्षण भी अकर्मण्यता है। प.दी. पृ. ८४ ।

१९०. चित का आवरण करनेवाले अर्थात् ध्यानादि कुशल धर्मो का निवारण करने वाले (ध्यान भावना में बाधा डालनेवाले) औ ध्दत्यकुकृत्य एवं विचिकित्सा यह पांच विवरण है।

१९१. ज्ञानरुपी ज्ञा से चिकित्सा करने का अभांव ही विचिकित्सा है।विसुद्धिमग्ग पृ. ३२८ ।

१९२. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ६५ ।

१९३. अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. ६५ ।

१९४. औध्दत्य अशान्त स्वभव एवं कौकृत्य पश्चाताप स्वभाव होने से दोनों का अशान्तिकृत्य समान होता है। अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ७४५, ।

१९५. अ.स. भाग १, हि.भा. पृ. ६५ ।

१९६. वही, पृ. ६६ ।

१९७. वही, पृ. ७०।

१९८. वही, पृ. ७१ ।

१९९. अ.सं. भाग १, पृ. ७२, गाथा २२ बी ।

२००. न कस्सतीति अकासो, अकासो येव अकासो देखिए विभावनी पृ. १५१।

२०१. अ.सं. , पृ. ७२ ।

२०२. वही।

२०३. वही।
२०४. वही
२०५. वही, पृ. ७३ ।
२०६. आंकाशानन्त्यायतन चित ही विज्ञान है। इस चित को ही प्रथम आरुप्यविज्ञान कहते है। यहां पर ये प्रथम आरुप विज्ञान ही पर्वोक्त विज्ञान है। अ.स.।पृ.७३
२०७ अ.सं. भाग १, पृ. ७३।
२०८. वही ।
२०९. वही।
२१०. वही, पृ. ७४।
२११. वही।
२१२. वही।
२१३. विभावनी, पृ. ७३ ।
२१४. 'अट्ठसालिनी, पृ. १६९ ।
२१५. अ.सं. भाग १, पृ. ७४ ।
२१६. अट्ठ सालिनी, पृ. १७० ।
२१७. अ.सं. भाग २, हि.भा पृ,. ५६९ ।
२१८. ध्यान करते समय सम्प्रयुक्त चित को आलंबन से अभिरोपित करने वाला वितर्क ही अर्पणा है। 'एंकग्गं चित आरम्मणे अप्पेति'।धम्मसंगणि, पृ. ८१
२१९. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५६९ ।
२२०. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५६९ ।
२२१. अ.सं. भाग १२, हि.भा., पृ. ७५ ।
२२२. वही, पृ. ७६ ।
२२३. परमत्थदीपनी, पृ. ५५ ।
२२४. अ.सं. भाग १, पृ. ७९ । संयुक्त निकाय के चतुर्थ खण्ड में निम्न प्रकार से कहा गया है - सेय्यथापि भिक्खवे। गङ्गा नदी समुद्यनित्रा समुद्यपोणा समुद्यपब्भारा ... एवमेव खो मिक्खवे भिक्खु अरियं अट्ठङिगक मग्गं भावेन्तो अरियं अट्ठङिगक मग्गं बहुली करोन्तो निव्बाननित्रो होति निव्बानपोणो निव्बानपब्भारों, पृ. ३४ ।
२२५. अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. ७९ ।
२२६. वही।
२२७. परमत्थदीपनी, पृ. ५५ ।
२२७. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ८० ।
२२९. परमत्थदीपनी, पृ. ५५ ।
२३०. सकदागामिनो मग्गो सकदागामी मग्गो, तेन सम्पूयुतं चितं

सकदागामिमग्गचितं, परमत्थदीपनी, पृ. ५६ +

२३१. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ८० ।

२३२. अ.सं. भाग १, पृ. ८० । २३३. परमत्थदीपनी, पृ. ५६-५७ ।

२३४. अ.सं. भाग १, पृ. ८१, हि.भा.।

२३५. परमत्थदीपनी, पृ. ५९ ।

२३६. अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. ८१ ।

२३७. परमत्थदीपनी, पृ. ५९ ।

२३८. अ.सं. भ.आ.कौ., पृ. १४ ।

२३९. भ.सि.उ., पा.सा. का इ., पृ. ४१० ।

२४०. वही।

२४१. वही।

२४२. वही।

२४३. वही।

२४४. वही, पृ. ४१९ ।

२४५. अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. ४६ ।

२४६. वही, पृ. ५७ ।

२४७. वही, पृ. ४३ ।

२४८. वही, पृ. ७० ।

२४९. वही, पृ. ७५ ।

२५०. वही, पृ. ८२ ।

२५१. वही, पृ. ७०-८२ ।

२५२. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. ७३ ।

२५३. वही।

२५४. वही ।

२५५. अ.सं. डॉ. भ.आ.कौ. पृ. १४ ।

२५६. अट्ठसालिनी, पृ. ३६ । २५७. वही ।

२५८. अ.सं. भाग १, पृ. ५२ एवं ५७ हि.भा. गाथा ८-९ ।

२५९. वही, पृ. ५२ ।

२६०. वही, पृ. ५२ एवं ५८ ।

२६१. वही, पृ. ५८ ।

२६२. अ.सं. भाग १, पृ. ५८ ।हि.भा.

२६३. वही । देखिए धम्मसंगणि, पृ. ३९ ।

२६४. वही, पृ. ४८ ।

२६५. वही ।

२६६. वही।

२६७. वही, पृ. ५९, देखिए धम्मसंगणि, पृ. ३९ ।

२६८. वही ।

२६९. वही।

२७०. वही।

२७१. वही, पृ. ५४, ५७, ५८ ।

२७२. परमत्थदीपनी, पृ. ४१ ।

२७३. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ५३ ।

२७४. वही।

२७५. अभिधर्मदीप काशीप्रसाद जायसवाल, पृ. ७७ ।

२७६. वही1

२७७. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. ५३ ।

२७८. वही।

२७९. 'कायचिताबाधं खनतीति सुख' इस प्रकार सुख की व्याख्या की गई है। अर्थात काय एवं चित की बाधा का जो धर्म उतखनन करता है (नष्ट करता है) वह सुख है। परमत्थदीपनी, पृ. ३६ ।

२८०. क्रमांक ६,७,८, के कुशल विपाक चितों को अभिधम्मत्थसगंहो में क्रमशः 'सम्पटिच्छत्र' और 'सन्तिरण' कहा गया है। ७ एवं ८ क्रमांक के मनोविज्ञानधातु में 'सन्तिरण' यह दोनों के लिए सामान्य बात होते हुए भी दोनों में भावना की दृष्टि से अन्तर दिखलाया गया है। क्रमांक १ के मनोविज्ञान धातु के संबंध में कहा गया है कि इस कुशल विपाक में इष्ट आलंबन होता है एवं क्रमांक २ के मनोविज्ञान धातु में इष्ट मध्यस्थालंबन होता है, अर्थात जो न अति इष्ट है न ही अनिष्ट, जब आलंबन इष्ट होता है तब सौमनस्य (सुख) सहगत (युक्त) संतीरण, तथा जब इष्ट मध्यस्थ आलंबन होता है तो उपेक्षा सहगत संतीरण का उत्पाद होता है।

२८१. दे. अभिधम्मत्थसंगहो, भाग १, हि.भा., पृ. ४७ ।

२८२. धम्मसंगणि, अव्याकता धम्मा, पृ. १८ ।अ.स. भाग १, हि.भा. पृ. ४६।

२८३. चक्खु निस्सितं विञ्ञाण चक्खु विञ्ञाण, परमत्थदीपनी, पृ. ३३ । चक्षुमसि के भीतर स्थित प्रसाद (स्वच्छ भाग) को चक्षुः प्रसाद कहते हैं, दे.अ.सं. भाग १, पृ. २३९ ।

२८४. विस्तृत विवेचन के लिए, देखिए अ.सं. भाग १, पृ. २३९ ।

२८५. वत्थालम्बसभावानं, भूतकानाम्हि घट्टनं बुब्बलं इति चक्खादि, चतुचितमुपेक्ख कं। विभावनी, पृ. ६५ ।

२८६. विभावनी, पृ. ६५ ।

२८७. अ.सं. भाग १, हि.भा., २८१ ।

२८८. 'मननमता धातु ति मनोधातु'। विभावनी, पृ. १०३ ।

२८९. 'मनो येव विसिट्ठविजाननकिच्चयोगतो विञ्ञाण, निस्सतनिज्जीवट्ठेन धातु चा ति मनोविञ्ञाणं धातु । विभावनी, पृ. १०३ ।

२९०. पञ्चविञ्ञाणानेव निस्सतनिज्जीवट्ठेन धातुयो पञ्चविञ्ञाण धातुयो । विभावनी, पृ. १०३ ।

२९१. 'कुच्छितं हुत्वा खनतीति दुक्ख' अर्थात कुत्सित होकर जो धर्म सुख का उत्खनन करता है, वह दुक्ख है। विभावनी, पृ. ६४ ।

२९२. दुःख दो प्रकार के होते है। यथा - कायिकदुःख तथा चैतसिक दुःख। यहा पर केवल कायिक दुःख का ग्रहण करना चाहिए। कायेन्द्रिय से स्पर्श के कारण जो प्रतिकुल अनुभव होता है वह कायिक दुःख है, वह सर्वदा दुःख सहगत ही होता है। अभिधम्मत्थसंगहो, भाग १, हि.भा. पृ. ४४ ।

२९३. भ.सि.उ., पा.सा. का इ. पृ. ४१९ ।

२९४. वही। २९५. भ.आ.कौ. अ.सं. हि.भा. पृ. १० ।

२९६. वहीं।

२९७. वही।

२९८. धम्मसंगणि, पृ. १४१-४४ ।

२९९. अ.सं. पठमोपरिच्छेदो, गाथा ९।

३००. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, एवं काय ये पंच द्वार कहलाते हैं। इनमें घट्टित आलंबन का जो आवर्जन करता है अथवा उस आलंबन में जो आभोग करता है वह पंचद्वारावज्जन, (पंचद्वारावर्जन) चित है।परमत्थदीपनी, पृ. ३७ ।

३०१. वीथि चित - जिस प्रकार लोक में छोटे-बडे, टेढे-मेंढे अनेक रास्ते होते हैं, उसी प्रकार चित की गतियां भी अनेक विध होती हैं। मार्ग के सदृश्य होने से इन्हें 'वीथि' कहते हैं, (अ.सं. पृ. २७ भूमिका) इन वीथि-चितों की प्रवृत्ति का द्वारभूत होने से (इसे) मनोद्वार कहा गया है। इस मनोद्वार में दृष्ट, श्रुत, आबद्ध आदि के वश से अभिनिपतित आलंबन का जो आवर्जन करता है उसे मनो द्वारा वर्जन चित कहा गया है। अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. ४९।

३०२. विभावनी पृ. ६७ पर कहा गया है कि 'हसितमेव उप्पादेतीति हसितुप्पाद' अर्थात इषद हास्य को ही जो उत्पनन करता है वह हसितोत्पाद चित हे। लोभ मूल एवं कामावचर शोभन चित भी हास्य का उत्पाद करते हैं, परन्तु वें हास्य के अतिरिक्त काय, वाक एवं मनोकर्मो का भी उत्पाद करते हैं। भगवान बुद्ध तथा अर्हत जनों का चित ही इषदहास्य के अतिरिक्त कोई कृत्य नहीं करते। (संभवतः इसी कारण से लोभ मूल एवं कामावचर शोभन चित के हास्य को हसितोत्पाद चित नहीं कहा गया ऐसा प्रतीत होता है)।

अ.स. भाग १, हि.भा., पृ. ५० ।

३०३. विभावनी, पृ. ६५ । ३०४. वहीं।

३०५. परमत्थदीपनी, पृ. ३८ ।

३०६. अट्ठसालिनी, पृ. २१३ ।

३०७. अ.सं. भाग १, पठमो परिच्छेदो, हि.भा., पृ. ७१ ।

३०८. वही, दुतियो परिच्छेदो, गाथा ३१, हि.भा. पृ. १९० ।

३०९. वही, पठमो परिच्छेदो, पृ. ६२ ।

३१०. वही, पृ. ७६ ।

३११. वही, पृ. ७२ ।

३१२. अ.स. भाग १, पठमोपरिच्छेदो, हि.भा. पृ. ७८ ।

३१३. वही, गाथा, २७ ।

३१४. वही, गाथा २८ ।

३१५. परमत्थदीपनी, पृ. ६१ ।

३१६. अ.स. हि.भा. पृ. ८३ । ३१७. राजौवाद जातक ।

३१८. वही।

३१९. धम्मपदं

३२०. सं.नि., ४:१.४ ।

चतुर्थ अध्याय

कर्म तथा प्रतीत्य समुत्पाद

इससे पूर्व तीसरे अध्याय में पालि-वाड्.मय में कर्मों का विचार किया गया। अब नीचे के पृष्ठों में इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि पालि-पिटकों के अनुसार कर्मफल से संपृक्ति तथा पुनर्जन्म के क्या हेतु हैं ? और पुनर्जन्म क्या, कैसे व किसका होता है।

चार आर्य सत्यों में प्रतीत्य समुत्पाद अनुलोभ पद्धति से दुःख समुदय नामक द्वितीय आर्य सत्य है एवं निरोध पद्धति से दुःखनिरोध नामक तृतीय आर्य सत्य है। 'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतु तथागतों आह' और 'तेसं च यो निरोधो च एवं वादी महासमणों' ये दोनों गद्यांश अनुलोभ पद्धति से प्रतीत्य समुत्पाद की परिभाषा करते हैं। दुःख के जो मूल हेतु हैं - लोभ, द्वेष, मोह उन्हीं को अविद्या कहा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद का आरंभ अनुलोभ पद्धति में अविद्या से होता है।

लोभ, द्वेष एवं मोह

अकुशल कर्मों के मूल में अकुशल हेतु कारण रुप से विद्यमान रहते है। उन्हें अकुशल चैतसिक भी कहा जाता है। यद्यपि अकुशल चैतिसक चौदह[१] प्रकार के कहे गये हैं, तथापि कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से लोभ, द्वेष एवं मोह मुख्य हैं। नीचे इन्हीं के संबंध में विचार किया जा रहा है।

लोभ

इन्द्रियों के आलंबनो के प्रति आसक्त होना अथवा आसक्ति मात्र ही लोभ है[२]। वह आलंबन को उत्कटता एवं लगनपूर्वक ग्रहण करता है। इस संबंध में मर्कटालेप का उदाहरण दिया गया है। मर्कट (बंदर) के अतिशय लोभी एवं चंचल होने के कारण जब वह मर्कटालेप को ग्रहण करने के लिये अपना हाथ बढाता है तो उसके स्पर्श होते ही बंदर का हाथ उसी में चिपक जाता है। परन्तु अति लोभ के कारण एक के बाद दुसरा हाथ, फिर दोनों पेर, फिर मुख और अन्ततः बंदर का पूरा शरीर उसी मर्कटालेप में चिपक जाता है[३]। इसी प्रकार लोभ के कारण मनुष्य किसी वस्तु या विषय में आसक्त होकर नाना अकुशल कर्म करता है, अविद्या के कारण अनित्य, अनात्म और दुःखरुप वस्तुओं को नित्य, आत्म और सुखरुप या शुभ रुप में देखने

से ही लोभ तृष्णा की उत्पत्ति होती है[४]। आलंबन का लालच अर्थात आसक्तिपूर्वक आलंबन की आकांक्षा, चाहत अथवा तीव्र इच्छा करना यही लोभ है[५]।

द्वेष

जिसके द्वारा काय एवं [illegible] दूषित होते हैं उसे द्वेष कहा गया है[६]। दूषित होना मात्र द्वेष है[७]। अपने [illegible] (काय एवं चित्त) का दरुन करना इसका कृत्य है। [illegible] शरीर रक्तवर्ण होकर कांपने लगता है[८], द्वेष का वेग यदि बलवान होता है तो मनः प्रदोषा[९] से मनःप्रदोषक देवों की भांति जीवन संतति का उच्छेद तक हो जाता है[१०]।

मोह

आलंबन में जो स्वयं मुग्ध होता है, अथवा जिसके द्वारा प्राणी मोह को प्राप्त होता है उसे मोह कहा जाता है[११]। ज्ञान के द्वारा जैसे आलंबन[१२] के स्वभाव का यथाभूत ज्ञान होता है, ठीक इसके विपरीत, मोह के द्वारा वस्तु के मिथ्यास्वरुप का अवधारण होता है। अतः ज्ञान का विरोधी होना इसका लक्षण है[१३]। इसे सभी अकुशल कर्मो का मूल जानना चाहिए[१४] परमार्थ स्वरुप से मोह चैतसिक अविद्या है[१५]।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ है प्रत्ययों, हेतुओं या कारणो से उत्पत्ति, इंद प्रत्ययता अर्थात इसके होने से यह होता है, इसके न होने से यह नहीं होता। साधारणतः यह कार्यकारण का सिद्धान्त है। परन्तु प्रतीत्य समुत्पाद कार्यकारणवाद का सिद्धान्त होते हुए भी, वह केवल कारणवाद नहीं है अपितु वह संसार चक्र में जीवन-मरण का क्रम है। बौद्ध दर्शन की दृष्टि से यह दुःख निरोध, गामिनी प्रतिपदा अर्थात आर्य अष्टांगिक मार्ग की तात्विक व्याख्या है[१६]। प्रतीत्य समुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो परमार्थ को सत और असतसे परे बताता है, और एक व्यावहारिक पक्ष है जो संसार में कार्य-कारण नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है[१७]। इससे एक और यह विदीत होता है का दुःख का मूल कारण संसार को सत अथवा असत समझ लेना है, यही अविद्या है[१८]। दूसरी ओर अविद्या ग्रस्त चित के लिए दुःखात्मक संसार चक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता हे[१९]। प्रतीत्य समुत्पाद का यह सिद्धान्त द्वितीय आर्य सत्य की सहेतुक, सप्रत्यय एवं सकारण व्याख्या है। केवल कार्य कारण की श्रृखंला मात्र नहीं है। एक ओर संसार में जीवन के संसरण की व्याख्या, दूसरी ओर निर्वाण-साधना, इस प्रकार व्यवहार और परमार्थ दोनों ही तत्त्वों से आपूर है। 'इस प्रतीत्य समुत्पाद में न कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है, न असत से उत्पन्नन। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक। किन्तु कारण की

सत्ता एवं कार्य की सत्ता में सापेक्षता है[२०] । प्रातीत्य समुत्पाद निरपेक्ष कार्यकारण नियम न होकर, कर्म सिद्धान्त की आधारशिला भी है।

प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात प्रत्यय से उत्पति के नियम की बारह कडियां हैं। उन्हें निदान भी माना जाता है। इसके दो प्रकार हैं। अनुलोभ अर्थात आदि से अन्त की ओर तथा प्रतिलोभ अर्थात अन्त से आदि की ओर। भगवान बुद्ध ने इस सिद्धान्त का चिन्तन, मनन अनुभवन करके उसका प्रतिपादन किया था।

अविद्या

अविद्या का सामान्य अर्थ है अज्ञान। सृष्टि में ऐसे अनेक, अनन्त विषय हैं, जिनके विषय में मनुष्य को सर्वथा जानकारी नहीं है। अथवा न के बराबर है। यह जानकारी का अभाव भी अविद्या की कोटि में आ सकता हैं। परन्तु यहां अविद्या रुपी अज्ञान की धारण सर्वथा भिन्न है। बौद्ध दृष्टि से अज्ञान, माने मिथ्यादृष्टि अथवा प्रतीत्य समुत्पाद विषयक अज्ञान[२१] । भगवान बुद्ध ने अविद्या को सवंय भी अनित्य, संस्कृत ओर प्रत्ययों से उत्पन्न एवं प्रत्ययों से निरुद्ध होने वाली बताया है। आस्त्रवों[२२] के समुदय से वह जन्म लेती है[२३] और प्रत्ययों से ही उत्पन्न तथा प्रत्ययों से ही निरुद्ध होने वाली है। अविद्या के आरंभ का पता बुद्ध ने हमे नहीं बताया। वे कहते हैं 'भिक्षुओं अविद्या के आरंभ का पता नहीं चलता, जबकि यह कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या नहीं थी। इसके पश्चात वह उत्पन्न हुई[२४] ।अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते फिरते मनुष्यों की पूर्व कोटि का पता नहीं चलता[२५]। सांख्य दर्शन में भी अविद्या तत्त्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु पालिपिटको में प्राप्त अविद्या की अवधारणा से उसकी समता नहीं की जा सकती[२६] ।

अविद्या का मूल हेतु शारीरिक, वाचसिक तथा मानसिक संचेतना है[२७] । अविद्या के कारण व्यक्ति स्वयं काय संस्कार इकट्ठा करता है या किसी कारण से, चाहे जानबूझकर या अनजाने काय संस्कार इकट्ठा करता है। उसके प्रत्यय से सुख-दुःख उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वाक संस्कार एवं मनःसंस्कार के विषय में जानना चाहिए[२९] । अविद्या कर्म का अनुचर या वाहक भी है एवं उसका जनक भी [३०] । अविद्या इतनी शक्तिशाली है कि आत्यान्तिक दुःख के होते हुए भी लोग (सांसारिक) जीवन में आसक्ति रखते हुए पाये जाते हैं[३१] । 'अविद्या केवल विद्या का अभाव मात्र नहीं है, वह इसके अतिरिक्त बहुत कुछ चित की अंधकराच्छन्न अवस्था है। इसी अवस्था में अनित्य को अनित्य, अनात्म को अनात्म तथा दुःख को दुःख समझना संभव नहीं है[३२] । यह अविद्या न होती तो पूनर्जन्मकारी कर्म हम न करते[३३] । मोह में न पडते। इस प्रकार कर्म का मूल कारण अविद्या है। परवर्ती आचार्य मदन्त श्रीलाभ का मत यहां पर उल्लेखनीय है कि अविद्या सब क्लेशों की सामान्य संज्ञा है। रागादि क्लेशों के अतिरिक्त कोई अविद्या नहीं[३४] । कार्यकारण संबंध की श्रृखंला में इसे सबसे

पहला स्थान दिया जाता है, क्योंकि इसके कारण ही जीवनधारा का अस्तित्व बना रहता है[३५] । उपनिषदों में भी सब दुःख का कारण अविद्या को ही बताया गया है और उनमें जीवात्मा के विश्वात्मा के साथ मूलभूत तादात्म्य के अज्ञान को ही अविद्या कहा गया है[३६] । इसी के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। दोंनो में ही अर्थात बौद्ध-धर्म एवं उपनिषदों में यह अहंकार का भाव अविद्या का परिणाम है[३७] । दोनों के ही मत में रक्षक ज्ञान का अभाव ही कारण है जो सत्य को हमसे छिपाये रखता है[३८] । परन्तु पालि-पिटकों में जीवात्मा के विश्वात्मा के साथ तादात्म्यबोध के अभाव रुप अज्ञान से अविद्या का कोई संबंध नहीं है। केवल अनित्य, अनात्म तथा दुःख रुप सृष्टि को वह यथार्थ रुप में समझने नहीं देती इतना ही इसका । यह परमसत्ता जैसी कोई वस्तु नहीं है। वह नष्ट हो सकती है। त्रिपिटकों के अनुसार अविद्या नितान्त अनुपयोगी नहीं है। अविद्या के इस स्वरुप में स्वयं उससे छुटकारा पाने की संभावना के लिए भी अवकाश है[३९] । जो व्यक्ति अविद्या से ग्रस्त है उसके लिए यह संसार एक अनजाने देश की यात्रा है।

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा था कि अविद्या की पूर्वकोटि का पता नहीं चलता जबकि यह कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या न थी, इसके पश्चात उत्पन्न हुई। अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकने फिरते मनुष्यों के पूर्व कोटि का पता नहीं चलता इस प्रकार यहां अविद्या प्रांरभ में कही गई है। किन्तु अविद्या को प्रथम स्थान क्यों दिया गया, यह एक गंभीर प्रश्न है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि अविद्या का प्रथम स्थान क्रम की दृष्टि से नहीं, अपितु प्रमुखता की दृष्टि से है[४०] । अविद्या की उत्पत्ति आस्रव[४१] धर्मो के प्रत्यय से होती है[४२] । यह भी कहा गया है कि भगवान बुद्ध ने 'वर्तकथा' में अविद्या एवं भवतृष्णा को शीर्ष स्थान दिया है[४३] । इनको शीर्ष स्थान देने का कारण यह है कि ये सुगति-दुर्गति[४४] की ओर ले जाने वाले कर्मो के विशेष हेतु है[४५] । क्योंकि अविद्या एवं भवतृष्णा में भी अविद्या प्रधान होती है[४६] । क्योंकि उन उन धर्मो में संस्कार[४७] करते समय अविद्या द्वारा चित का आवरण कर दिये जाने से पुद्गल (व्यक्ति) उन्हें तृष्णा से आसक्त होकर करता है[४८] ।

अभिधम्मत्थ संगहो[४९] में अविद्या दो प्रकार की कही गई है। धनीभूत एवं तनुभूत, कुशल एवं अकुशल कर्म तक के परिज्ञान का आवरण करने वाली अविद्या धनीभूत अविद्या है।

कुशल एवं अकुशल कर्म का विवेक तथा कुशल कर्म को कुशल समझकर उसका समादान करना एवं अकुशल कर्म को अकुशल समझकर उससे विरत होना इसे तनुभूत अविद्या (समझना चाहिये) कहा जाता है। स्रोतापन्न, सकृदागामी एवं अनागामी आर्य पुदगलों को चार आर्य सत्यों का सम्यक ज्ञान होने के बावजूद उनकी

(चित) सन्तान में अविद्या का सर्वथा विरह नहीं हो पाता तथापि पृथक जनों की अपेक्षा उनकी अविद्या अधिक तनुभूत होती है। अर्हत होने पर ही संपूर्ण अविद्या से विरहित हुआ जा सकता है।

अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों का होना

संस्कार शद्व का धातुगत अर्थ है - व्यवस्थित करना अथवा क्रम में रखना[५०]। कर्मों के अर्थ में भी संस्कार शद्व प्रयुक्त होता है[५१]। जीवन के सभी मानसिक एवं भौतिक तत्त्वों को भी संस्कार कहा जाता है[५२]। कायिक, वाचसिक एवं मानसिक तीनों प्रकार की चेतना तथा इनसे चित्त पर पडने वाली छाया अथवा मनपर पडने वाले प्रभावो को भी संस्कार कहा गया है।

अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों का होना यह प्रतीत्य समुत्पाद का प्रथम अंग है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं। अविद्या के प्रत्यय से होने वाले संस्कार एवं संस्कार शद्व[५३] से आये हुए संस्कार[५४]। यहा अविद्या के प्रत्यय होन वाले संस्कारों से ही प्रयोजन है। अविद्या कें प्रत्यय से होन वाले संस्कार में पुण्य, अपुण्य एवं आनेंज्य संस्कार तथा कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रिया रुप तीन संस्कार हैं। इस प्रकार कुल छः संस्कार होते है और वे सभी लौकिक चेतना (कुशल-अकुशल) ही होते हैं[५५]। इसी (संस्कार नामक) लौकिक चेतना के पुण्याभिंसंस्कार, अपुण्यभिसंस्कार एवं आनेंजाभिसंस्कार ऐसे तीन भेद हैं[५६]। इनका विवरण इस प्रकार है -

अ) (१) दान-शील आदि के अनुसार होनेवाली आठ कामावचर की कुशल चेतना[५७]।

(२) (ध्यान) भावना के अनुसार होने वाली रुपाचर की पांच कुशल चेतना। इस प्रकार कुल तेरह प्रकार की चेतनाएं पुण्याभिसंस्कार कहलाती हैं[५८]।

ब) प्राणातिपात आदि के अनुसार होने वाली बारह अकुशल चेतनाएं अपुण्याभिसंस्कार कही जाती हैं[५९]।

स) ध्यानभावना के अनुसार होने वाली अरुपावचर की चार कुशल चेतनाएं आनेंजाभिसंस्कार कहलाती हैं[६०]।

ध्यान भावना के अनुसार होने वाली पाचं प्रकार की जो चेतनाएं पुण्याभिसंस्कार कही जाती हैं, उसमें रुपी पदार्थों पर ध्यान करते हुए जो चित की पांच प्रकार की अवस्थाएं होती हैं, उससे उनका संबंध है। उसी प्रकार ध्यान करते समय जहां अरुपी पदार्थों पर मन केंद्रित किया जाता हैं तब चित्त की जो चार प्रकार की अवस्थाएं होती हैं उसे आनेंजाभिसंस्कार कहा गया है।

अविद्या के प्रत्यय से जिस प्रकार उपरोक्त पुण्य, अपुण्य एवं आनेंजाभिसंस्कार कहे गये हैं उसी प्रकार कायिक, वाचिक एवं चित्त (मानसिक) संस्कार भी अविद्या के प्रत्यय से होते हैं[६१]।

कर्मों की उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से ही संस्कारों का इस प्रकार का वर्गीकरण दिया हुआ है। कहा भी गया है कि कायविज्ञप्ति को उत्पन्न करके (अर्थात काय द्वारा ज्ञापित करके) काय द्वार से प्रवर्तित कामावचर[६२] की ही आठ कुशल चेतनाएं (पुण्याभिसंस्कार) एवं उसी की बारह अकुशल चेतनाएं (अपुण्याभिसंस्कार) कुल बीस चेतनाएं काय संस्कार[६३] कही जाती है। इन्हीं बीस चेतनाओं को वाकविज्ञप्ति उत्पन्न करके वाकद्वार से प्रवर्तित होने पर वाकसंस्कार[६४] एवं काय और अथवा वाकविज्ञप्ति को उत्पन्न न करके केवल मनोद्वार में ही उत्पन्न होने वाली (उपरोक्त बीस चेतनाएं एवं रुपाचर की पांच तथा अरुपाचर की चार) कुल उन्तीस चेतनाएं चित्तसंस्कार कहलाती है[६५]। ये काय, वाक तथा चित्त संस्कार भी पुण्य, अपुण्य एवं आनेंजाभिसंस्कार में समाविष्ट हो जाते हैं[६६]। इसीलिए अभिधम्मत्थसंगहो[६७] में काय, वाक, एवं चित्त संस्कारों का स्वतंत्र वर्ग नहीं मिलता।

चौबीस प्रकार के संस्कार २४ प्रकार के प्रत्ययों से उत्पन्न होते है वे निम्न प्रकार से हैं।

(१) हेतु प्रत्यय, (२) आलंबन प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय, (४) अनन्तर प्रत्यय, (५) समानान्तर प्रतयय, (६) सहजात प्रत्यय, (७) अन्योन्य प्रत्यय, (८) निश्रय प्रत्यय, (९) पुरेजात प्रत्यय, (११) पश्चात-जात-प्रत्यय, (१२) आसेवन प्रतयय, (१३) कर्मप्रत्यय, (१४) विपाक प्रत्यय, (१५) आहार प्रत्यय, (१६) इन्द्रिय प्रत्यय, (१७) ध्यान प्रत्यय, (१८) मार्ग प्रत्यय, (१९) संप्रयुक्त प्रत्यय, (२३) विप्रयुक्त प्रत्यय, (२१) अस्तिप्रत्यय, (२२) नास्तिप्रत्यय, (२३) विगत प्रत्यय एवं (२४) अविगत प्रत्यय[६८] नामक स्वतंत्र ग्रंथ समूह में किया गया है।

१. हेतु प्रत्यय

यहां प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, संभव, प्रभव आदि अर्थतः एक है व्यंजन से भिन्न[६९]। 'मूल कारण' के अर्थ में हेतु और उपकारक कारण के अर्थ में प्रत्यय शद्बों का उपयोग किया जाता है[७०]। अब हम 'हेतु' का विचार करें। पालि पिटकानुसार बौद्ध मन्तव्य में हेतु का ज्ञान ही धर्म-प्रतिसम्बिद है[७१]। हेतु ही धर्म है[७२]। भगवान ने जब कहा था कि ये "धम्मा हेतुप्पभवा" धर्म हेतु अर्थात कारण से उत्पन्न होते हैं तो वे धर्म कौन से हैं। अर्थात प्रतीत्य समुत्पाद में बतलायें हुए अविद्यादि धर्म ही प्रतीत होते हैं एवं हेतु कौन से हैं जिनसे ये धर्म उत्पन्न होते हैं। पट्ठान[७३] के अनुसार लोभ, द्वेष, मोह (अकुशल हेतु या मूल) तथा अलोभ, अद्वेष अमोह (कुशल हेतु या मूल) इस प्रकार कुल छः हेतु होते हैं। हेतु प्रत्यय की विस्तृत जानकारी के लिये 'पट्ठान' नामक ग्रंथ देखना अनिवार्य है। यहां विस्तार मय से उनका विचार नहीं किया जा सकता।

हेतु प्रत्यय में उपरोक्त शक्तिमान ६ हेतु एवं उनकी शक्ति का ग्रहण होता है[७४]।

२. आलंबन प्रत्यय

जिस जिस धर्म को लेकर जो जो चित्त चैतसिक धर्म उत्पन्न होते हैं वे वे धर्म उन उन धर्मो के आलंबन-प्रत्यय होते हैं[७५] । सभी चित चैतसिक धर्म किसी एक आलंबन का अवलंब लिये बिना प्रवृत्त होने में असमर्थ होते हैं[७६] । वह धर्म (आलंबन) ही आलंबन-प्रत्यय कहलाता है। 'आलंबन' शद्व अवलंब या आश्रय के अर्थ में प्रयुक्त होता है[७७] । जिस प्रकार दुर्बल व्यक्ति डंड या रस्सी के सहारे ही उठता है और खडा होता है, इसी प्रकार सभी चित्त चैतसिक धर्म रुप आदि के सहारे ही उत्पन्न होते है और ठहरतें है[७८] । जैसे रुपायतन एवं चक्षु चक्षुविज्ञान-धातु का प्रत्यय होते हैं[७९] । इसी प्रकार अन्य इंद्रियो (तथा वस्तुओं) के विषय में भी जानना चाहिए।

३. अधिपति प्रत्यय

ज्येप्ठ के अर्थ मे उपकार करने वाला धर्म अधिपति कहलाता है। इसके दो भेद हैं, (१) सामान्य और (२) विशेष[८१] । रुपालंबन दो प्रकार से होता है -

(१) सामान्य रुपालंबन में केवल आलंबन शक्ति ही होती है, आलंबन का अधिपति बनने की शक्ति नहीं होती[८२] । विशेष सुन्दर रुपालंबन में आलंबन शक्ति एवं आलंबनाधिपति शक्ति दोनों होती हैं[८३] । आलंबनाधिपति शक्तिवाले रुपालंबन अपना आलंबन करने वाले लोभमूल चित्त पर यथेच्छ अधिकार करके उसे प्रभावित कर सकते हैं[८४] । छन्द (कोई कार्य करने की इच्छा) वीर्य, चित्त (और) मीमांसा नामक चारों धर्मो को अधिपति प्रत्यय जानना चाहिये[८५] । जब छन्द को ही प्रमुख या ज्येप्ठ करके चित प्रवर्तित होता है तब छन्द ही अधिपति होता है, दूसरे नहीं। इसी प्रकार अन्यों में भी जानना चाहिये। इसीलिए कहा गया है कि जिस धर्म को प्रधान करके अरुपधर्म प्रवर्तित होते हैं अर्थात जो जो चित्त-चैतसिक धर्म उत्पन्न होते हैं ये वे धर्म (चित-चैतसिक धर्म) उन उन धर्मो के (आलबंनो के) अधिपति-प्रत्यय होते हैं[८६] ।

४. अनन्तर प्रत्यय और समानान्तर प्रत्यय

नत्थि येसं अन्तरं ति अनन्तर। जिन (दो) धर्मो के बीच कोइ अन्तर नहीं होता, उन्हें अनन्तरं कहते हैं[८७]।अपने अनन्तर उत्पन्न होने योग्य चितों को नियम के अनुसार उत्पन्न करने में समर्थ पूर्व पूर्व चित्तों की शक्ति को ही अनन्तर प्रत्यय कहते हैं[८८] ।

५. समानान्तर प्रत्यय

अधिक व्यवधान न होकर पीछे के चित का उत्पाद करने में समर्थ पूर्वचित की शक्ति (ही) समानान्तर प्रत्यय है[८९]।पूर्व चित एवं अपरचिति, इस प्रकार का द्विविधविभाग करने पर भी पूर्वचित्त के भंग एवं अपर चित्त के उत्पाद के बीच में अन्तर (अवकाश) नहीं होने से अर्थात एक ही चित्त की तरह होने से

अधिक अन्तर नहीं होता[९०] ।

जो अनन्तर प्रत्यय है वही समानान्तर प्रत्यय है। यहां व्यंजन मात्र ही भिन्न है। अर्थ से भिन्नता नहीं है[९१] । एक शक्ति को ही अनन्तर एवं समानान्तर दो प्रकार से कहा जाता है[९२] ।

६. सहजात प्रत्यय

जो उत्पन्न होता है वह 'जात' है, तथा जो साथ उत्पन्नन होता है, उसे सहजात कहते हैं[९३] । उत्पन्न होते हुए ही साथ उत्पन्न होने से उपकार करने वाला सहजात प्रतयय कहलाता है।[९४]

७. अन्योन्य प्रत्यय

परस्पर उत्पत्ति और उपस्तंभ होने के अनुसार उपकार करनेवाला धर्म, एक दूसरे को संभालने वाले त्रिदण्ड के समान अन्योन्य प्रत्यय है[९५] । अभिधम्मत्थसंगहो[९६] के अनुसार परस्पर उपकार करनेवाली शक्ति अन्योन्यप्रत्यय है। जैसे किसी तिपाई के तीन पाद अन्योन्य का उपकार करके स्थित रहते हैं (और) यदि उनमें से एक पाद टूट जाता है, तो अवशिष्ट दो पाद तिपाई के स्थित होने के लिए उपकार नहीं कर सकते उसी प्रकार सहोत्पन्न धर्मो का अन्योन्य उपकार करने में समर्थ शक्ति को अन्योन्य प्रत्यय कहा जाता है[९७] ।

८. निश्रय प्रत्यय

अधिष्ठान और निश्रय के आकार से उपकार करनेवाला धर्म (वृक्ष, चित्र-कर्म आदि के लिए पृथ्वी, वस्त्र आदि के समान) निश्रय प्रत्यय कहलाता है[९८] । पृथ्वी अधिष्ठाता भूमि के रुप में वृक्ष-आदि का उपकार करती है, उसी तरह कुछ प्रत्यय उत्पन्न धर्मो का अधिष्ठाता भूमि के रुप में उपकार करने में समर्थ होते हैं। ऐसे प्रत्यययों को निश्रय-प्रत्यय कहा जाता है[९९] ।

९. उपनिश्रय प्रत्यय

सामान्य की अपेक्षा अतिशय निश्रयशक्ति को ही 'उपनिश्रय[१००]' कहा जाता है। वृष्टि का आश्रय करके वृद्ध एवं पुष्ट होने वाले वृक्षों एवं सत्वों के लिए वृष्टि अत्यन्त उपकारक होती है। उसी तरह आलंबन, अनन्तर एवं प्रकृति उपनिश्रय धर्म भी अपने से संबध्द प्रत्ययोत्पन्न धर्मो के बलवान कारण होते हैं, अतः बलवान कारण होने से उपकार करनेवाला धर्म उपनिश्रय प्रत्यय[१०१] कहा जाता है। इसके आलंबन[१०२], अनन्तर[१०३] एवं प्रकृति[१०४], ऐसे तीन भेद कहे गये हैं[१०५] ।

१०. पुरेजात प्रत्यय

प्रत्ययों से उत्पन्न धर्मों से पहले उत्पन्न होने वाले धर्म को पुरेजात प्रत्यय कहते है[१०६] । पुरेजात का अर्थ केवल 'पूर्व' में उत्पन्न होना नहीं है, अपितु निरुद्ध न होकर अस्ति स्वभाव से स्थिति क्षण में विद्यमान होने के अर्थ में है[१०७] ।

११. पश्चातजात प्रत्यय

पहले उत्पन्न हुए धर्मो का उपस्तभंक होने के रुप में उपकार करनेवाला अरुपी धर्म पश्चातजात[१०८] प्रत्यय हे, अथवा प्रत्ययोत्पन्न धर्मो के पश्चात उत्पन्न होकर पूर्व उत्पन्न धर्मो का उपकार करनेवाली शक्ति को पश्चात जात प्रत्यय कहते हैं[१०९] ।

१२. आसेवन प्रत्यय

एक ही प्रकार के धर्म का पुनः पुनः उत्पाद करना आसेवन प्रतयय है[११०] । अथवा अपने सदृश्य दूसरे धर्मो के उत्पाद के लिए अपनी शक्ति देना एवं अपनी शक्ति को वासित (भावित) करना आसेवन[१११] प्रत्यय कहलाता है।

१३. कर्म प्रत्यय

चित्त के प्रयोग रुप कही जाने वाली क्रिया से उपकार करनेवाला धर्म कर्म प्रत्यय[११२] है। वह सहजात एवं नानाक्षणिक कर्म से दो प्रकार[११३] का होता है। इसका विशेप विचार कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रसंग में करेंगे।

१४. विपाक प्रत्यय

ये स्वयं क्रियारहित होते है और उपशान्त होते हैं। सहोत्पन्न धर्मो को भी व्यापाररहित एवं उपशान्त होने के लिये उपकार करते हैं। इस प्रकार उपकार करने में समर्थ शक्ति विपाक[११४] प्रत्यय है।

१५. आहार प्रत्यय

जो अपने कार्य या विपाक धर्मो का आहरण करते हैं, धारणा करते हैं, अर्थात् उनका उपकार करते हैं, उन्हें 'आहार' कहते हैं[११५] । यद्यपि संपूर्ण खाद्य पदार्थो को भी आहार ही कहते हैं, तथापि यंहा रुप का उत्पाद करने में खाद्य वस्तु में आने वाले ओजस का ही प्रत्यय के रुप में ग्रहण करना चाहिए[११६] । आहार ४ प्रकार के होते हें - कवलीकर[११७] आहार, स्पर्श आहार[११८], मनःसचेतना आहार[१०९] तथा विज्ञान आहार[१२०] ।

१६. इन्द्रिय प्रत्यय

जो धर्म ऐश्वर्य कला या अधिपत्य करनेवाला होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। चक्षुःप्रसाद चितना स्वच्छ होता है, उतना ही चक्षुविज्ञान के द्वारा रुपालंबन का दर्शन स्पष्ट होता है। दर्शन की कितनी भी इच्छा रहने पर यदि चक्षुप्रसाद दुर्बल होता है, तो दर्शन की क्रिया भी दुर्बल हो जाती है। इसलिये चक्षुःप्रसाद का 'दर्शनक्रिया' पर ऐश्वर्य या आधिपत्य होता है[१२१]। इसी प्रकार संबंध क्रिया में अपनी इच्छानुसार आधिपत्य करने में समर्थ शक्ति 'इन्द्रिय' कहलाती है। यथा - श्रव ... घ्राणकृत्य, स्वदनकृत्य, (स्वादलेना) एवं स्पर्शन कृत्य पर क्रमशः श्रोत्र-प्रसाद, घ्राण आदि का आधिपत्य होता है[१२२]।

१७. ध्यान प्रत्यय

ध्यान करने में समर्थशक्ति को ध्यान-प्रत्यय कहते हैं[१२३]। वितर्क, विचार, प्रीति, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा एवं चित्त की एकाग्रता[१२४] ये ध्यानप्रत्यय कहलाते हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा आलंबन का चिन्तन किया जाता है।

१८. मार्ग प्रत्यय

मार्ग शद्ब आने जाने के रास्ते के अर्थ में प्रयुक्त होता है[१२५]। सांसारिक जीवन में रास्ते के समान सिद्ध होने वाले प्रज्ञा आदि धर्म भी मार्ग कहे जाते हैं। जैसे नाव इस पार से उस पार, या उस पार से इस पार पहुंचाती है, उसी तरह ये धर्म सुगति से दुर्गति या दुर्गति से सुगति में पहुंचाते हैं[१२६]। अप्टांगिक मार्ग के विभिन्न अंग भी मार्ग-प्रत्यय कहे जाते हैं[१२७]।

१९. सम्प्रयुक्त प्रत्यय

चारो अरुपी स्कंध (संज्ञा, संस्कार, वेदना, विज्ञान) परस्पर संप्रयुक्त प्रत्यय के रुप में प्रत्यय होते हैं[१२८]। इन चारों अर्थात (नामस्कंध) के एकोत्पाद आदि लक्षणों से एकीभूत होकर संप्रयुक्त होने में उन्हें अन्योन्य विरोधी न होने देकर, एक दूसरे के स्वभाव के अनुकूल बनाने में समर्थ शक्ति सम्प्रयुक्त-प्रत्यय कहलाती है[१२९]।

२०. विप्रयुक्त प्रत्यय

यह संप्रयुक्त प्रत्यय के विपरीत है[१३०]। रुपी धर्म अरुपी धर्मो के और अरुपी धर्म रुपी कर्मो के विप्रयुक्त प्रत्यय होते हैं[१३१]।

२१. अस्ति प्रत्यय

अस्ति स्वभाव से उपकार करने वाली शक्ति को 'अस्तिप्रत्यय' कहा गया है। इस प्रत्यय में प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न धर्म (अर्थात उत्पन्न करनेवाला कारक) तथा

उत्पन्न होने वाला (कार्य)) दोनों को प्रत्युत्पन्न काल में विद्यमान होना चाहिए[१३२]। वर्तमान लक्षणवाले 'अस्तिभाव' से उसी प्रकार के धर्म का उपष्टंभव करके उपकार करनेवाले धर्म को अस्ति प्रत्यय कहते हैं[१३३]।

नास्ति प्रत्यय

अपने अभाव के द्वारा अपने पीछे होने वाले धर्मों का उत्पन्न होने के लिए उपकार करना ही नास्ति[१३५] प्रत्यय है[१३६]।

विगत प्रत्यय[१३७]

अपने निरोध से पीछे पीछे के धर्मों को अवकाश देकर उपकार करना विगत प्रत्यय है[१३८]।

अविगत प्रत्यय

'अस्ति' शद्ब 'विद्यमान' अर्थ में होता है उसी प्रकार अविगत शद्ब भी अनिरुद्ध अर्थात (प्रवृत्त) के अर्थ में होता हैं[१३९]। परमार्थ स्वभाव से अनिरुद्ध होकर उपकार करनेवाली शक्ति अविगत प्रत्यय है[१४०]। इस प्रकार अविद्या के प्रत्यय से २४ प्रकार से होने वाले संस्कारों का संक्षेप में विचार किया गया। फिर भी इन प्रत्ययों को ठीक ठीक समझना सरल नहीं है। इस संबंध में आभिधम्मत्थसंगहो[१४१] में कहा गया है कि परमार्थ स्वभाव धर्मो में स्पर्श के संस्पर्शन स्वभाव एवं वेदना के अनुभवन स्वभाव आदि का यथाभूत ज्ञान दूसरों का उपदेश सुनकर या ग्रंथ आदि पढकर जान लेना मात्र नहीं है। उसका यथाभूत ज्ञान होना अतयन्त दुष्कर है। उससे भी अधिक दुष्कर उन स्वभाव धर्मो की नाना प्रकार की शक्तियों का विभाजन करके एकान्त रुप से जानना है।

पालि-वाङमय में संस्कार अर्थात कर्म का सूक्ष्म अध्ययन इन २४ प्रकार के संस्कारों के प्रत्यय को समझकर किया गया है। परन्तु इनका सम्यक रुप से ज्ञान या बोध होना भी अत्यन्त कठिन है। इसलिये पट्ठान की मूल टीका[१४२] में कहा गया हे कि 'तथागत ने क्लेश धर्मो से विशुद्ध होकर प्रसन्न चित्त सन्तति में सर्वदा वास करने वाले सर्वज्ञता ज्ञान के बल से जानकर इन २४ प्रत्ययों में से प्रत्येक की शक्ति-विशेष' को अलग अलग बतलाया है। श्रद्धावान होकर पुनः पुनः ग्रंथ देखकर, पण्डितों के समीप जाकर उनसे विचार विमर्श करके तथा स्वंय गंभीरतया विचार करके इन प्रत्ययों की विशेष शक्तियों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर प्रतीत्य-समुत्पाद के प्रथम अंग, अविद्या-प्रत्यया-संखारा के विषय में विवेचन किया गया। अब उसके दूसरे अंग या दूसरी कडी संस्कारों के प्रत्यय से

विज्ञान होता है, इस पर विचार करेंगे।

भगवान बुद्ध ने कहा है - जो जानता है, व जिससे जानता है उसे विज्ञान कहा जाता है[१४३] । यहां विज्ञान, चित, चेतना तथा मन सभी अर्थातः एक हैं। विज्ञान स्वभाव से एक प्रकार का, परन्तु उत्पत्ति अनुसार तीन प्रकार की होता हे, कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत[१४४] ।

कुशल विज्ञान

भूमि के भेद से चार प्रकार का होता है। यथा - कामावचर, रुपावचर, अरुपावचर और लोकोत्तर[१४५] ।

अकुशल विज्ञान

तीन प्रकार का होता है। लोभभूल, द्वेषभूल एवं मोहमूल, परन्तु भूमि के भेद से एक प्रकार का कामावचर ही होता है[१४६] ।

अव्याकृत विज्ञान

उत्पत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। विपाक चित्त तथा क्रिया चित्त, विपाक विज्ञान (चित्त) पुनः दो प्रकार का होता है। कुशल विपाक तथा अकुशल विपाक।विपाक विज्ञान (चित्त) भूमि के भेद से ४ प्रकार का होता है[१४७] । विज्ञान (चित्त) के भेद प्रभेदो की सारिणी इस प्रकार है -

भूमि	कुशलचित्त	अकुशलचित्त	अव्याकृतचित		योग
			विपाकचित्त	क्रियाचित्त	
कामावचर	८	१२	२३	११	५४
रुपाचर	५	—	५	५	१
अरुपावचर	४	—	४	४	१२
लोकोत्तर	४	—	४	—	८
योग	**२१**	**१२**	**३६**	**२०**	**८९**

इन सबका विचार अध्याय ३ में किया जा चुका है।विज्ञान के अन्तर्गत आने वाले कामावचर के ८ कुशल, १२ अकुशल, रुपाचर के अन्तर्गत आने वाले रुपावचर के ५ कुशल एवं अरुपावचर के ४ कुशल चित ही साधारणतः कर्म तथा पुनर्जन्म ये संबंधित हैं।

कामावचर (भूमि) के ८ कुशल चित एवं रुपाववर (भूमि) के ५ कुशल चित इस प्रकार कुल १३ चित या चेतनाएं पुण्याभिसंस्कार[१४९] कही जाती हैं। कामावचर (भूमि) के ही १२ अकुशल चितों को अपुण्याभिसंस्कार[१५०] कहा गया है एवं अरुपावचर

की ४कुशल चेतनाों को ही आनेंजाभिसंस्कार[१५१] कहा गया हे। काय संस्कार कायिक कर्म, वाक संस्कार वाचिक कर्म एवं चित संस्कार को ही चैतसिक कर्म कहा जाता है।

पूर्व पूर्व भव में किये हुए पुण्याभिसंस्कारों से व्यक्ति के लिए आगामी भव में कामसुगतिभूमि एवं रुपावचर भूमि में प्रतिसन्धि-विज्ञान (पुनर्जन्म) की प्राप्ति होती है[१५२]। कुशल चेतना (कर्म) से कामसुगति भूमि एवं रुपावचर भूमि में जन्म प्राप्त होता है। अपुण्याभिसंस्कार अर्थात अकुशल चेतना (अकुशल कर्म) से अपायभूमि में प्रतिसन्धि विज्ञान की उत्पत्ति होती है[१५३]। आनेंजाभिसंस्कार से अरुपभव में प्रतिसन्धि विज्ञान की उत्पत्ति होती है[१५४]। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि भिंन्न भिन्न प्रकार के संस्कारों अर्थात् विविध प्रकार के कर्मो के अनुसार ही प्रतिसन्धि विज्ञान अर्थात जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार केवल संस्कार स्कंध का विचार करें तो ये उन्तीस प्रकार की चेतनाएं (अर्थात कर्म) ही पुनर्जन्म से संबंधित है। 'संखार पच्चया विञ्ञाण' इस सुक्त में विज्ञान शद्ब का अभिप्राय प्रतिसन्धिविज्ञान है[१५५]।

नवासी प्रकार का विज्ञान प्रतिसन्धि, भंवाग, आवर्जन, देखना, सुनना, सुंघना, चखना, स्पर्श करना, संप्रतिच्छन्न, सन्तीरण, व्यवस्थापन, जवन, तदालंबन एवं च्युति इस तरह १४ प्रकार से प्रवर्तित होता है[१५६]। हमारा प्रयोजन मुख्य रुप से प्रतिसन्धि विज्ञान से ही है। उपरोक्त १४ प्रकार के प्रवर्ति (कृत्य) का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है -

प्रतिसन्धि

प्रतिसन्धान अर्थात जोडना ही प्रतिसन्धि[१५७] है। पूर्वभव के विच्छिन्न होने पर नविन भव में सर्वप्रथम चितोत्पाद पूर्वभव एंव नवीन भव का प्रतिसन्धान करनेवाले की तरह होता है[१५८]। इस प्रकार के प्रतिसन्धानकृत्य के कारण 'सत्व' नामक स्कंधसंतति (पंचस्कंध की अविच्छिन्न धारा) निरुद्ध न होकर नवीन नवीन भव को पुनः पुनः प्राप्त करती हुइ संसार चक्र में प्रवृत्त होती रहती है[१५९]।

भवंग-(जन्म से लेकर) आयुपर्यन्त चलते रहनेवाला चित भवंग कहलाता है[१६०]।

आवर्जन

जिसके द्वारा आवर्जन (अभिमुखीकरण) किया जाता है[१६१], अथवा 'चित्तधारा' का किसी भी नये विषय को अपने सामने लाना अथवा किसी भी नये विपय का चित सन्तति के सामने उपस्थित हो जाना ही आवर्जन' कहलाता है[१६२]। देखना, सुनना, सूंघना, चखना, स्पर्श करना, आदि इनके कृत्यों के अर्थ स्वतः सुस्पष्ट है।

संप्रतीच्छन

चक्षुविज्ञान आदि के द्वारा विज्ञान आलंबन का सम्यक ग्रहण सम्प्रतीच्छन कहलाता है[१६३] ।

संतीरण

संप्रतीच्छन द्वारा गृहीत आलंबन का सम्यक विचार[१६४] (या उहापोह अर्थात तुलना या मिमांसा करना) संतीरण कहलाता है।

व्यवस्थापन

संतीरण के द्वारा मीमांसा किये जाने के अनन्तर यह आलंबन इष्ट है अथवा अनिष्ट है इस प्रकार पृथक पृथक अवच्छेद करना[१६५] ही व्यवस्थापन कहलाता है।

विज्ञान के प्रत्यय से नाम रुप का होना

जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म है, सभी नाम हैं, तथा जितनी स्थूल वस्तुएं हैं सभी रुप हैं[१६६] । बौद्ध सिद्धान्त में समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत को पाचं स्कंधो में विभाजित किया गया है। उनमें से प्रथम स्कंध को रुप तथा अन्य चार स्कंध वेदना, संज्ञा, संस्कार एव विज्ञान को नाम स्कंध में लिया गया है। इस नामस्कंध को विज्ञान-स्कंध भी कह सकते हैं। वेदना (छहों इन्द्रियों के संपर्क से उत्पन्न होने वाली अनुभूतियां) संज्ञा तथा संस्कार भी इसी नामस्कंध के अन्तर्गत आते हैं। इन तीनों के साथ विज्ञान ये सब एकार्थक हैं[१६७] । जिन धर्मो के होने से चित होता हैं, उन्हें चैतसिक कहते हैं। चित तथा चैतसिक दोनों सहजात धर्म हैं[१६८] । चैतसिकों के समूह विशेष का नाम ही 'चित' हो जाता है[१६९] । चेतना के संग्रहात्मक स्वरुप को ही चित्त अथवा मन कहा जाता है। विशुद्धिमार्ग[१७०] में वेदना, संज्ञा और संस्कार इन तीन स्कंधो को ही नाम के अंतर्गत लिया गया है। 'अभिधम्मत्थसंग्रहो[१७१] द्वितीय' में इस विषय में इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि 'नाम' शद्ब द्वारा चित एवं चैतसिक दोनों का ग्रहण करना चाहिए, किन्तु 'विज्ञान' शद्ब द्वारा चित्तो का ग्रहण कारणपक्ष[१७२] में हो चुका है। अतः कारण् एवं कार्य में सम्मिश्रण न होने देने के लिये 'नाम' शद्ब द्वारा चित्त का ग्रहण नहीं किया जाता। इससे प्रतीत होता है कि संभवतः इसी कारण से बुद्ध घोष ने विज्ञान को 'नाम' के अंतर्गत न लेकर वेदना, संज्ञा तथा संस्कार इन तीन को ही 'नाम' माना है[१७३] ।

चार महाभूतों को लेकर उत्पन्न हुए सभी रुपो को रुप कहा जाता है।

'नामरुप' के प्रत्यय से छह-आयतनों का होना

छह-आयतन का अर्थ है चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिहवा, काय एवं मन, ये छह

ज्ञानेन्द्रियां[१७४]। विज्ञान से चैतसिक धर्मो की उत्पत्ति होती है[१७५]। नाम तथा रुप के सहजात प्रत्यय से ही छह इन्दियां उत्पन्न होती है। मन को छोडकर ये पांचो आयतन (इन्द्रियां) नाना कर्मो के फल से उत्पन्न होते हैं[१७६]। मन आयतन की उत्पत्ति के विषय में स्वतंत्र रुप से पिटकों में कुछ भी नहीं बताया गया है।

छह आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श का होना

स्पर्श का अर्थ इन्दियों अथवा मन का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होना है[१७७]। छह इन्द्रियों के होने से ही छह प्रकार का स्पर्श होता हे, यथा आखं, कान, नाक, जिव्हा, काय तथा मन का अपने अपने विषयों से स्पर्श[१७८]। 'छूना' स्पर्श की पहचान है, जैसे दो भेड एक दूसरे से टक्करायें तब उनमें से एक भेड को चक्षु मान ले तथा दूसरे को रुप। उन दोनों भेडो का जो टकराना हे, उसे स्पर्श समझना चाहिए[१७९]। स्पर्श तथा कर्मो का अन्यो न्य संबंध दिखाते हुए बुद्ध ने कहा था 'भिक्षुओं', स्पर्श ही कर्मो का निदान (मूल कारण) है[१८०]।

स्पर्श के प्रत्यय से वेदना का होना

अनुभव करना बेदना की पहचान है[१८१]। इन्द्रिय तथा विषय के संयोग से मन पर पडनेवाले प्रथम प्रभाव को वेदना कहा जा सकता हैं। चेतना से प्रत्येक प्रकार की वेदना अनिवार्य रुप से संबद्ध रहती है। यदि स्पर्श हुआ तो वेदना अवश्य होगी। फिर वह वेदना चाहे दुःख, सुख या असुख अदुःख रुप कैसी भी क्यों न हो। सभी वेदनाओं का मूल कर्म नहीं है, वेदनाओं के होने में आठ कारण होते हैं, जिनसे संसार के सभी जीव सुख दुःख भोगते हैं। वे आठ कारण इस प्रकार हैं - वायु का विगड जाना, पित का प्रकोप होना, कफ का बढ जाना, सन्निपात का दोष हो जाना, ऋतुओं का बदलना आहार-पान में गडबड होना, बाहय प्रकृति के दूसरे प्रभाव और अपने कर्मो का फल होना[१८२]। जब छह प्रकार के स्पर्श उत्पन्न होते है तो छह वेदनाएं[१८३] भी उनके साथ युगपत उत्पन्न होती है[१८४]।

वेदना के प्रत्यय से तृष्णा का होना

छह प्रकार के इन्द्रिय विषयों के प्रति छह प्रकार की तृष्णा होती है, यथा - चक्षु के लिए इष्ट, प्रिय, कमनीय, सुखद रुप की तृष्णा, श्रोत्र के लिए वैसे शद्व, घ्राण के लिए वैसी गन्ध, जिव्हा के लिए वैसे रस, काय के लिए वैसे स्पर्श एवं मन के लिए वैसे धर्मो की तृष्णा[१८५]। इस प्रकार यह षडविध तृष्णा कही गयी है। तृष्णा का व्याख्यान कई प्रकार से किया गया है - सुख, दुःख, अदुक्खसुख[१८६]। इसे पांच प्रकार की भी मानी गई है - सुख, दुःख, सौमनस्य, दौमनस्य तथा उपेक्षा[१८७]। इन्हें ही काम तृष्णा, भवतृष्णा, एवंविभव तृष्णा भी कहा गया है[१८८]।

रुप तृष्णा ही जब चक्षु के सम्मुख आये हुए रुपालंबन को काम (उपभोग) के अनुसार आस्वादन करती हुई प्रवर्तित होती है तब 'कामतृष्णा' (कामतण्हा) होती है[१८९]। वही तृष्णा जब इस भावना का रुप ले लेती है कि अमुक सुखद आलंबन ध्रुव, या शाश्वत रुप में है तब उसे 'भवतृष्णा'[१९०] कहा जाता है और वही तृष्णा जब आलंबन के विनाश की कामना करती है, तब उसे विभव तृष्णा[१९१] कहा जाता है।

रुपालंबन के प्रति आसक्ति होती है ऐसा कहने का आशय यह है कि किसी आलंबन को देखने पर उससे जो सुखवेदना उत्पन्न होती है, उस वेदना के प्रति तृष्णाजन्य आसक्ति होती है उसके साथ उस सुख वेदना को उत्पन्न करने में आलंबनभूत पदार्थ के प्रति भी स्वभावतः तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण वेदना के होने से तृष्णा उत्पन्न होती है, ऐसा कहा गया है[१९२]। दुःख वेदना का अनुभव करते समय इस दुःख वेदना से मुक्ति होकर कब सुख होगा ऐसी तृष्णा से सुख के प्रति अथवा सुखोत्पादक आलंबन के प्रति कामना की जाती है। जब सुख होता है, तब भी तृष्णा के कारण न केवल उस सुख के प्रति आसक्ति होती है, अपितु उससे भी अधिक सुख की कामना की ज़ाती है। यह स्थिति रुप, शद्व, गंध, रस, स्पर्श एवं धर्म अर्थात छहों इन्द्रियों के विपयों में समान रुप से लागू होती है। छहों प्रकार की तृष्णाओं के काम, भव तथा विभव (तृष्णा) ये तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकार तृष्धा के कुल १८ भेद कहे गये हैं।[१९३] इन्हीं का बाहय एवं आध्यात्मिक इन दो संतानो से गुणा करने पर इनकी संख्या ३६ हो जाती है एवं इन्हीं का तीनों कालो से गुणा करने पर इनकी कुल संख्या १०८ हो जाती है।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से संस्कार एवं विज्ञान के समान तृष्णा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव में भव तृष्णा के कारण ही व्यक्ति दुःखी होता है। भगवान बुद्ध ने कहा था कि अविद्या तथा भवतृष्णा की पूर्व कोटी नहीं जानी जा सकती। इन दोंनो को उन्हेंने शीर्ष स्थान दिया है[१९४]। भव-तृष्णा से अभिभूत पृथग्जन अपने दुर्गति के दुःख को मिटाने वाले प्राणातिपात विरति अदिन्नादान (चोरी) विरति आदि कर्मों को छोडकर सत्यवचन, दया, परोपकार, सेवा, सुश्रूषा ऐसे अनेक प्रकार के सुगतिगामी कर्मो को करता है[१९५]। भगवान बुद्ध कहतें हैं, उपादान वाले धर्मों में आस्वाद को देखकर विहार करते हुए तृष्णा बढती है[१९६]। इस तृष्णा के कारण ही व्यक्ति संसार में भ्रमण करता है, जिसने इसका निग्रह कर लिया उसका संसार में आवागमन नहीं होता स्वंय भगवान बुद्ध ने अपना अनुभव यों व्यक्त किया है -

'गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।

सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकुटं विसखंत।

विसंखारगतं चितं, तण्हानं खयमज्झगा[१९७]।

हे घर बनाने वाले (अर्थात तृष्णा) मैनें तुम्हें देख लिया, तुम अब घर न बना पाओंगे। तुम्हारी सब कडियां (बारह निदान) टूट गयीं, घर का शिखर (अविद्या) ढह गया, चित संस्कारों (कर्म)से रहित हो गया और तृष्णा का पूर्ण-क्षय हो गया। बुद्ध पुनः कहते हैं तण्हाय जायति सोको, तण्हाय जायति भय। तण्हायसो विप्पमुत्ततस्स, नत्थि सोको कुतो भय। अर्थात तृष्णा से ही शोक उत्पन्न होता है, और उसी से भय[१९८]। तृष्णा से मुक्त व्यक्ति के लिये शोक नहीं है, तो भय कहां (से होगा)? इस प्रकार स्पर्श के होने से तृष्णा होती है, प्रतीत्य समुत्पाद के इस छठे घटक के संबंध से विचार किया गया। अब इस सिद्धान्त की अगली कडी है।

तृष्णा के प्रत्यय से उपादान का होना

तृष्णा के होने से उपादान होता है इस सिद्धान्तवाक्य में 'उप' शद्ब अतिरेकार्थक है तथा 'आदान' शद्ब ग्रहणवाची है[१९९]। अपने से संबध्द आलंबन का अतिशय रुप से ग्रहण करने वाले धर्म 'उपादान' कहे जाते हैं[२००]। साधारणता आसक्ति का नाम तृष्णा है तथा अतिरेक से उत्पन्न होने वाली आसक्ति उपादान कहलाती है[२०१]। उपादान का अर्थ है इच्छा का दृढत्व[२०२]। मन में किसी विषय का दृढतापूर्वक गहण करना भी उपादान कहा जा सकता है। उपादान चार प्रकार का कहा गया है - कामोपादान, दृप्टयुपादान, शीलव्रतोपादान एवं आत्मवादोपादान[२०३]। इन उपादानों का स्वरुप संक्षेप में इस प्रकार है -

कामोपादान

मनोज्ञ रुपालंबन को देखते समय सर्वप्रथम तृष्णा का जन्म होता है। यह तृष्णा शनैः शनैः (बढते हुये) वृद्धि को प्राप्त करके कामोपादान के रुप में परिवर्तित हो जाती है[२०४]। यही बात शद्ब, गंध, रस, स्पर्श, एवं धर्म तृष्णा में भी लागू होती है।

दृष्टयुपादान

सभी प्रकार की दृप्टियां चाहे छोटी हो या बडी, दृढतापूर्वक ग्रहण करने से उपादान कहलाती हैं[२०५]। दस वस्तुवाली मिथ्यादृप्टि दृप्टिउपादान है[२०६]। ब्रह्मजाल सुत में वर्णित ६२ मिथ्यादृप्टियां[२०७] भी दृष्टयुपादान है। इन ६२ दृप्टियों में १८ मिथ्या धारणाएं जीवन और जगत संबंधी है और ४४ अन्त संबंधी। १८ मिथ्या धारणाओं को मुखतः निम्निलिखत ५ भागों में बांटा गया है - शाश्वतवाद, नित्यता-अनित्यतावाद, सान्त-अनंतवाद, अमराविक्षेपवाद और अकारणवाद। आत्मा संबंधी और लोक के अन्त संबंधी ४४ धारणाओं में १६ हेतुओं के आधार पर मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी (होशवाला) रहता है, अन्य ८ हेंतुओं के आधार पर मरणोपरान्त आत्मा असंज्ञी (बिना होशवाला) हो जाता है ऐसा मानते थे।

शीलव्रतोपादान

गोचरित-कुक्करचरित आदि नाना प्रकार के आचरणों को करने वाली भी दृष्टि ही है[२०९]। कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि इन गोचिरत आदि मिथ्याशील एवं मिथ्या व्रतों का पालन करने से देवभूमि, ब्रह्मभूमि आदि की प्राप्ति होगी। इस प्रकार मिथ्याशीलों को आधार मानकर लोग मिथ्या आचरण करते हैं। इस आचरण से गोव्रत का आचरण करने वाला गौ औरकुक्कुव्रत का आचरण करनेवाला 'कुक्कुर' होता है[२१०]। बुद्ध आदि कल्याण मित्रों की शरण न लेकर संसार से मुक्ति पाने के अभिलाषी कुछ मुमुक्षु जन 'हमारी सन्तान में अनेक पूर्वकृत अकुशल है और उन अकुशलों का अशेषफल इसी भव में भोग लेने पर और नये अकुशल कर्म न करने पर क्लेश धर्मो से शुद्धि एवं संसार से मुक्ति हो सकती हैं। ऐसा सोचकर उपरोक्त मिथ्याशीलों का पालन करते हैं[२११]'। गोव्रत का आशय है कि प्राकृत गो की तरह बिना वस्त्र के चारों हाथ, पैरों से चलना, उसी तरह खाना, पीना, मलमूत्र त्याग करना, वैसे ही शयन करना, यहां तक कि (कुछ लोग) कृत्रिम पूछं एवं सींग भी धारण करते हैं[२१२]। इसी प्रकार कुत्ते की भांति आचरण करना कुक्कुरशील[२१३] कहा गया है।

आत्मवादोपादान

ब्रह्मजालसुत में वर्णित ६२ दृष्टियों में ही कुछ ऐसा धारणाएं है जिन्हे सत्कायदृष्टि कहा जाता है। उनकी संख्या २० है[२१४]। इन्हीं को आत्मवादोपादान भी कहा जाता है[२१५]। नामरुपात्मक पंचस्कधों के अतिरिक्त आत्मा नामक एक स्वतंत्र पदार्थ है, ऐसी दृष्टि को आत्मवादोपादान कहते हैं। स्वभाव से ही अपने प्रति तृष्णा जन्य आसक्ति होने के कारण अपने पंचस्कंधात्मक अस्तित्व का आत्मा के एक स्वंतत्र रुप में ग्रहण होता है[२१६]। आत्म संज्ञा होने से परसंज्ञा भी होती है और उससे रागद्वेषादि नानाविध दोष प्रादुर्भूत होते हैं[२१७]।

उपादान के प्रत्यय से भवों का होना

अर्थात उपादान के होने से भव होता है। ऊपर हमने देखा कि तृष्णा के कारण उपादान होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की श्रृंखला में अगली कडी - उपादान के होने से 'भव' का होना। कर्म फल के रुप में 'भव' प्राप्त होता है यही (कर्म फल रुप होना) 'भव' का लक्षण है।उत्पन्न होना तथा उत्पन्न कराना इसका कार्य है[२१८]। 'भव' का अर्थ पुनर्जन्म को कारने वाला कर्म है। 'भव' दो प्रकार का होता है। कम्मभव तथा उत्पत्तिभव। कर्म ही भव है इसलिये कर्मभव है। वैसे ही उत्पत्ति ही भव है इसलिये उत्पत्ति भव है।

'भव' के दो प्रकार है, परन्तु सबका अंतर्भाव कामभव, रुपभव एवं अरुपभव में ही हो जाता है[२१९]। और हमारे प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ये तीन भव ही महत्वपूर्ण

हैं। इन पर कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रसंग में भूमियों के अनुसार विचार करेगें।

संस्कार एवं कर्मभव दोनों ही लौकिक कुशल एवं अकुशल में संप्रयुक्त (होनेवाली) 'चेतना' ही होते है परन्तु भवकाल भेद से उनमें भेद होता है[२२०] ।

प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव में फल प्राप्त करने के लिये अतीत भव में उत्पन्न चेतना को संस्कार कहते हैं। अनागत भव में फल प्राप्त करने के लिए इस भव में उत्पन्न चेतना कर्मभव है[२२१] । इस दृष्टि से विचार कर ने पर अतीत भव में उत्पन्न 'चेतना' जो 'वर्तमान-भव' की दृष्टि से 'कर्मभव' होती है, उसी 'चेतना' को 'संस्कार' कहा जाता है। वर्तमान भव में उत्पन्न होनेवाली २९ कुशलकुशल चेतनाओं को ही अनागत भव में फल प्राप्त करने की दृष्टि से कर्मभव कहा जाता है। अथवा यो कहा जा सकता है की 'कर्मभव' पुनर्जन्मकारी चेतना की ही संग्रहात्मक संज्ञा है।

ऊपर हमने यह देखा कि उपादान के होने से भव होता है। इसकी अगली कडी है - **भव के होने से जाति का होना।** जाति का तात्पर्य बच्चे के मां के गर्भ में आने पर रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञानरुप पचस्कंधो का प्रस्फुरण है अथवा इनके सर्वप्रथम उत्पाद को 'जाति' या प्रतिसंधि कहते हैं[२२२] ।जाति कर्मभव एंव उत्पत्तभिव दोनों भवों से प्रादुर्भूत होती है[२२३] ।

जाति के प्रत्यय से जरामरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य (एवं) उपायास का होना

जन्म के होने से ही जरामरणादि होते हैं। जरामरण द्विविधि प्रकार का होता है - प्रकट जरामरण[२२४] और अप्रकट जरामरण[२२५]। यदि जाति न हो तो 'जरामरण' की प्रक्रिया स्वतः समाप्त (अवरुद्ध) हो जाएगी[२२६] ।

शोक परिदेव दुक्ख दौर्मनस्य एवं उपायास

इनका स्वरुप संक्षेप में इस प्रकार है - अपनी ज्ञाति, सम्पति, गुण, श्री आदि के नाश से जो अनुपात होता है उसे 'शोक' कहते हैं[२२७] । जाति आदि के विनाश से जो विलाप होता है, उस विलाप की ध्वनि को 'परिदेव कहते हैं[२२८] । स्कंधपंचक में जो दुःख वेदना होती है, उसे दुःख कहते हैं। अप्रिय सम्प्रयोग, प्रिय-विप्रयोग इष्ट की असम्प्राप्ति एवं ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण, श्री आदि के विनाश से चित्त में उत्पन्न होने वाली दुःख वेदना को 'दौर्मनस्य' कहते हैं। शोक परिदेव से होनेवाले दुःख से भी तीव्रतर दुःखोत्पाद को उपायास कहते है[२२९] ।

इस प्रकार इस संपूर्ण दुःखस्कंध का समुदय होता है। इस रीति से पालि पिटकों में अविद्यादि कारण समूहों से दुःखस्कध की उत्पत्ति, हेतु एवं तर्क पुरस्करता बतलायी गयी है, तथा ईश्वर आदि कारणों को दुःख की उत्पत्ति

का हेतु नहीं माना गया है[२३०] ।

विशुद्धिमार्ग में प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त को समझाते हुए आचार्य बुद्ध घोष ने कहा है कि भगवान बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद की देशना चार प्रकार की है -

१. जैसे लता को लानेवाले चार व्यक्तियों में से एक (पहला) व्यक्ति लता की जड को ही पहले देखत है, वह उसे जड से काटकर सब खिंचकर ले काम में लगता है[२३२] । इसी प्रकार अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संसकार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरुप, नामरुप के प्रत्यय से षडातयन, पडातयन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेंदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा केप्रत्यय से उपादान, उपादान केप्रत्यय से भव, भव केप्रत्यय से जाति और जाति के प्रत्यय से जरामरण[२३३] तक को समझकर उसे (दुःख के कारणों को समझने के लिये) उपयोंग में लाता है। विशेप रुप से यह जो प्रारंभ से लेकर अंत तक अनुलोभ देशना है वह (संसार की) प्रवर्ति के कारण विभाग में मूढ हुए वैनेय जन को देखते, यथानुरुप कारणों से प्रवर्ति और उत्पत्ति-क्रम को दिखलाने के लिए हुई हे, ऐसा जानना चाहिए[२३४] ।

२. दूसरा व्यक्ति लता के बीच (वाले भाग) को पहले देखता है, वह बीच से काटकर ऊपरी भाग को ही खीचकर ले, काम में लाता है[२३५] । उसी प्रकार वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रतयय से जाति, जाति के प्रत्यय से जरामरण[२३६] यह देशना वर्तमान काल में भविप्यत काल के हेतु की उत्पत्ति और उस काल को दिखलाने के लिए की गयी थी[२३७] ।

३. तीसरा मनुष्य लता के सिरे को पकडकर सिरे के अनुसार उस लता की जड तक सब लेकर काम में लाता है[२३८] । इसी प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद की निरोध देशना को समझकर कोई साधक दुःखो का अंत कर सकता है। यह क्रम निम्नानुसार है- अविद्या के संपूर्ण विनाश से संस्कार का निरोध होता है। संस्कार के संपूर्ण विनाश से विज्ञान का का निरोध होता है,; नाम रुप के संपूर्ण विनाश से पडायतन का निरोध होता है, पडायतन का संपूर्ण विनाश होने से स्पर्श का निरोध होता है, स्पर्श का संपूर्ण विनाश होने से वेदना का निरोध होता है। वेदना का संपूर्ण विनाश होने से तृष्णा का निरोध हातो है। उपादान का संपूर्ण विनाश होने से भव का निरोध होता है, भव का संपूर्ण विनाश होने से जाति का निरोध होता है, जाति का संपूर्ण विनाश होने से जरामरण का निरोध होता है[२३९] । यह तीसरी देशना हैं जिन्हें '(द)' शद्ब से चिन्हांकित किया गया हे।

४. जो चतुर्थ व्यक्ति है वह लता को बीच में पकडकर जड तक काम में लाता है[२४०] । उसी तरह लता रुपी प्रतीत्य समुत्पाद की बीच की कडी को पकड कर अर्थात तृष्णा के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से षडायतन का निरोध, षडातयन के निरोध से नामरुप का निरोध, नामरुप

का निरोध हो जाने से विज्ञान का निरोध, विज्ञान का निरोध हो जाने से संस्कार का निरोध और संस्कार के निरोध हो जाने से अविद्या का निरोध हो जाता है[२४१]। यह चतुर्थ देशना आहार[२४२] के निदान के व्यवस्थापन के अनुसार भूतकाल तक को लाकर पुनः भूतकाल से लेकर; हेतुफल की परिपाटि को दिखलाने के लिए हुई है[२४३]। इसे '(इ)' शद्ब से अध्याय २ में अभिहित किया गया है।

'अविज्जा पच्चया संखारा से लेकर जाति पच्चया जरामरण तक कर्मो के कारण संसार-चक्र किन हेतुओं से किस प्रकार चलता है यह स्पष्ट किया गया है। इसी तरह 'अविज्जा पच्चया संखारा' इससे अविद्या एवं अविद्या जनित कर्मो के विपाक स्वरुप संस्कारों की उत्पत्ति होती है यह भी समझाया गया है।

'जाति पच्चया जरामरण' से लेकर अविद्या के प्रत्यय सं संस्कार तक जो प्रतिलोभ पद्धति से कारण परंपरा दिखलाई गई है, उसमें 'जाति' यह जरामरण का पूर्व कर्म भी है और कारण भी।

जो बीच से लेकर प्ररम्भ तक अर्थात् 'तण्हानिरोधा वेदना निरोधो' से लेकर अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है तक जो प्रतिलोभ देशना है, उसके अनुसार तृष्णा ही अतीत कर्मो का हेतु है और मूल है। तृष्णा से आरंभ करके अविद्या तक भूतकालींन कर्मो को आहार-निदान के अनुसार समझाया गया है। तृष्णा के कारण भूतकाल में कर्म किस प्रकार हुए थे इसे यहां अच्छी प्रकार समझाया गया है, साथ ही अविद्या से प्रारंभ करके तृष्णा तक अर्थात् अविज्जा पच्चया संखारा से लेकर वेदना पच्चया तण्हा तक भूतकालीन कर्मो की हेतु और फल व्यवस्था भी तीसरी देशना में दिखलायी गयी है।

बीच से लेकर अंत तक अर्थात 'वेदना पच्चया तण्हा' से जाति पच्चया जरामरण तक जो निरुपण किया गया है वह वर्तमान काल में भविष्यत कर्मो के हेतु की उत्पत्ति तथा भविष्य में होने वाले कर्मो का दिग्दर्शन कराता है। उपयुक्त चारों देशनाएं चक्र से भलीभांति स्पष्ट होती हैं। जिसे अगले पृष्ठ पर दिया गया है।

उपर्युक्त चार प्रकार की देशन की तरह इस प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त के एकत्तनय[२४४], नानतनय[२४५], अव्यापारनय[२४६] एवं एवधम्मतानय[२४७], इस प्रकार चार नय हैं। इन्हें समझ लेने पर उच्छेददृष्ट, शाश्वतदृष्टि, आत्मवाददृष्टि एवं अहेतुकदृष्टि आदि का क्रमशः नाश हो जाता है[२४८]।

उपर्युक्त पृष्ठों में प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त के व्याख्यान के माध्यम से कर्म की दृष्टि से विवचेन किया गया। ईश्वर कर्तृत्ववाद, आत्मवाद, अहेतुक दृष्टि एवं अक्रियादृष्टि आदि को भी कर्ममल से संपृक्ति के हेतु बताया गया है। इन सब दृष्टियों का निरसन भी प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त से होता है। अविद्या एवं तृष्णा

से कर्म, तथा भव-चक्र किस प्रकार उत्पन्न होता है, इसकी व्याख्या भी इसी सिद्धान्त से होती है। 'जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है'। ऐसा कहना शाश्वदवाद है। यह एक अति है, एवं दूसरा ही व्यक्ति कर्म करता है, सऔर उसका फल कोई अन्य व्यक्ति भोगता है, ऐसा कहना उच्छेदवाद है। यह दूसरी अति है। काश्यप यह प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त इन दोनों अतियों को छोडकर बिलकुल मध्य में स्थित है[२४९]।

कर्म के सिद्धान्त का अनिवार्य तौर पर यह अर्थ नही हैं कि उसे करने वाले को ही इसका फल अनिवार्यतः भुगतना पडता है, और इससे अधिक कुछ नहीं, ऐसा समझना भूल होगी। कभी कभी किसी कर्म को करनेवाले की अपेक्षा किसी अन्य को ही उसका फल भोगना पडता है परन्तु यह सब कर्मनियम की सीमा के अन्तर्गत ही आता है, उसके बाहर नहीं।

संदर्भ

१. मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्षा, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विकिचित्सा। दृष्टव्य, अभि.स. भाग १, पृ. १२३ ।

२. अट्ठसालिनी, पृ. २१० ।

३. अ.सं. भाग १, हि.भा., पृ. १२८ ।

४. वही। ५. विभावनी, पृ. ८२ ।

६. अट्ठसालिनी, पृ. २०८ ।

७. विशुद्धि भाग पृ. ३२८ ।

८. अभि.सं. हिन्दी भाषांतर १, पृ. १२८ ।

९. अन्योन्य द्वेष के कारण इन देवताओं के वर्ण आदि का नाश होते होते अंत में जीवनसंतति का भी उच्छेद हो जाता है और वे अपने लोक से च्युत हो जाते है दीघ नि. अट्ठकथा, (ब्रह्मजालसुत)।

१०. दीघ.नि., अट्ठकथा, (ब्रह्मजालसुत)।

११. मुय्हन्ति तेन, सय वा मुय्हन्ति, मुय्हन मतमेव वा तंत्ति मोहो। अट्ठसालिनी, पृ. २०१ ।

१२. अभि.सं. भाग १, पृ. १२८ ।

१३. वही, पृ. १२९ ।

१४. दुश्चरित धर्मो के दुंष्ठू (अशोभन अकुशल) स्वभाव, सुचरित धर्मो के सुष्ठू (शोभन कुशल) स्वभाव, दुःख सत्य (चार आर्य सत्य) आदि सत्यों के सत्स्वभाव, असीत भव एवं अनागतभव के अस्तिस्वभाव एवं प्रतीत्यसमुत्पाद स्वभाव आदि स्वभावों से इसका तात्पर्य है। दृष्टव्य अभि.स. पृ. १२४ देवधम्म

एवं रामशंकर त्रिपाठी का हिन्दी ग्रंथ।

१५. अभि.सं. भाग २, पृ. ८२८ ।

१६. भ.सि.उ., बौ.ध.त.अ.भा.द., पृ. ४०२ ।

१७. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. ८३ ।

१८. वही।

१९. वही।

२०. वही, पृ. ८२ ।

२१. धम्मसंगणि, पृ. १९५, पालि टैक्स्ट सोसायटी संस्करण।

२२. म.नि., सम्मादिट्ठी सुतन्त, १।१।९ ।

२३. आश्रव का अर्थ है चितमल।

२४. अ.नि., भाग ५, पृ. १३३ पा.टै.सो.स. । पूरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति, अविज्जाय, इतो पूब्बे अविज्जा ना होसी अथ पच्छा भ वति। विशुद्धिमग्ग, १७।३७, में उदधृत, मिलाइये मिलिन्दपन्हो का लक्खण पन्हो। पृ. ५३ ।

२५. अं.नि., भाग ५, पृ. ११६, पा.टै.सं

२६. विसुद्धीमग्ग, १७, ३६ ।

२७. संचेतना का अर्थ है संस्कार ।

२८. विसुद्धिमार्ग, भाग २,हि.भा. पृ. ४२, परि. १७ ।

२९. म.नि. सम्मादिटिठ सुतन्त, १।१।९ ।

३०. स.नि. भूमिजसुत्त (ख) १२.३.५ ।

३१. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. भाग १, पृ. ३७९ ।

३२. भ.आ.कौ., बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी अध्ययन, पृ. ६७ ।

३३. डॉ.राधाकृष्णन, भा. द. भाग १, पृ. ३७९ ।

३४. उद्धरण के लिए देखिए बौ.ध. के वि का इ., पृ. ८६, जी.सी. पाण्डे।

३५. डॉ. राधाकृष्णन, भा.द. भाग १, पृ. ३८३ ।

३६. वही।

३७. वही।

३८. वही।

३९. वही।

४०. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८३१ ।

४१. आसव ४ प्रकार के हैं। कामासव, दृष्टयासव, भवासव, एवं अविद्यासव - अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ८२९-३० ।

४२. विभंग अट्ठकथा, पृ. १३५ ।

४३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, १३७ ।

४४. सुगतिगामी कर्म का विशेष हेतु भवतृष्णा है एवं दुर्गतिगामी कर्म का विशेष हेतु अविद्या है, विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३८ ।

४५. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३७ ।

४६. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८३१ ।

४७. यहा संस्कार शद्व का अर्थ कुशलाकुशल कर्म ही प्रतीत होते है क्योंकि अ.स. भाग २, हि.भा. पृ. ८१४ में कहा गया है कि 'केवल अर्हत को ही तनुभूत अविद्या नहीं होती, उसके कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि संस्कार का अभिप्राय कुशलाकुशल बंधन रुप कर्मो से है।

४८. अ.स. भाग २, हिन्दी भा. पृ. ८३१ ।

४९. वही।

५०. भा.द. भाग १, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. ३७९ ।

५१. वही।

५२. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द. भाग १, पृ. ३९४ ।

५३. संस्कृत्त-संस्कार, अभिसंस्कृत-सस्कांर, अभिसंस्करण संस्कार एवं प्रयोगाभिसंस्कार ये चार प्रकार के संस्कार संस्कार शद्व से आये हुए है। विस्तृत विवेचन के लिये देखिये - विशुद्धिमार्ग, भाग २, हि.भा. पृ. १३९ ।

५४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३९ ।

५५. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३९ ।

५६. अ.स. भाग २, पृ. ८१५ ।

५७. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४२ ।

५८. वही।

५९. वही।

६०. वही।

६१. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३९ ।

६२. कामावचर का स्पष्टीकरण आगे किया जावेगा।

६३. विशुद्धिमार्ग भाग २, पृ. १५२ 1 ६४. वही।

६५. वही।

६६. वही।

६७. अ.सं. भाग २, पृ. ८१७ ।

६८. पट्ठानप्पकरण, भाग १ ।

६९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४४ ।

७०. वही।

७१. हेतुम्हि ञाणं धम्मपटिसाम्भिदा, वही, १७ । ३०६ ।

७३. पट्ठान, भाग १, पृ. २० ।
७४. अ.सं., भाग २, पृ. ९९८ ।
७५. पट्ठान, भाग १ ।
७६. अभि.सं.,भाग २, पृ. १००४ ।
७७. वही।
७८. विशुद्धिमार्ग, पृ. १४५ । ७९. पट्ठान भाग १।
८०. विशुद्धिमार्ग, पृ. १४५ ।
८१. अभि.सं. भाग २ पृ. १००५ ।
८२. अभि.स., भाग २, हि.भा., पृ. १००५ ।
८३. वही।
८४. वही।
८५. पट्ठान, भाग २ ।
८६. वही।
८७. अभि.स. भाग २, हि.भा., पृ. १०११ ।
८८. वही।
८९. वही।
९०. धम्मसंगणी।
९१. यो अनन्तरपच्चयो स्वेव समनन्तरपच्चयो, व्यञ्जनमेव हेत्थ नानं, पट्ठान अट्ठकथा, पृ. ३४६ ।
९२. जायती तिजातो, सहजातो सहजातो - अभि.सं., भाग २, पृ. १०१४ ।
९३. विशुद्धिमार्ग, पृ. १४७ ।
९४. वही।
९५. अभि.सं., भाग २, पृ. १०१७ ।
९६. वही।
९७. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४७ ।
९८. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४७ ।
९९. अभि.स.भाग २, हि.भा. पृ. १०१९ ।
१००. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. १०२७ ।
१०१. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४७ ।
१०२. आलंबन् - सामान्य आलंबन न होकर लोभनीय आंलबन (प्रीति प्रश्रब्धि आदि) के उत्पाद के लिए अत्यन्त रमणीय आलंबन आलंबनक चित्तों के उत्पाद के लिए महान कारण होते हैं - इसे ही आलंबनोपनिश्रय प्रत्यय कहा जाता है।
१०३. अनन्तर : प्रत्यय धर्म समूह ही पश्चिम २ चितों के उत्पाद के लिए अत्यन्त

आवश्यक निश्रय कारण होते हैं अतः अनन्तरूपनिश्रय कहलाते हैं।

१०४. प्रकृति - का अर्थ है अपने भीतर निष्पादित श्रद्धा, शील आदि । देखिए .. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४८, ऐसे ही स्वभावतः बलवान कारण को प्रकृति निश्रय कहा जाता है - अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. १०२७ ।

१०५. वही।

१०६. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. १०३२ ।

१०७. वही।

१०८. वही, पृ. १०३४ ।

१०९. पश्चातजातप्रत्यय - जैसे गृध्र पक्षी आहार की गवेषणा करके स्वयं ही खा लेते हैं, घोंसले में स्थित अपने शिशुओं के लिए आहार नहीं लाते, परन्तु वे शिशु आहार लाने की आशा से रहते हैं, उस आहार में की गई (रसतृष्णा) को ही आहाराशा कहते हैं। तथा इस आहाराशा से संप्रयुक्त चेतना 'आहाराशा चेतना' है। अपने आप स्वंय आहार खोजने में समर्थ होने के काल तक वे इसी आहाराशा चेतना के द्वारा बिना आहार के ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार यह आहारशा चेतना गृध्र शिशुओं के जन्म के पश्चात उत्पन्न होती है और भूख लगने पर केवल आहराशा-चेतना पर ही वे शिशु जीवित रहते हैं। यहा पश्चात जात चित - चैतसिकों में आनेवाली चेतना को ही आहाराशा - चेतना कहा गया है। विस्तृत विवेचन के लिए देखें - अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. १०३४ ।

११०. अ.स. भाग २, हि.भा. पृ. १०३७ ।

१११. आसेवन किसी एक ग्रंथ का अध्ययन करते समय प्रारंभ में कठिनाई होने पर भी पुनः पुनः पढने से व्यक्ति उसका अभ्यस्त हो जाता है, फिर उसे वैसी कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार कठिनाई न होने में पूर्व पूर्व अध्ययन पश्चिम पश्चिम अध्ययन को सुगम बनाने के लिए उपकार करता है, उसी प्रकार अपने अनन्तर अपने सदृश्य किसी एक धर्म के प्रबल होने के लिए उपकार करने में समर्थ शक्ति आसेवन शक्ति है एवं उसे ही आसेवन प्रत्यय कहा गया है। देखें, अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. १०३८ ।

११२. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४९ ।

११३. अ.स. भाग २, हि.भा. पृ. १०४० ।

११४. वही, पृ. १०४९ ।

११५. दीघ. नि., भाग ३, पृ. १७८, म.नि., भाग ३, पृ. ३२०-२१, मिलाइये विभंग, पृ. ४८१ ।

११६. अ.सं. भाग ३, पृ. ६८७ ।

११७. कौर कौर करके खाया जानेवाला आहार कवलीकार आहार है - परमथदीपनी,

११८. संपूर्ण चितों में सम्प्रयुक्त स्पर्श चैतसिक 'स्पर्शआहार' है- विभावनी, पृ. १६९ ।

११९. संपूर्ण चितों में संप्रयुक्त चेतना चैतसिक आहार है - विभागनी, पृ. १७० ।

१२०. संपूर्ण चितों को 'विज्ञान आहार' कहते हैं, विभावनी, पृ. १७० ।

१२१. अभि.सं., भाग २, पृ. १६ ।

१२२. वही, पृ. ६६२ ।

१२३. अभि.सं., भाग २, पृ. १०५१२ ।

१२४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, हि.भा. पृ. १५० ।

१२५. अभि.सं. भाग २, पृ. १०५१ ।

१२६. सपट्ठान अनु., पृ. २३६ ।

१२७. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १५० ।

१२८. सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वाणी, सम्यककर्मान्त, सम्यकआजीव, सम्यकव्यायाम, सम्यक्स्मृति, सम्यकसमाधि (आर्य अष्टांगिक मार्ग) एवं मिथ्यादृष्टि, मिथ्यासकंल्प, मिथ्याव्यायाम, मिथ्यासमाधि । दृष्टव्य, विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १५० ।

१२९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, हि.भा. , पृ. १५१ । वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान यह अरुपी स्कंध है, इन्हें ही नामस्कधं भी कहा जाता है। संप्रयुक्त में 'स' शद्व 'सम' (अविषम) अर्थ में तथा 'प्र' शद्व 'प्रकार' अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार धृत, मधु, शर्करा एव तैल - इन चारों पदार्थो को फेंटकर अच्छी तरह एकीभूत करके चतुर्मधु बनाते हैं, उसमें 'यह धृत का रस है, यह मधु का रस है - उसी प्रकार ४ नामस्कधं भी जब सहोत्पन्नन होते हैं, तब वे इतने समीकृत होते हैं कि यह 'विज्ञानस्कंध' का स्वभाव है, यह वेदना स्कंध का स्वभाव है इत्यादि प्रकार से नहीं जाना जा सकता। दृष्टव्य, अभि.सं., भाग २, पृ. १०५२ ।

१३०. अभि.सं. भाग २, पृ. १०५२ ।

१३१. वही, भाग २, पृ. १०५३ । १३२. विशुद्धिमार्ग, भाग २,

१३३. अ.सं. भाग २, पृ. १०५६ ।

१३४. पट्ठान अट्ठकथा, पृ. ३५१ ।

~~१३५.~~ जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक अंधेरे के लिये अवकाश प्रदान करता है, उसी तरह अपने स्वभाव के पश्चात (उत्पन्न) होनेवाल धर्मो को उत्पन्न होने के लिये उपकार करना नास्तिप्रत्यय है। नास्ति का स्वभाव अपने निरोध के पश्चात शून्यतामात्र है, देखें, पट्ठान, मूल टीका, पृ. १७५ ।

१३६. अभि.सं. भाग २, पृ. १०५८ ।

१३७. जिस प्रकार सूर्य की किरणों का निरुद्ध होना चन्द्रमा को प्रकाशित होने के लिये उपकार करता हैं, उसी तरह अपने निरोध द्वारा पीछे पीछे के धर्मो को अवकाश दे. , उपकार करना विगत प्रत्यय है। विगत का स्वभाव निरुद्ध हो ना मात्र है। द्र. अभिधम्मत्थसंगहो, भाग २, पृ. १०५८ ।

१३८. वही।

१३९. वही।

१४०. वही।

१४१. वही।

१४२. धम्मांन हि सतिविसेसे या थावतो अभिसंबुज्झित्वा तथागतेन चतुवीसति पच्चयविसेसा वुत्ताति भगवति सद्धाय एवं विसेसा एते धम्मा ति सुतमज्जाणं उप्पादेत्वा चिन्ता भावनामयेहि तदमिसमयाय योगो कातव्बो। पट्ठान, पृ. १७५।

१४३. म.नि., भाग १, ४।३ ।

१४४. विशुद्धिमार्ग, भाग १, हि.भा. पृ. ६९ ।

१४५. विशुद्धिमार्ग, भाग १, हि.भा. पृ. ६९ ।

१४६. वही, पृ. ७० ।

१४७. वही, पृ. ७१ ।

१४८. वही, पृ. ७३ ।

१४९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १४२ ।

१५०. वही ।

१५१. वही। अ.सं. भाग २, पृ. ८१९ ।

१५२. वही।

१५३. वही।

१५४. वही।

१५५. वही, पृ. ८१८ ।

१५६. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. ७३ ।

१५७. 'भवतो भवस्स पटिसन्दहन पाटिसन्धकिच्च' विभावनी, पृ. ९५ ।

१५८. 'तस्मा ततो निब्बत भवतो चतुस्स अन्तरा रवणमतं पि अठत्वा लद्धोकासेन एकेन कम्मेन पून भवन्तरादिपटिसन्धानवसेन अभिनिब्बति पटिसन्धिकिच्चं। परमत्थदीपनी, पृ. १०४ ।

१५९. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. २२५ ।

१६०. अ.सं. भ.आ.कौ. पृ. ३५ ।

१६१. अ.सं. भाग १, हि.भा. पृ. २२६ ।

१६२. अ.सं. भ.आ. कौ. पृ. ३५ ।

१६३. वही।

१६४. वही।

१६५. 'सन्तीरणानन्तरं पन तमेव विसयं ववत्थापयमाना उप्पज्जति किरीयाहेतुक मनोविञ्ञाण धातु उपेक्खासहगताति - एवं एकस्सेव किरियाविञ्ञाणस्स वोट्ठप्पनवसेन पवति वेदितब्बा। विशुद्धिमग्ग, पृ. ३२० ।

१६६. मिलिन्दपन्ह, पृ. ५१ ।

१६७. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ. पृ. ८५ ।

१६८. वही, पृ. ८६ ।

१६९. भ.बु.औ.उ.घ. पृ. २०६ ।

१७०. हिन्दी भाषांतर, पृ. १६८, भिक्षु धर्मरक्षित।

१७१. हिन्दी भाषांतर, पृ. ८२० ।

१७२. विज्ञान के प्रत्यय से 'नामरुप' इस प्रकार 'विज्ञान' यह नाम रुप का कारण -पक्ष हो जाता है क्योंकि विज्ञान के कारण से नामरुप का होना है इसलिये इस संदर्भ में विज्ञान को नामस्कंध में समाविष्ट नहीं किया गया है।

१७३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १६८ ।

१७४. अभि.स. भाग २, पृ. ८२० ।

१७५. वही।

१७६. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृ. ८० ।

१७७. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. ९७ ।

१७८. गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृ. १५२।

१७९. मिलिन्द प्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृ. ७४ ।

१८०. अं.नि. हिन्दी अनुवाद, भाग ३, पृ. १११ ।

१८१. मिलिन्द प्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृ. ८७४ ।

१८२. वही।

१८३. संनि.भाग २, १२.३.३ में कहा गया है कि 'छयिमें भिक्खवे वेदना काया - चक्खुसम्फस्सजा, वेदना, सोतसम्फस्सजा वेदना, घाण सम्फस्सजा वेदना, जिव्हासम्फस्सजा वेदना, कायसम्फस्सजा, वेदना, मनोसम्फस्सजा वेदना।

१८४. अ.सं. भाग २ , हि.भा. पृ. ८२१ ।

१८५. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८२१ ।

१८६. अ.सं. भ.आ.कौ. हि.भा., पृ. ३३ ।

१८७. वही।

१८८. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १७७ ।

१८९. वही।

१९०. वही।

१९१. वही।

१९२. अभि.स. भाग २, पृ. ८२२ ।

१९३. अं.नि. ०।२।२ ।

१९४. देखें, विशुद्धिमार्ग भाग २ पृ. १३८

१९५. विशुद्धिमार्ग (हिन्दी) भाग २, पृ. १३८ ।

१९६. सुयंक्त निकाय, १२।६।५ ।

१९७. धम्मपदं ११।१५४ ।

१९८. धम्मपदं, १६।२१६ । १९९. अभि.स. भाग २, पृ. ८२२ ।

२००. वही।

२०१. वही।

२०२. विशुद्धिमार्ग, हिन्दी भाषांतर, भाग २, पृ. १७९ ।

२०३. अभि.स. भाग २, पृ. ८२२ ।

२०४. अभि.स. भाग २, पृ.८२३ ।

२०५. वही।

२०६. विशुद्धिमार्ग, भाग २, हिन्दी भांषातर पृ. १७९ ।

२०७. दृष्टियों के विस्तार के लिए देखें, दी.नि. भाग १, ब्रह्मजालसुत।

२०८. न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप का अच्छा बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न देवता है, लोक में सत्य तक पहुंचे श्रमण ब्राह्मण नहीं है।दीघनि. १/२ सामञ्ञफलसुत्त

२०९. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८२५ ।

२१०. इध, पुण्ण, एकच्चों, कुक्कुरवत भावेति परिपुण्ण अव्बोकिण्ण, कुक्कुरसीलं... कुक्कुरचित्तं ... कुक्कुराकप्पं ... अव्बोकिण्णं कायस्सभेदा परंमरणा कुक्कुरानं सहव्यतं उपपज्जति। सचे खो पनस्स एवंदिट्ठि होति - इमिनाहं सीलेन वा वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा देवो वा भविस्सामि देवञ्ञनतरो वाति सास्स होति मिच्छादिट्ठि । मिच्छादिट्ठस्स खो अहं पुण्णं, दिन्नं गतिन अज्जतंर गति वदामि - निरयं वा तिरच्छानं - योनिवा। इति खो पुण्ण, सम्मपज्जमानं कुक्कुरवतं कुक्कुरानं सहव्यतं उपनेति, विपज्जमान निरयति। यही बात गोसील के संबंध में भी कही गई है।

२११. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ७३८ ।

२१२. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ७३८ ।

२१३. वही।

२१४. विभंग, भाग २ ।

२१५. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १७९,

२१६. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८२३ ।

२१७. वही।

२१८. विशुद्धिमार्ग भाग २, पृ. १४० ।

२१९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १८१ - कामभव, रुपभव, अरुपभव, संज्ञीभाव, असंज्ञीभाव, नैवसंज्ञानसंज्ञीभव, एकवोकार, चतुवोकार तथा पंचवोकारभव । ये ही नौ प्रकार के भव कहे गये हैं।

२२०. अ.सं. भाग २, पृ. ८२४ ।

२२१. वही।

२२२. अभि.सं. भाग २, पृ. ८२४, विभंग, पृ. १७५ ।

२३३. विभंग, पृ. १९१ ।

२२४. जो जरामरण प्रकट रुप से अनुभव में नहीं आता वह 'अप्रकट जरामरण' कहलाता हैं। विपाक, नाम एवं कर्मज रुपों का स्थितिकाल 'जरा' तथा उनका भंगकाल 'मरणक्षण' कहा जाता हे, किन्तु ये स्थितियां प्रकट रुप से अनुभव में नहीं आतीं।

दांतो के गिरने, वालों के पकने एवं त्वचा में झुरी आ जाने आदि को 'प्रकटजरा' कहतें हैं तथा जीवन के अंतिम काल में इस जन्म के लिए कर्मों के विपाक तथा नामरुपात्मक देह के च्युतिकाल को प्रकट मरण कहते हैं।

अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८२६ ।

२२५. वही। २२६. वही, पृ. ८२७ ।

२२७. दी.नि. भाग २, पृ. २२८ ।

२२८. वही।

२२९. वही।

२३०. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८२८ ।

२३१. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३६ ।

२३२. वही।

२३३. म.नि.१।४।८ ।

२३४. डॉ. धर्मरक्षित, विशुद्धिमार्ग, भाग २, १७, पृ. १३७ ।

२३५. डॉ. धर्मरक्षित, विशुद्धिमार्ग, भाग २।१७, पृ. १३७ ।

२३६. सं.नि. १।४।८ ।

२३७. विशुद्धिमार्ग भाग २।१७, पृ. १३७ ।

२३८. डॉ. भिक्षुधर्मरक्षित, विशुद्धिमार्ग, भाग २।१७, पृ. १३७।

२३९. संयुक्त निकाय, भाग २, निदान संयुक्त ।

२४०. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, विशुद्धिमार्ग, भाग २।१७, पृ. १३७ ।

२४१. संयुक्त नि. १२।१।१० ।

२४२. कवलीकर आहार, स्पर्श आहार, चैतसिक आहार एवं विज्ञान आहर। इन

पर चतुर्थ अध्याय में विचार किया गया है।

२४३. विशुद्धिमार्ग,२ डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित

२४४. संतानं सन्तति निरंतर अविच्छिन्न रुप से प्रवाहमान होती रहती है, ऐसा जानने वाले नय को एकत्वनय कहते हैं। बीज से क्रमशः अंकुर वृक्ष आदि के उत्पन्न होने के समान संतति का उच्छेद न हो ॥ एकत्वनय है, इससे उच्छेददृष्टि नष्ट हो जाती है। विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १९१ ।

२४५. संतान संतति के अविच्छिन्न रुप से प्रवृत्त होने पर भी अविद्या, संस्कार आदि धर्म अपने स्वभाव एवं लक्षण से भिन्न भिनन होते हैं, इस प्रकार जानने वाले नय को नानात्वनय कहते हैं। इसके अनुसार अविद्या एवं संस्कारों, संस्कार एवं विज्ञान, तथा अन्य प्रतीत्य समुत्पाद धर्मो का भेद जानकर नये नये कारणों से नवीन नवीन कार्य उत्पन्न होते हैं, यह ज्ञान होता है, फलतः 'धर्म नित्य हैं' इस प्रकार की शाश्वत दृष्टि अपने आप नष्ट हो जाती है। अभिधम्मत्थसंगहो, भाग २, पृ. ८३२ ।

२४६. अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति में 'मै संस्कार उत्पन्न करुंगी' ऐसा कोई संकल्प रुप व्यापार अविद्या में नहीं होता।अन्य कार्य धर्मो की उत्पत्ति में भी उनके कारण (धर्म) समूह में कोई चेतन व्यापार नहीं होता। इसी को अव्यापार नय कहते हैं। इस नय के अनुसार कारण एवं कार्य धर्मो के अपूर्वापर उत्पाद का सम्यक ज्ञान हो जाने से 'इस संसार और सत्वों का निर्माण नित्य-ईश्वर आदि के द्वारा किया जाता है' इस प्रकार का ईश्वर निर्माणवाद तथा 'अपने स्कंध के अंतर्गत उन उन कर्मो को करनेवाला आत्मवाद भी अपने आप निवृत्त हो जाता है। अभि.सं. भाग २, पृ. ८३२ ।

२४७. अविद्या आदि कारणों से संस्कार-आदि कार्यो की उतुपत्ति को ही धर्मता कहा गया है। इस प्रकार जाननेवाले नय को एवं धम्मतायन कहते हैं। दुग्ध से दही, तिल से तेल या इक्षु से इक्षुरस का उत्पाद "धर्मता' है तथा दही (सिकता) से तैल का उत्पाद न होना, इक्षु से दुग्ध का उत्पाद न होना - आदि भी धर्मता है। उसी प्रकार अविद्या से संस्कार की ही उत्पत्ति, संस्कार की भी अविद्या से ही उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य की अनुत्पत्ति, असम्बद्ध कारणों से असम्बद्ध कार्य की अनुत्पति आदि भी 'धर्मता' है। इस रीति से विचार करने पर 'कोई भी धर्म बिना संबद्ध कारण के उत्पन्न नहीं होता 'ऐसे सहेतुकवाद के ज्ञान से 'बिना कारण उत्पाद होता है', ऐसी अहेतुकदृष्टि तथा 'कुशल-अकुशल कर्म करने पर भी वे 'अकृत' (के समान) निरर्थक होते हैं, ऐसी अक्रिया दृष्टि भी अपने आप नष्ट हो जाती है। अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ८३८, विशुद्धिमार्ग, भाग , पृ. १९१ ।

२४८. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १९१ ।

२४९. सो करोति सो पटिसंवेदयाति तिखो, कस्सप आदितो सतो सयं कतं दुक्खं ति वदं सस्सतं एत परेति। अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयाति नि खो कस्सप वेदनाभितुन्नस्स सतो 'परकतं दुक्खं' ति इतिवदं उच्छेद एतं परेति। एते ने कस्सप, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेनि। अविज्जा पच्चचयासंञोरा संखारा, संखारा पच्चया विञ्ञाण पे. एवमेतस्स केवलस्स दुःखवखन्धस्स समुदयोहोति अविज्जायं त्वेञ्ञ असेस विरोग निरोधा संखार निरोधा .... एवमेतस्स केवलस्स, दुःखवखन्धस्स निरोधो होति।

२५०. वही, अचेलकसुत भी।

■□■□

पंचम अध्याय

कर्म के भेद, दशाएं एवं विपाक

अध्याय ३ में कर्म के कायिक, वाचिक, मानसिक इन तीन कारणों के आधार पर तथा पुनः प्रत्येक कर्म के पीछे रहने वाले लोभ, द्वेष, मोह तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह इन छह हेतुओं के आधार पर कर्मो के इन छह भेदों का कुशल अकुशल एवं अव्याकृत इस प्रकार विवेचन किया गया।

अब किये हुए कर्मो के द्वारा इसी जन्में में अथवा आगामी जन्म में अन्य कर्मो के ऊपर पडने वाले प्रभावों के आधार पर, कृत्य के आधार पर एवं विपाक देने वाले कर्मो के पर्याय, विपाक काल तथा विपाक स्थान के आधार पर विवेचन किया जाना आवश्यक है। ये सभी कर्म कुशल तथा अकुशल दोनों प्रकार के होते हैं। परन्तु यहां उन कुशल-अकुशल हेतुओं को प्रधानता न देकर, उपयुक्त दृष्टियों से विवेचन किया गया है। उन सब का प्रारंभ में उल्लेख मात्र करके प्रथमतः कर्म की दशाओं एवं कर्म विपाक पर विचार करें।

कर्मो के प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं -

अ) कृत्य की दृष्टि से चार भेद -

१. जनक कर्म - प्रतिसन्धि का कारण होनेवाला कर्म [१] ।
२. उपत्थम्भक कर्म - प्रतिसन्धि का सहायक कर्म [२] ।
३. उपपीडक कर्म - दूसरे कर्मो को दबाकर स्वयं फल देनेवाला कर्म [३] ।
४. उपघातक कर्म - अपने बल से दूसरे दुर्बल कर्मो को निपिद्ध करके स्वंय फल देने वाला कर्म [४] ।

आ) पाक-दान की दृष्टि से चार भेद -

५. गरुक कर्म - मातृहत्या आदि भयानक अकुशल कर्म [५] ।
६. आसन्न कर्म - जिसका मरने के समय स्मरण आये [६] ।
७. आचिण्ण कर्म - लगातार किया गया कर्म [७] ।
८. कट्टताकर्म - किया जाने वाला मात्र होने से कर्म [८] ।

इ) पाक-काल की दृष्टि से चार भेद -

१. दिट्ठधम्मवेदनीय कर्म - इसी जन्म में फल देने वाला कर्म [९] ।

२. उपपज्जवेदनीय कर्म - अगले जन्म में फल देनेवाला कर्म [१०] ।

३. अपरापरवेदनीय कर्म - अगले जन्म के बाद किसी अन्य जन्म में फल देने वाला कर्म [११] ।

४. अहोसिकर्म - फल न देनेवाला कर्म [१२] ।

ई) पाक स्थान की दृष्टि से चार भेद -

५. अकुशल कर्म - जिसका फल 'अपाय-भूमि' में मिलता है [१३] ।

६. कामावचर कुशल कर्म - जिसका फल कामसुगति-भूमि में मिलता है[१४]।

७. रुपाचर कुशल - जिसका फल रुपी ब्रह्मलोक में मिलता है[१५] ।

८. अरुपावचर कुशल - जिसका फल अरुप लोक में मिलता है[१६] ।

अंतिम चार प्रकार के कर्मो का विवेचन तीसरे अध्याय में किया जा चुका हैं। यहा कर्म के शेष १२ भेदों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

जनक कर्म -

यह कुशल एव अकुशल दोनों प्रकार का होता है१७ । प्रतिसन्धिकाल में (आगामी जन्म) एवं प्रवृतिकाल (वर्तमान जन्म) में रुप-अरुप[१८] (एवं काम) विपाक विपाक-स्कंधो (भवों) को उत्पन्न करने में समर्थ [१९] कुशल तथा अकुशल चेतना को ही जनक-कर्म[२०] कहा जाता है।

उपष्टंभक कर्म

जनक कर्म एवं उससे उत्पन्न विपाक का उपष्टंभ करनेवाली (अविलंब देनेवाली) चेतना उपष्टंभक-कर्म[२१] है। जैसे कि अनेक अपराध करनेवाले मनुष्य को किसी एक अपराध में पकडे जाने के बाद उसके पूर्वकृत अनेक अपराधों द्वारा उपष्टभन करने से गरुक अप्रराध के लिए तदनुसार कठोर दण्ड दे दिया जाता है[२२] । इस प्रकार के कर्म को उपष्टंभक-कर्म कहा जाता हे।

उपपीडक कर्म

अन्य कर्मो से प्राप्त प्रतिसन्धि के उपरान्त किन्हीं अन्य कर्मो की विपाक दशा आने पर जो तज्जन्य सुखदुःख को बाधित कर देता है, और बहुत समय तक प्रवर्तित होने नहीं देता[२३], उसे उपपीडक कर्म कहते हैं[२४] । जिस प्रकार उगे हुए वृक्ष को तलवार-आदि से काट देने पर उसकी स्कंध, शाखा आदि उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार दूसरे कर्मो के द्वारा उत्पन्न विपाक-संतति को पूरी शक्ति

के साथ उत्पन्न न होने देने के लिये उपपीडक कर्म उपपीडन करते हैं (बाधा डालते) हैं[२५] । मनुष्य स्कंध (मनुष्य शरीर) प्राप्त होने पर प्रवृत्तिकाल में, अकुशल कर्मो द्वारा (उसके कुशल कर्मो का) उपपीडन होने से राग-आदि होना तथा ज्ञाति, गुण एवं शरीरी सम्पत्तियों के नाश से दौर्मनस्य आदि का उत्पन्न होना, यह सब व्यक्ति के अकुशल कर्म के द्वारा कुशल कर्म-विपाक का अस्थायी रुप से मर्दन (अवरोध) किये जाने से होता है।

उपघातक कर्म

यह कर्म अन्य कर्मो एवं उनके फलों का उपपीडन मात्र न करके उनका समूल उपघात करता है[२६] । उपपीडक कर्म अन्य कर्मो का उपपीडन करते समय उनका तत्काल (वर्तमान काल में) फल न देने के लिये उपपीडन करता है, अनागत के लिए नहीं । किन्तु उपघातक कर्म अनागत काल में भी विपाक दशा में आने वाले कर्मो का समूल उपघात (विघात) अर्थात समूलोच्छेद कर देता है[२७] ।

गरुक कर्म

गरुक कर्म के कुशल, अकुशल नामक दो भेद है। कुशल गरुक कर्म को महग्गत तथा अकुशल गरुक कर्म को आनन्तर्य कर्म कहा जाता है[२८] । इनमें से महग्गत कर्म प्रथम विपाक देता है[२९] ।

विपाक की अपेक्षा से गुरु होनेवाले कर्म को (गरुक कर्म) कहा जाता है[३०] ।

आनन्तर्य गरुक कर्म के पाचं भेद किये गये है। यथा -

मातृघातक, पितृघातक अर्हतघातक, लोहितोत्पादक एवं संघभेदक।

मातृघातक तथा पितृघातक

जिस चेतना से प्रेरित होकर माता या पिता का घात किया जाता है, उस चेतना को ही मातृघातक या पितृघातक कर्म कहते हैं[३१] । माता-पिता को जानकर अथवा न जानकर मारने की इच्छा से जब घात किया जाता है जो वह घात चेतना अथवा अन्य किसी पुरुष को लक्ष्य करके गोली या तीर मारने पर यदि वह गोली या तीर लक्ष्यभ्रष्ट होकर माता पिता को लग जाते हैं और उससे माता पिता का घात हो जाता है तो यह भी आनन्तर्य कर्म के अन्तर्गत कर्म होता है[३२] ।

अर्हतघातक

जिस प्रकार की चेतना से अर्हत का घात किया जाता है, उस चेतना को ही अर्हतघातक कर्म कहते हैं[३३] ।

लोहितोत्पादक

बुद्ध के शरीर से लोहित उत्पाद करनेवाली चेतना को लोहितोत्पाद कर्म कहते हैं[३४]।

संघभेदक

जिस चेतना से संघभेद का दुष्कृत्य कराया जाता है या किया जाता है उस चेतना को ही संघभेदक कर्म कहते हैं[३५]।

भिक्षुओं को परस्पर लडा देना[३६] एक ही सीमा में परस्पर विरुद्ध दो भिक्षु संघो के एक के बाद एक उपासेक्ष आदि कर्म करना या निकाय भेद करना संघभेदक कर्म नहीं कहा जाता। इन संघ भेदक कर्मो में गृहस्थ या श्रामणेर निमित्त या प्रेरक जो हो सकते हैं, परन्तु ऐसा करने वाले स्वयं भिक्षु ही हों सकते हैं[३७], गृहस्थ या श्रामणेर नहीं। अंतः इन कर्मो का दोष गृहस्थ या श्रामणेरो को नहीं भिक्षुआं को ही लगता है।

आसन्न कर्म

जीवन में जो कुशल और अकुशल कर्म किये जाते हैं, वे प्रायः याद नहीं रहते किन्तु मरणासत्र काल में उनका स्मरण हो आता है, ऐसे कर्मो को आसत्र कर्म कहते हैं[३८]। कुछ लोग मरणासन्नकाल में धर्म श्रवण या पूजा पाठ करते हैं, या कुछ लोग लडाई झगडा मारपीट करते हुए मर जाते हैं, उनके धर्म श्रवण, मारपीट आदि कर्म भी आसत्र कर्म हैं[३९]।

आचिण्ण कम्मं

जिस कर्म को बारबार करके बढाया जाता है वह कर्म आचिण्ण है[४०]। ये कुशल तथा अकुशल दोनों[४१] तरह के हो सकते हो[४२]।

(कट्टताकर्म) कृतत्वात कर्म

किया हुआ कर्म ही 'कट्टाताकर्म' कहलाता है[४३]। पूर्व पूर्वभव की कर्मचेतना एवं इस भव में गरुक, आसत्र एवं आचिण्ण की अवस्था में न पहुंचा हुआ तथा सामान्य रुप से किया हुआ निरुद्दिष्ट कर्म कट्टताकर्म कहलाता है[४४]।

आगामी (द्वितीय) भव में प्रतिसन्धि फल देने के लिये वार या क्रम के रुप में चार कर्म होते हैं यथा - गरुक, आसत्र एवं आचिण्ण तथा कट्टताकर्म। यह चारों कर्म करने वाले पुदगल को द्वितीय भव में गरुक कर्म सर्वप्रथम फल देगा। उसके न होने पर अर्थात केवल (आसत्र, आचिण्ण एवं कट्टता कर्म) इन तीन के होन पर आसत्र कर्म पहले फल देगा। यदि आचिण्ण एवं कट्टता यह दो ही कर्म होगे तो आचिण्ण कर्म पहले फल देगा। ऊपर के तीनों ही कर्म न होने पर कट्टताकर्म फल देता[४५]।

विपाक काल के अनुसार कर्मों के चार भेदों का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

दृष्ट धर्म वेदनीय

कर्म का अर्थ है जिस भव में कर्म किया गया है, उसी भव में अर्थात वर्तमान जन्म में किये गये कर्मों का वर्तमान जन्म में ही फल् देनेवाला कर्म। इसके दो भागो में विभाजित किया गया है, - परिपक्व एवं अपरिपक्व। यदि एक सप्ताह के भीतर कर्म अपना फल देता है जो उसे परिपक्व - दृष्ट धर्मवेदनीय कर्म कहा जाता है, और एक सप्ताह के अनन्तर फल देता है तो वह अपरिपक्व दृष्टधर्मवेदनीय कर्म कहा जाता है[४६]।

उपपद्य वेदनीय कर्म

आगामी भव में विपाक देनेवाला कर्म उपपद्य वेदनीय कर्म कहलाता है[४७]।

अपरापर वेदनीय कर्म

इस प्रकार का कर्म अनिश्चित भविष्य में फल देता हे, परन्तु देता है अवश्य[४८]।

अहोसि कर्म

अहोसि कर्म नाहोसि कम्माविपाको अहोसि कम्मं नत्थि कम्मिवपाको अहोसि कम्मं न भविस्सति कम्मविपाको[४९]। अर्थात इस अहोसि कर्म द्वारा न तो (भूतकाल में) फल दिया गया है, न (वर्तमान में) में दिया जा रहा है और न (भविष्य में) दिया जावेगा।

प्रत्युत्पन्न भव में दृष्ट धर्म फल देने वाले अनेक कर्म किये जाते हैं, तो उनमें से जो सबसे प्रबल कर्म है, वह अपना फल देता है। शेष कर्म फल नहीं देते। अहोसि कर्म होते हैं[५०]। अहोसि - कर्म अन्य सबल कर्मों द्वारा बाधित होने के कारण अपना फल नहीं दे पाते[५१]। अर्हत व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों को भी अहोसि-कर्म कहा गया है, क्योंकि उनके सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये गये होते हैं। अतः अर्हतो के चित में केवल क्रिया भर होती है, उसका आगे के लिये विपाक नहीं बनता[५२]।

विपाक स्थान के अनुसार कर्म की दशाओं का विचार तीसरे अध्याय में कर्मो के विभाजन के प्रसंग में कर आये हैं। उसकी पुनरुक्ति की यहां आवश्यकता नहीं।

कर्म एवं मृत्यु

उपर्युक्त प्रकार से कर्म के अलग अलग भेदों का विवेचन करने के उपरान्त 'कर्म एवं मृत्यु' के संबंध में विचार करना आवश्यक है।

मनुष्य के जन्म के साथ कर्म का अनिवार्य सबंध है। जन्म के पश्चात मृत्यु होना ध्रुव है। अतः मृत्यु के साथ भी कर्म का संबंध अनिवार्य रुप से जुडा हुआ है।

पालि पाड्मय में व्यक्ति की मृत्यु के निम्नलिखित चार कारण बतलाये गये है -

आयुक्षय, कर्मक्षय, उभयक्षय (कर्म एवं आयु) तथा उपच्छेदक कर्म[५३] ।

आयुक्षय

पालि वाङ्मय में कामावचर, रुपावचर आदि भूमियों में कर्मानुसार होनेवाले पुनर्जन्मों के विवेचन के प्रसंग में विविध योनियो में जन्म ग्रहण करने वाले प्राणियों की साधारण आयु दी गई है। मनुष्य भूमि में अधिक से अधिक आयु असंख्येय कल्प एवं कम से कम दस वर्ष होती है[५४] । कामावचर आदि भूमियों की स्थिति के अनुसार 'नियत आयुप के पूर्ण होने पर जो मरण होता है, वह आयुक्षय मरण कहलाता है[५५] ।

कर्मक्षय

प्रतिसन्धि रुप फल देने वाले कर्मों को जनक[५६] - कर्म एवं उनकी विपाक भूत स्कंध संतति को लम्बे समय तक स्थित रखने के लिए उपष्टंभ करने वाले कर्मो को उपष्टंभक कर्म कहा गया है[५७]। निश्चित आयु प्रमाण होने पर भी पूरे समय तक जीवित न रहकर किसी की बीच में ही मृत्यु हो जाती है। जैसे - सामान्य आयु प्रमाण १०० वर्ष होने पर भी यदि किसी व्यक्त के कर्म केवल५० वर्ष पर्यन्त ही स्कंध संतति का उपष्टंभ कर पाते हैं, तो आयु अवशिष्ट रहने पर भी ५० वर्ष में ही मृत्यु हो जाती है[५८] । इस प्रकार की मृत्यु को कर्मक्षय से होनेवाली मृत्यु कहा गया है।

उभयक्षय

आयुष एवं कर्म दोनों के एक साथ क्षय होने से जो मृत्यु होती है उसे उभयक्षय मृत्यु कहा गया है[५९] ।

उपच्छेदक कर्म

किसी भी प्रकार के पूर्वकृत कर्मों का जो कर्म छेदन अथवा समूल उच्छेदन करते है, उन्हें उपच्छेदक कर्म कहा गया है। तथा आयुप्रमाण एवं कर्मशक्ति (उपष्टंभ कर्म)

दोनों के विद्यमान रहने पर भी, पूर्वभव या इसी भव में किये हुए कर्मों के करने से जब च्युति होती है तो उस च्युति (मृत्यु) को ही उपच्छेदक कर्म - च्युति (मरण) कहते है[६०] ।

उपर्युक्त चार प्रकार के मरण को दीपवर्तिका के दृष्टान्त से समझाया गया है

१. प्रज्वलित दीपक का वर्तिका के क्षय से स्वाभाविक निरोध होता है यह आयु क्षय मरण का दृष्टान्त है।
२. तैल के क्षय से दीपक का निरोध होता है यह कर्मक्षय मरण का दृष्टान्त है।
३. वर्तिका एवं तैल दोनों के क्षय से दीपक का निरोध होता है यह उभयक्षय मरण का दृष्टान्त है।
४. वर्तिका एवं तैल, दोनों के क्षय न होने पर भी वायु या किसी अन्य निरोध (निर्वाण, बुझना) होता है, वह उपच्छेदक कर्म से होनेवाली मृत्यु का दृष्टान्त है[६१] ।

उपर्युक्त चार कारणों में से प्रथम तीन कारणों से च्युति होना कालमरण तथा उपच्छेदक कर्म से च्युति होना अकलामरण कहलाता है[६२] । अकालमरण के बहुत से कारण बतलाये गये हैं। जैसे भूख, प्यास, सर्पदंश, विप, अग्नि, जल एवं शस्त्र आदि। वात, पित, श्लेप्म, तीनों का सन्नपात, ऋतु विकार एवं विपमोपक्रम कर्म। विपमोपक्रम का अर्थ है स्वयं विषम प्रयत्न करना (आत्महत्या) अथवा दूसरों द्वारा विपम प्रयत्न किया जाना (हंत्या)[६३] ।

इस प्रकार बौद्ध वाङ्‌मय में कर्म को ही मृत्यु का प्रधान कारण माना गया है।

कर्म एवं पुनर्जन्म

ऊपर के पृष्ठो में 'कर्म एवं मृत्यु' के संबंध में विचार किया गया। अब 'कर्म एवं पुनर्जन्म' के प्रश्न पर कुछ सैद्धान्तिक चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा। मानव मात्र को युग-युग से परेशान करनेवाली अनेक समस्याओं से एक है कि मरने के बाद व्यक्ति का क्या होता है ? उसकी स्थिति क्या होती है ? भौतिक शरीर विखर जाने के बाद क्या सचमुच मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है या वह मृत्यु के बाद भी किसी रुप में बना रहता है। यदि बना रहता है तो उसके नये जीवन में पुराने कर्मों की क्या स्थिति होती है ? ये सब जटिल प्रश्न है, जिन्हें मनुष्य स्मरणातीत युगों से सुलझाने में रत है, और जो आज भी प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मस्तिप्क में नित्य नये बनकर आते हैं।

•पुराने समय में मिश्रवासियों का ऐसा विश्वार था कि आत्मा कुछ समय के लिय इधर उधर भटक जाता है और अन्त में वह अपने पुराने शरीर में रहने के लिये लौट आती है, और इस प्रकार व्यक्ति पुनः जन्म धारण करता है। इस विश्वास

के कारण ही मिश्र में मृत शरीर को सहस्त्राद्वियों तक सुरक्षित रखनै के सफल प्रत्यत्न किये गये।

पुनर्जन्म की कल्पना या मरने के बाद नये जीवन की धारणा पर न्यूनाधिक मात्रा में भारत की सभी धार्मिक परम्पराओं में समान विश्वास पाया जाता हैं। इसमें केवल चार्वाक विचारधारा ही अपवाद है। प्राचीन भारतीय दर्शनों के इतिहास में पुनर्जन्म को कर्म सिद्धान्त के अविभाज्य अंग के रुप में मान्यता प्राप्त है। पुनर्जन्म के विषय में बुद्ध पूर्व एवं उनकी समकालीन दार्शनिक परंपराओं में निर्म्नलिखित धारणाएं थी ।

बुद्ध के पूर्व भारतवर्ष में श्रमण तथा ब्राह्मण दोंनों पररंपराएं जीवित थी। परन्तु ब्राह्मण परंपरा का ही एक प्रकार से आध्यात्मिक धारा पर प्रभुत्व था। बुद्ध के समय में भी वह परम्परा उन्नतावस्था में थी। हिसंक यज्ञो के कारण उनकी लोकप्रियता की मात्रा में कमी हो रही थी। परन्तु कर्म तथा पनुर्जन्म के संबंध में उस काल के समाज की धारणा पूर्व वत थी।

जी.सी. पाण्डेय[६४] के मतानुसार पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्व वैदिक संहिताओं अथवा मध्यवैदिक ब्राह्मण ग्रंथो में उपलब्ध नहीं होता। और न इन ग्रंथों में और्द्धदैहिक जीवन के विषय में विकसित धारणाएं मिलती है। उत्तर वैदिक उपनिषदों में संसारवाद परिनिंष्ठित किन्तु अल्प प्रचलित सिद्धान्त् के रुप में प्रकटं होता है[६५] ।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शनों में सामान्यतया स्वीकृत होते हुए भी, इसकी धारणा एक जैसी नहीं है। परन्तु शद्व साम्य के कारण हम उन्हें एक मान लेते हैं। इस सबंध में भ.आ.कौं[६६] का मत समीचीन जान पडता है। उन्होंने कहा है कि सभी धार्मिक परंपराओं में इन शद्वों का अपना अपना अर्थ वैशिष्टय रहते हुए भी शद्व साम्य ही वह रज्जु है जो उन्हें एकता के सूत्र में बांधे हुए है।

मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति के अस्तितव के संबंध में दो प्रकार के मत बुद्ध के समय में प्रचलित थे। पहला वर्ग था, जो शाश्वतवादी कहलाता था। उनके अनुसार आत्मा का मरण होता ही नही इसलिये जीवन शाश्वत है, पुनर्जन्म के द्वारा इसका नवीनीकरण होता रहता है[६७] । दूसरा वर्ग उच्छेदवादी था, उनके मतानुसार मृत्यु के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता[६८] । बुद्ध इन दोनों मतो के विरुद्ध थे।

कर्म तथा उसका विपाक अर्थातं वर्तमान कर्मो के अनुसार भविष्य में निश्चित फल प्राप्ति के संबंध में किसी भी भारतीय धार्मिक परंपरा में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु वर्तमान कर्मों के अनुसार भविष्य में कौन सा जन्म मिल सकता है, इसका निश्चय अपने सीमित ज्ञान के आधार पर तत्काल कर सकता शक्य नहीं है। इस विपय पर स्थविर नागसेन एवं राजा मिलिन्द में जो वार्तालाप हुआ था, उससे

काफी प्रकाश पडता है।

राजा मिलिन्द ने स्थविर नागसेन से पूछा कि क्या कोई व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त अपने वर्तमान कर्मो के भले बुरे परिणाम से मुक्त हो जाता है ? स्थविर ने इसका उत्तर दिया 'यदि पुनर्जन्म न हो तो वह अपने कर्मो के फल से मुक्त हो जाए, परन्तु क्योंकि पुनर्जन्म होता है, इसलिए वह अपने भले बुरे कर्मो के विपाक से मुक्त नहीं होता। एक व्यक्ति किसी के आम चुराये तो वह दण्ड का भागी होता। यद्यपि आम जो बीज जमीन में बोये गये थे वे उसने नहीं चुराये, परन् उन बीजो से ही वे आम उत्पन्न हुए थे जो उसने चुराए । इस कारण वह दण्ड का भागी होगा। इस प्रकार यह नाम रुप कुशल अथवा अकुशल कर्म करता है। उस कर्म से दूसरा नाम रुप जन्म ग्रहण करता है इसलिये वह अपने कर्म से मुक्त नहीं होता। तब राजा मिलिन्द भन्ते नागसेन से दूसरा प्रश्न पूछां जो कि बहुत ही महत्वपूर्ण है - नागसेन। जब एक नाम रुप से कार्य किये जाते हैं, तो उन कार्यो का अर्थात कर्मो का क्या होता है ? स्थविर ने कहा - कि वे धर्म छाया की तरह उसका पीछा करते रहते हैं । राजा ने पूछां कि क्या कोई उन कर्मो को बता सकता है कि ये कर्म यहां है अथवा वहां है ? इस पर स्थविर नागसेन ने कहा कि जीवन-स्रोत का उच्छेद जब तक नहीं होता, तब तक कृत कर्मो के विषय में यह बता सकना संभव नहीं है, कि अमुक कर्म यहां है, या वहां है[६९] ।

इस प्रकार स्थविर नागसेन यह सिद्ध करते है कि जब तक सभी पूर्वकर्मो एवं वर्तमान कर्मो के विपाक दान तथा शील समाधि एवं प्रज्ञा के द्वारा पूर्ण निरोध नहीं होता, तब तक पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार, वर्तमान जन्म और वर्तमान जन्म के कर्मो के अनुसार भविष्य में जन्म, इस प्रकार पुनर्जन्म की परंपरा अखंड रुप से चलती रहती है।

कर्म विपाक व्यवस्था

कर्म विपाक का अर्थ है, इस जन्म में अथवा आगामी जन्मों में इसी जन्म के अथवा पूर्वकृत कर्मो का शुभा-शुभ परिणाम और तदनुसार शुभाशुभ् जन्मजन्मातर।

भव का अर्थ है होना[७०] । प्रस्तु प्रसंग में भव का अर्थ विविध प्रकार के कर्मो से होने वाले विविध जन्म है।

भव दो प्रकार का माना गया है, कर्म-भव और उपपति भव[७१] । कर्म से ही भव होता है, इसलिये कर्मो को कर्मभव भी कहा गया है[७२] । संक्षेप में चेतना और चेतना से सम्प्रयुक्त अभिध्या (लोभ) आदि प्रवृत्तियों को भी कर्म, धर्म अथवा कर्मभव माना गया है[७३] ।

उपपति भव को साधारणतः इस प्रकार समझा जा सकता है - प्रत्युत्पन्न (वर्तमान)

भव में कुशल वा अकुशल (भविष्य में) कर्म से उत्पन्न होने वाले फल (विपाक) उपपतिभव[७४] कहलाते हैं।

अतीत भव में उत्पन्न उन चेतनाओं को संस्कार कहा जाता है जो प्रत्युत्पन्न भव में फल प्रदान करने में समर्थ होती है[७५] ।

कहा भी गया है कि 'अविज्जा संखारा अंतीतो[७६] अद्दा' अर्थात अविद्या एवं संस्कार अतीतकाल (की चेतनाएं) हैं। अनागत भव में फल प्रदान करनेवाली प्रत्युत्पन्न भव की चेतनाओं को कर्म-भव[७७] कहा जाता है। इस प्रकार संस्कार और कर्मभव दोनों में चेतना की दृष्टि से साम्य होने पर भी कालभेद[७८] से भेद होता है।

पुण्याभिसंस्कार, अपुण्याभिसंस्कार एवं आनेंजाभिसंस्कार इन संस्कारों को ही कर्म-भव कहा गया है[७९] । अथवा जिन कर्मो अथवा संस्कारों के कारण कामावचर या महदगत (रुपावचर एवं अरुपावचर) भूमियों में जन्म होता है उन कर्मो एवं संस्कारों को ही कर्म-भव कहा[८०] जाता है।

उपपत्ति भव नौ प्रकार का होता है - 'कामभव, रुपभव, अरुपभव, संज्ञाभव, असंज्ञाभव, नैवसंज्ञानासंज्ञाभव , एक अवकारभव, चतुःअवकार भव तथा पंचअवकार भव। अतः हम केवल इन्हीं तीन भवों में उत्पत्ति के सबंध में विचार करेंगे।

काम भव

जिस जीवन और जगत से हमारा सामान्य जीवन प्रवाह चलता है वह कामनाओं का लोक है[८२] । यहा जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कामनाओं एवं उनके भोग के कारण इस भव को काम भव और उसकी जो गोचर भूमि है, उसे ही कामावचर भूमि कहा जाता है। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओं के संबल को लेकर ही हम दूसरे जन्म में प्रवेश कर जाते हैं[८३] । और पुनः कामावचर भूमि में जन्म हो जाता है।

इस कामावचर भूमि का ध्यान से कोई संबंध नहीं है। कामावचर भूमि की ८ कुशल चेतनाए एवं १२ अकुशल चेतनाएं इन २० प्रकार की चेतनाआं का समाहर काम-भव में होता है। इन २० प्रकार की चेतनाओं को भी 'काम-भव' अथवा कामावचर भूमि कहा जाता है।

रुपभव

रुप को आलंबन बनाकर ध्यान करते समय व्यक्ति के चित की जो अनुभूत अवस्था होती है, उस अवस्था विशेष को रुप भव कहा जाता है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय (कर्म स्थान) रुपवान पदार्थ या बाहय जगत का कोई दृश्य पदार्थ होता हैं, अतः इसे रुप-ध्यान कहा जाता है। रुपावचर भूमि की वितर्क-विचारादि

चेतनाएं ही रुपभव है[८५]। यहां ध्यान के कारण प्राप्त होने वाले नवचित्तोत्पाद को ही 'भव' कहा गया है। इस भव (ध्यान) की जो गोचर भूमि है, उसे 'रुपावचर - भूमि' कहा जाता है।

अरुपभव

चित्त की अरुप-ध्यान की अवस्था (चेतना) में बाहय दृश्य-पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रुप-रहित आलंबन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनंतता, अकिचंनता की अनन्ता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था को अरुप-भव कहा जाता है[८६]। इस प्रकार अरुपी आलंबनो का ध्यान करते समय व्यक्ति के चित की जो अनुभूत पूर्व अवस्था होती है, या जिस नये चित का उत्पाद होता है, उसे भी अरुपभव कहा जाता है। इस ध्यान में रुपालंबनो का सर्वथा अतिक्रमण हो जाता है[८७] और इसकी गोचरभूमि को ही अरुपावचर भूमि कहा जाता है। अथव अरुपावचर ध्यान की चार कुशल चेतनाओं को भी अरुपभव कहा जाता है।

लोकोत्तर भूमि अथवा लोकोत्तर चित्त

इस भूमि में किसी भी प्रकार का भव नहीं होता। यहां आते आते योगी अनित्य, अनात्म और दुःख स्वरुप का चिन्तन करते हुए निर्वाण रुपी आलंबन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएं नष्ट हो जाती हौं[८८]। इस भूमि के स्रोतापति, सकदागामी, अनागामी एवं अर्हत इन चित्तो की चर्चा अध्याय तीन में . की जा चुकी है। चित्त शुद्धि की इन अवस्थाओं को ही लोकोत्तर चित कहा गया है। ये अवस्थाएं कामावचर लोक में ही प्राप्त होती हैं। तथापि उनको प्राप्त कर लेने वाले साधकों का इस लोक से एक जन्म अथवा कई जन्मों से उत्तीर्ण होना निश्चित होने से उत्तीर्ण और उनके चित्त की इन अवस्थाओं को लोकोत्तर भूमि अथवा लोकोत्तर चित्त नाम दिया गया है। इस अवस्था में भूमि शद्ब केवल औपचारिक है[८९]।

भूमियों के अनुसार होने वाले पुनर्जन्म

कामावचर भूमि

कामनाओं[९०] के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है[९१]। परन्तु यह सहज संभव नहीं है। उसके लिये यह अनिवार्य है कि उसका चित्त लोभ, द्वेप, मोह, इन तीन अकुशल हेतुओं से विमुक्त हो। इन अकुशल हेतुओं से मुक्त होने या न होने के अनुसार ही उसकी स्वर्ग या नरक में जन्म ग्रहण करने की संभावना होती है। यदि मनुष्य उपयुक्त अकुशल हेतुओं से युक्त होकर कोई कर्म करता है, तो अकुशल चित्त होने से आगामी जन्म में नरक योनि मे भी

जाना पड सकता है, यदि अन्य शुभ कर्मों के द्वारा इन अशुभ कर्मों का उपघात न किया जावे तो नरक-योनि में जन्म ग्रहण करना अव्यय कहलाता है इसके अलोभ, अद्वेष, अमोह ईन कुशल हेतुओं से युक्त होकर कार्य करने पर पुदगल का जन्म स्वर्ग अथवा काम सुगति भूमियों में होता है। नरक योनि के संबंध में पिटकों मे ऐसा कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणी हिंसा करता है, उसको अधिक बढाता है, वह नरक में या पशुयोनि में जन्म ग्रहण करता है अथवा प्रेत बनता है[९२] । जो चोरी करता है, उसका अभ्यस्त होता है उसको अधिक बढाता है, वह या तो नरक में पैदा होता है या पशुयोनि में अथवा प्रेत बनता है[९३] । जो झूठ बोलता है, चुगली खाता है, उसका अभ्यस्त होता है, उसको अधिक बढाता है वह या तो नरक मे पैदा होता है, या पशुयोनि में जन्म ग्रहण करता है[९४] । कठोर वाणी का प्रयोग करने उसका अभ्यस्त होने एवं उसे बढानेवाले व्य[illegible] का भी नरक, पशु या प्रेत योनि में जन्म होता है[९५] । सुरा-मेरय आदि नशीले पदार्थों का सेवन करने, उसका अभ्यस्त होने एवं बढाने वाले व्यक्ति का भी पशु, नरक या प्रेत योनि में जन्म होता है[९६] ।

क्रोधी तथा अशान्त स्वभाव की ऐसी महिला जिसे किसी के द्वारा कही गयी छोटी छोटी बाते भी लग जाती है, तथा कुपित, बिगडकर खडी होने वाली, कठोर, कोप, द्वेप एवं असन्तोप प्रकट करने वाली स्त्री, जो किसी श्रमण ब्राह्मण को अन्नपान, वस्त्र, यान, मालागंध, विलेपन, शयन, आवास तथा प्रदीप नहीं देती, दूसरों को मिलने वाले लाभ सत्कार, गौरव मान्यता, वन्दना तथा पूजा के विषय में ईर्ष्या करने जलने एवं ढाह करने वाली तथा वैर बांधकर रखनेवाली स्त्री, ऐसे अकुशल कर्म करते हुए मनुष्यलोक से च्युत होकर यदि पुनः स्त्री का जन्म ग्रहण करती है, तो दुर्वण, कुरुप, अभद्र तथा दरिद्री होती है। कमरिश्तेदारो वाली एवं अल्पभोग्य सामग्री वाली [illegible] किसी के द्वारा बहुत अप्रिय, कठोर बातें कहे जाने पर भी जो अपने चित्त में क्षुब्ध नहीं होती, न कुपित होती है, न बिगडकर खडी होती है, न कठोर होती है, और न कोप, द्वेप तथा असन्तोष प्रकट करती है[९८] । श्रमण, ब्राह्मण को अन्नपान, वस्त्र, यान, माला गंध, विलेपन, शयन, आवास तथा प्रदीप देनेवाली होती है, ईर्षालू नहीं होती, दूसरों को मिलनेवाले लाभ-सत्कार-गौरव- -वन्दना तथा पूजा आदि के विषय में न जलती है, न डाह करती है और न बद्धवैर होती है, वह मृत्युलोक च्युत होकर, पुनः स्त्री जन्म ग्रहण करने पर सुंदर वर्णवती आकर्षक तथा दर्शनीय होती है। वह धनी महासम्पतिशाली, विपुल भोग सामग्री वाली तथा बहुसंख्य कुटुम्बी एवं परिवारजनों से शोभायमान होती है[९९] ।

उपर्युक्त रीति से पिटकों कुशलाकुशल कर्मो का सामान्य विवेचन किया गया है। इन्ही को सैद्धान्तिक से अभिधर्मपिटक में समझाया गया है। अकुशल कर्मो से अपायभूमि एवं कुशल कर्मो से कामसुगति भूमि में जन्म प्राप्त होता है।

कामसुगति भूमि

काम तृष्णा के आलंबन भूत क्षेत्र को कामसुगति भूमि कहा गया है[१००] । गमन क्रिया तथा गन्तव्य स्थान दोनों को गति शद्ब से अभिहित किया गया है। प्रशस्त गति को सुगति कहते हैं[१०१] । 'अधिकाधिक सुखोपभोगों से युक्त भूमियों को ही सुगतिभूमियां कहा गया है[१०२] । मनुष्य देव, रुप, एवं अरुप ये चार भूमियां कामसुगति भूमि कहलाती है[१०३] ।

मनुष्य भूमि

जिन सत्वों का मन तीक्ष्ण होता है, उन्हें मनुष्य कहा जाता है[१०४] । मनुष्य की परिभाषा बौद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोन से परमत्थदीपनी में इस प्रकार दी गई है - जम्बुदीप में रहने वाले पुदगलों का मन अकुशल (मातृतादि पांच आनन्तर्य-कर्म) तथा सभी प्रकार के कुशल कर्म करने में समर्थ या (तीव्र) शक्ति संपन्न होता है।

मनुष्य योनि में सुख की मात्रा व्यक्तियों के अपने अपने कर्मो के अनुसार भिन्न होती है। जैसे कोई व्यक्ति क्रोधरहित, शारिरीक, वाचिक तथा मानसिक कर्मो को प्रकट करता है, प्राणि हिंसा, चोरी, व्यभिचार तथा झूठ बोलने से विरत होता है, वहसुरामेरय आदि नशीली वस्तुएं ग्रहण नहीं करता, आनन्तर्य कर्म नहीं करता, वह कुशल कर्म करके अत्यन्त सुखद विपाक को प्राप्त होता है[१०५] । मनुष्य लोक मे जन्म ग्रहण करने के उपरान्त मनुष्य की जो सुख दुःखात्मक स्थिति होती है, उसका कारण उसके पूर्व कर्मो को ही कहा गया है। झूठ बोलने का कम से कम दुष्परिणाम यह बताया गया है कि उस पर भी झूठा दोषारोपण होता है[१०६], कठोर वचन कहने से अप्रियवाणी सुनने को मिलती है, चोरी करने से भोग्य पदार्थो की हानि होती है, प्राणि हिंसा से आयु क्षीण होती है, कामभोगों में मिथ्याचार करने से विरोधियों का वैरभाजन होता है[१०८] । सुरामेरय आदि नशीले पदार्थो का सेवन करने का दुष्परिणाम मनुष्य योनि में पागलपन की प्राप्ति कहा गया है[१०९] । भिखारी को भी सुखद जीवन जीने के अवसर प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्य योनि में किसी का जीवन उन्नत या निकृष्ट कैसा भी हो तथापि सुख प्राप्ति की संभावना सदैव बनी रहती है। कोई व्यक्ति निर्धन कुल में जन्म ले या धनी कुल में दोनों अवस्थाओं में धर्म साधना के मार्ग से सत्य को पूर्ण रुप से जान सकता है। उसका कुल, धन, रुप या वैभव पूर्ण सत्य को जानने के मार्ग के बाधक नहीं होते। इसी योनि में बुद्ध व अन्य तीर्थ करों ने जन्म लिया था।

मनुष्य जीवन में ही सन्यासी या भिक्षु बनकर नैतिक आचरण के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षातकार करना संभव है। इसी जीवन में मानव बोधिसत्वों की दस पारमिताएं पूर्ण करके बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। इसी जन्म में बुद्धत्व पूर्ण होता हैं। इन्हीं

कारणों से मनुष्य जीवन को धर्म परपरांओं में सबसे महत्वपूर्ण, सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

मनुष्य भूमि में आयु-प्रमाण

मनुष्यों का आयु प्रमाण सामान्य रुप से ऋतु एवं आहार की अनुकूलता पर निर्भर है और व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर ऋतु एवं आहार को अपने अनुकूल अथवा प्रतिकूल बना सकता है[११०]।

मनुष्य भूमि में ही शुभकर्मों के विपाक स्वरुप महापुरुष लक्षणों की प्राप्ति होती है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह विषय अत्यन्त महत्वूपर्ण है। पिटको में इस विषय का प्रतिपादम विस्तार से किया गया है।

किसी मनुष्य जन्म में दान, शील, चरण (सदाचार) उपोसथ व्रत, मातापिता की सेवा बडों का सत्कार आदि कर्मों से या इन पुण्य कर्मों के किये हुए संचय एवं विपुल के कारण मरणोपरान्त सुप्रतिष्ठित पाद[१११] नाम का महापुरुष लक्षण प्राप्त होता है[११२]।

उद्वेग, चंचलता एवं भय को हटाकर धार्मिक बातों की रक्षा का विधान करके विधि पूर्वक दान देने से सुगति को प्राप्त होकर पुनः मनुष्य जन्म ग्रहण करने पर पैर के तलवे में 'सहस्र आरोंवाला चक्र'[११३] यह महापुरुष लक्षण प्राप्त होता है।

मनुष्य होकर जीव हिंसा कोछोड उससे विरत रहना, दण्ड और शस्त्र छोड कृपालु, दयालु, सभी जीवों के हितेच्छु होकर विहरने से लम्बी उंगलिया[११४], लम्बा तथा सीधा शरीर[११५] एवं घुटनों का आकार गोल शंख की[११६] भांति होता है। इस प्रकार उपरोक्त कर्मों से उपरोक्त तीन महापुरुष लक्षण प्रांप्त होते हैं।

सुन्दर स्वादिष्ट खाद्य भोज्य, चोष्य, लेह्य, पेय का सत्पात्रों को दान देने से सप्त उस्स्द[११७] नामक लक्षण की प्राप्ति होती है। दान, प्रिय वचन, अर्थचर्चा (उपकार का काम) एवं समानता का व्यवहार इन गुणों से दो लक्षणों की प्राप्ति होती है - उनके हाथ व पैरों में मृदुता[११८] तथा जाल जैसी आकृतिवोले[११९] होते है।

लोगों को अर्थ एवं धर्म संबंधी बातों का निर्देश देने तथा प्राणियों के हित और सुख के लिए धर्म-यज्ञ करने से निम्नलिखित दो लक्षण प्राप्त होते हैं - उत्संखपाद[१२०] और उर्ध्वाग्रलोभ[१२१]।

विद्यार्थियों को शिल्प-विद्या, आचरण और नाना कर्मों की शिक्षा बडे सत्कार पूर्वक देने से, जिससे कि विद्यार्थी शीघ्र जान लें, सीख ले और देर तक हैरान न हों, ऐसे कर्मों के विपाक से मृगजंघा[१२२] नामक लक्षण की प्राप्ति होती है।

श्रमण ब्राह्मणों के पास जाकर कुशलाकुशल, सदोष-निर्दोष, सेवनीय असेवनीय आदि कर्म क्या है ? क्या करना चरिकाल तक हित सुख के तथा अहित एवं दुःख के लिए होगा ? आदि विषयक प्रश्न पूछने से एवं तदनुरुप कर्म करने से सूक्ष्म छवि [१२३] नामक लक्षण प्राप्त होता है।

क्रोध रहित होना, दूसरों को परेशान न करना, बहुत कहने पर भी द्वेष, कोप, एवं द्रोह को प्राप्त न होना, अपने मन में उस अप्रीतिकर प्रसंग को जमने न देना, कुपित न होना, मारपीट न करना और कुछ न कहना, क्रोध, दौर्मनस्य, द्वेष, आदि प्रकट न करना, अलसी, कपास, कौषेय एवं कंबलादि के वस्त्रो तथा सूक्ष्म और मृदु अस्तरणों (बिछोनों) एवं प्रावरणों (ओढनों) का दान देना, आदि कर्म करने से स्वर्ग में उत्पन्न होकर वहां से च्युत होने पर पुनः मनुष्य (योनि) में जन्म ग्रहण करने पर सुवर्ण-वर्ण[१२४] (कांचन के समान वर्ण) नामक लक्षण की प्राप्ति होती है।

चिरकाल से लुप्त अचिरकाल से चले जाने वाले जातिभाईयों, मित्रो, सुहृदों और सखाओं को मिलाना, माता पुत्र को, पिता पुत्र को, भाई-भाईको, भाई-भगिनी को मिलाकर मोद करना, इस कर्म से कोषाच्छादित 'वस्तिगृहय' (पुरुष इन्द्रिय) नामक लक्षण प्राप्त होता है[१२५] ।

महाजन (लोक) संग्रह करना, सम-विषम पुरुष का ज्ञान रखना, विशेष पुरुष का ज्ञान रखना, यह इसके योग्य है, यह इसके योग्य नहीं है, इस प्रकार उन उन विषयों में पुरुषों की विशेपता का ध्यान रखना इन शुभ कर्मो से निम्नांकित दो लक्षण प्राप्त होते हैं - न्यग्रोध-परिमण्डल[१२६] और आजानुबाहु[१२७] ।

बहुत लोगों का अर्थ, हित एवं मंगलाकांक्षी होना, बहुजनों की श्रद्धा, शील, धर्म प्रज्ञा आदि में वृद्धि चाहना, पुत्र, दारा, जातिभाई, मित्र, बन्धु, द्विपादवाले, चतुष्पादवाले प्राणि बढे एवं धनधान्य, खेती-घरों की वृद्धि हो ऐसी परहिताकांक्षा के करने से तीन महापुरुष लक्षण प्राप्त होते हैं। यथा - सिंहपूर्वार्ध्दकाय[१२८], चितान्तरास [१२९] एवं समवर्तस्कंध[१३०] ।

हाथ, ठेला, दण्ड या शस्त्र से प्राणियों को पीडा न देना इस प्रकार हिंसक कर्मो से विरत रहने के विपाक स्वरुप रसग्गसग्गी[१३१] नामक लक्षण प्राप्त होता है।

तिरछी या उलटी दृष्टि से न देखकर सरल सीधे मन से एवं प्रिय चक्षु से लोगो को देखने से अभिनीलनेत्र[१३२] और गोपक्ष्म[१३३] इन दो लक्षणों की प्राप्ति होती है।

अच्छे कार्य में बहुत जनों का अगुआ होना (नेतृत्व करना) कायिक एवं मानसिक सुचरित से रहना, दान, देना, शील ग्रहण करना, उपोसथ करना, मातापिता, श्रमण ब्राह्मण की सेवा, कुलों में जो ज्येष्ठ व्यक्ति हो उसका सम्मान करना, तथा उन उन

अच्छे कार्यो में लोगो के प्रधान होना इन शुभ कर्मों के विपाक से उण्णीष शीर्ष अर्थात जिस प्रकार राजा की पगडी का बीच का भाग ऊपर उठा हुआ होता है उसी प्रकार इस लक्षण वाले व्यक्ति के सिर का बीच का भाग ऊपर उठा हुआ होता है। नामक लक्षण प्राप्त होता है[१३४]।

झूठ को त्यागकर सत्यवादी, सत्यसंध, विश्वासपात्र, लोगों के जो विश्वासपात्र नहीं थे उन्हें विश्वासपात्र बनाना इन कर्मों को करने से दो लक्षण प्राप्त होते हैं - एकेक लोमता[१३५] एवं दोनों भोहों के बीच में श्वेत कोमल रुई की जैसी उण[१३६] उत्पन्न होती है।

चुगली एवं चुगली की बातो से विरत रहना, फूट डालनेवाली बातों से विरत रहना इस वाचिक अकुशल कार्य से विरत रहना, एकता प्रेमी, एकतारस एवं एकतानन्दी होकर एकताकारक वाणी बोलना आदि शुभकर्मों से चालीसदन्त[१३७] एवं अविरलदांत[१३८] इन दो लक्षणों की प्राप्ति होती है।

वाणी के अकुशल कर्मों जैसे कठोरवचनादि का त्याग करना, सरल नेत्र, कर्णसुखा, प्रेमोत्पादक, हृदयंगमा, सभ्य बहुजनप्रिय वाणी बोलना, इन कुशल कर्मो के कारण लंबी जिव्हा[१३९] एवं करविंकभाणी[१४०] ये दो लक्षण प्राप्त होते हैं।

बकवास छोडकर, उससे विरत रहना, कालवादी (समय देखकर) भूतवादी (यथार्थवादी) अर्थ, धर्म, एवं विनयवादी होकर तात्पर्ययुक्त तह तक पहुंचकर अर्थसहित भावपूर्ण वाणी बोलना आदि वाचिक कुशल कर्मो के विपाक से सिंहहनु[१४१] नामक लक्षण प्राप्त होता है।

सच्ची जीविका और मिथ्या आजीविका तराजू कसर (बटखरे) माप आदि की ठगी, उत्कोच (रिश्वत) द्वारा धोखा देना, वंचना करना, कृतघ्न होना, साचियोग (कुटिलता) छेदन, बंधबंधन, विपरामोसा (डाका डालना) आलोप, (लूटना, सहसाकार किसी का वध कर देना आदि कर्मोसे विरत रहने के फलस्वरुप समदन्त[१४२] और सुशुक्लदाढ[१४३] ये दो लक्षण प्राप्त होते है।

ये सब लक्षण भगवान बुद्ध में थे एवं उनकी प्राप्ति किन कर्मो तथा उनके विपाकों से हुई, यह उन्होंने स्वंय ही बतलाया है। संक्षेप में विचार करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि विभिन्न कायिक, वाचिक एवं मानसिक कुशल कर्मों के विपाक-स्वरुप ही इन लक्षणों की प्राप्ति होती है।

इन संदर्भ में यह भी कह दिया गया है कि इन लक्षणों से युक्त पुरुष की दो ही गतियां होती है, तीसरी नहीं। यदि ऐसे महापुरुष लक्षणों से लांछित पुरुष घर में रहते हैं तो धार्मिक, धर्मराजा, चारों और विजय पानेवाला शान्तिस्थापक, सात

रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होता है। घर से बेघर हो प्रव्रजित होता है तो संसार के आवरण को हटानेवाला अर्हत सम्यक संबुद्ध होता है[१४४]।

इस प्रकार मनुष्य भूमि के संदर्भ में विचार करने पर स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कुशल कर्मों के कारण ही मनुष्य को बत्तीस महापुरुष लक्षण प्राप्त होते हैं।

चातुर्माहाराजिक (देवभूमि)

यह सबसे निम्न देवभूमि है, इस पर चार महान देवराजाओं द्वारा शासन किया जाता है[१४५]। जिन देवतांओ की इन चार देव राजों में भक्ति होती है उन्हें चातुर्माहाराजिक कहते हैं[१४६]। यह भूमि सुमेरु पर्वत के मध्य में पृथ्वी से ४२००० योजन की उंचाई पर अवस्थित है[१४७]। ये दवेराजा लोकों की रक्षा करते है इसलिये उन्हें लोकपाल भी कहा जाता है[१४८]। यह कामसुगतिभूमि की द्वितीयावस्था है।

तावतिंसा

इस भूमि में केवल तैतीस पुदगल (देव) होते है। इस भूमि की अवस्थिति चातुर्माहाराजिक देवभूमि के ४२००० योजन ऊपर बतलाई गई है। इसी प्रकार आगे की समस्त देवभूमियों की स्थिति एक दूसरे से ४२००० योजन ऊपर बतलायी गई है।

यामा

इस भूमि के संबंध में बहुत ही संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। दुःख से अपगत अर्थात दुःख से रहित देवों को याम कहते हैं, इनका निवास स्थान आकाश में होने के कारण इन्हें आकाशट्ठा (आकाशस्था) भूमि भी कहते हैं[१५०]।

तुसिता

तोष को प्राप्त देव तुसित कहलाते हैं एवं उनके निवास स्थान को तुसिता कहा जाता है[१५१]। बुद्ध होने के पूर्व बोधिसत्व का आखिरी जन्म इसी भूमि मे होने की बात कही जाती है[१५२]। इससे यह स्पष्ट है कि इस भूमि में व्यक्ति अतिशय कुशल कर्मों के परिणाम स्वरुप ही जन्म ग्रहण कर सकता है। बोधिसत्व की दानशीलादि दस पारमिताएं भी कुशल-कर्म के अन्तर्गत आती है।

निम्मानरति

जिस देव योनि के पुदगल स्वयं की रुचि के अनुसार सुखोपभोग करने के लिये स्वंय अपने देव भवनों का निर्माण करने की क्षमता संपन्न हैं और ऐसा करके उनमें स्वेच्छानु कूल सुखपूर्वक रमण करते हैं उन लोकों को निम्मानरति[१५३] देवभूमि कहा जाता है[१५४]।

परनिम्मितवशवर्ती

जिस देव योनि के देवगण स्वयं अपने लिए सुख के आलंबनो का निर्माण न करके अपने अधीनस्थ सेवकों द्वारा निर्माण कराते हैं, और उनमें सुख भोगते हुए रहते हैं, उन्हें परनिम्मितवशवर्ती देवता और उनके आलंबनो को परनिम्मितवशवर्ती देव भूमियां कहा जाता है[१५५] ।

देव आवासों का तथा देवयोनि में किन कर्मों से जन्म प्राप्त होता है इसका विस्तृत वर्णन विमानवत्थु में दिया गया है। नाम एवं आमोद प्रमोद के भेदों को छोड दिया जाय तो सभी देव आवास एक समान प्रतीत होते हैं। निम्नलिखित प्रसंग से इस कथन की पुष्टि होती है। महास्थविर मोग्गलान ने किसी देवता से पूछां 'यह देवता सुन्दर वर्ण से युक्त हैं। अपने शुभ्र वर्ण से शुक्र तारा के समान सारी दिशा को तु आलोकित कर रहा है। हे महानुभाव देवते। मैं तुमसे पूछता हु कि मनुष्य जन्म में तूने कौन से पुण्यकर्म किये थे जिसके विपाक स्वरुप तुझे यह सब भोग मिले[१५६] ? देवता - मै 'प्राणी हिंसा मृषावाद, कामभोगों में मिथ्याचार, चोरी, नशीली चीजो के सेवन आदि से विरत हो, सदा संयत एवं शील से संवृत हो विहार करनेवाला गौतम बुद्ध का उपासक था। इस प्रकार दुष्कर्मों से विरत रहने तथा पुण्य कर्मों को करने के विपाक स्वरुप मुझे यह दिव्य शरीर और ऋद्धि[१५७] प्राप्त हुई । यही बता प्रायः प्रत्येक विमान में जन्म लेने के विषय में कही गयी है।

अपायभूमि के ४ प्रकार हैं - निरयभूमि, तरिश्चीन भूमि, पैत्रविषयक भूमि एवं असुरकाय[१५८] । कामसुगति भूमि ७ प्रकार की कही गयी हैं - मनुष्यभूमि, चातुर्महाराजिक भूमि, तावतिंसा भूमि, यामाभूमि, तुसित भूमि, निम्मानरति भूमि एवं परनिम्मित्तवशवर्ती भूमि[१५९] ।

निरयभूमि

"निरय-अयतो[१६०] सुखतो निग्गतो ति नरयो[१६१]" अर्थात सुख से विनिर्गत भूमि ही निरय कहलाती है।

पिटकों के अनुसार निरय आठ प्रकार के होते हैं - सन्जीव, कालसुत, संघात, जालरोरुव, तापन, पत्तापन, एवं अवीचि नरक। अपने अकुशल कर्मों के कारण व्यक्ति इनमें से किसी एक में जन्म लेता है। कहा जाता है कि नरक के जीवों को एक क्षण मात्र भी सुख नहीं मिलता ।नरक में जितने दुःख होते हैं, उनका व्याख्यान करना कठिन है[१६२] ।उन्हें आदि से अन्त तक अपने अकुशल कर्मों के कारण अत्यन्त दुःख पूर्ण जीवन भोगता पडता है।वहां समय की एक निश्चित मर्यादा नहीं है। कुछ सत्व बहुत शीघ्र उससे मुक्त हो जाते हैं तो कुछ अगणित वर्षों तक उसी में रहते हैं।यह सब उनके अकुशल कर्मों की शक्ति पर निर्भर करता है।अकुशल कर्मों का फल (विपाक)

भोग लेने पर वे कर्म निष्प्रभ हो जाते हैं, तब वह जीव नारकीय जीवन से छूट जाता है।

तिरश्चिन न या पशुयोनि

पालि पिटकों में पशुयोनि अथवा तिरश्चीन योनि को भी अपायभूमि माना गया है। जो व्यक्ति प्राणि-हिंसा करता है, उसका अभ्यस्त होता हैं, उसको अधिक बढाता है, वह नरक में या पशु योनि में जन्म ग्रहण करता है, अथवा प्रेत बनता है[१६३]। कामाभोगों में मिथ्याचार, झूठ बोलना, कठोर बोलना, चोरी करना आदि अकुशल कर्मो से व्यक्ति पशुयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं[१६४]।

मनुष्यों की तरह ऋतु एवं आहार पर निर्भर रहने वाले तिरश्चीन की आयु मनुष्यों की तरह निश्चित होती है[१६५]। पशुयोनि में ज्ञानोपलब्धि की संभावनाएं अत्यन्त क्षीण व दुर्लभ होती है। सदाचार के मार्ग पर चलकर वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। पशुओं के जीवन में ऐसे सद्ज्ञान तथा सदाचरण का निषेध किया गया है।

कुछ आधुनिक बौद्ध उपासकों के मत में यह असभंव है कि जो सत्व, जैसे मनुष्य, जिसने अपना इतना विकास किया है उसका पुनः पशु अथवा कीटादि हीनत्तर योनियो में पुनर्जन्म हो सके। परन्तु परपरांगत बोद्ध इस मत को स्वीकार नहीं करते।

स्रोतापन्न सकदागामी तथा अनागामी[१६६]

इस अवस्था में प्रविष्ट हुए साधक पशुयोनि में जन्म ग्रहण नहीं कर सकते। जिसने अर्हत्व प्राप्त किया है उसके विषय में तो कहना ही क्या ? वह तो पुनर्जन्म के मूल हेतुओं को ही पूर्णतः नष्ट कर देता है।

पैत्र विषय - अर्थात प्रेत योनि

साधारणतः प्रेत शद्ब मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त उसके निर्जीव शरीर के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु यहां यह शद्ब 'सुख से अत्यन्त दूर जाने वाले ऐसे सत्त्वों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो अदृश्य प्रेत-योनि में जन्म लेते है[१६७]। सुख से दूर जाने वाले प्रेतों के समुह को ही 'प्रेत' कहते है[१६८]। प्रेतों के निवास स्थान को प्रेत विषय कहा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि वे मनुष्य लोक में ही रहते हैं। वे वन, पर्वत, मरुभूमि आदि स्थलों पर निवास करते हैं। प्रेत कई प्रकार के होते हैं।

साधारणतया वे मनुष्यों के लिये अदृश्य रहते हैं, परन्तु स्वेच्छा से दिखलाई भी दे सकते हैं। तथा अर्हतों को भी इच्छा होने पर उन्हें देख सकते हैं। चोरी, काममिथ्याचार, झूठे एवं कठोर वचन बोलना प्राणि हिंसा आदि अकुशल कर्मो के कारण व्यक्ति इस योनि में जन्म ग्रहण करते हैं[१६९]।

असुर योनि

असुर भी प्रेतो की तरह होते हैं, और भोग, ऐश्वर्य आदि में देवताओं की भांति समृद्ध नहीं होते[१७०]। ये जहां भी रहते हैं उसी को असुर काय भूमि कहा जाता है। इनकी भी कई जातियां होती हैं[१७१]। उनमें से प्रेत असुर एवं निरय असुरों की भूमियां अपायभूमि में मानी जाती है शेष नहीं[१७२]। देव असुरों की भूमि को अपायभूमि में नहीं गिना जाता (देव असुर अर्थात सुमेरु के नीचे रहने वाले देवता) त्रायंस्त्रिंशं देवों के प्रतिपक्षी देवों को भी असुर कहा जाता है[१७३]। इस प्रकार अन्यत्र निरयभूमि, तिरश्चीन भूमि, पैत्र (अथवा प्रेत) भूमि एवं असुरकाय इनमें से अंतिम (असुरकाय) को छोडकर ऊपर की तीन भूमियों को ही अपायभूमि कहा गया है। चोरी, मिथ्याचार, झूठे एवं कठोर वचन, प्राणी हिंसा आदि अकुशल कर्मो के कारण ही व्यक्ति इस योनि में जन्म ग्रहण करता है[१७४]।

प्रेत योनि के, विषय में प्रेतवत्थु में पौराणिक शैली में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। किस दुष्कर्म के कारण परलोक में क्या दुःख भोगने पडतें है, यह भी दहां दिया गया है। जैसे 'तैरी संपूर्ण काया शुभ्र है, तू सारी दिशाों को आलोकित कर रहा है किन्तु तेरा मुख सूकर का है'। तूने पूर्व जन्म में क्या (अकुशल) कर्म किया था[१७५] ? इस पर नारद नामक भिक्षु को प्रेत प्रत्युत्तर में कहता है कि - मैं काया से संयत था, किन्तु वाणी से असंयत था। इसलिये नारद मेरी ऐसी अवस्था है जिसे तू देख रहा है। हे नारद । जैसा तुमने स्वंय देखा है, में भी तुम्हें कहता हू - मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हें भी कही सूकर के मुखवाला न होना पडे[१७६]।

किन कर्मो से कौन सा जन्म मिलता है यह अकुशल कर्मो से निश्चित किया गया है। जन्मोपरान्त उनकी जो सुखदुःखात्मक स्थिति होती है उसे काया एवं वाणी के शुभ अशुभ कर्मो का मिश्रित फलबतलाया है।

इस शोध प्रबंध की चर्चाओं में ऊपर ऐसा कई बार स्पष्ट रुप से कहा गया है कि, कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार की क्रियाओं की मूल प्रेरणा मनुष्य का मन ही होता है। कहा गया है कि 'मनोपुब्बङ्गमाधम्मा मनोसेटेठा, मनोमया। मन सा चे पदुट्ठेन भासति व करोतिवा ततो नं दुक्खमन्चेति चक्कं व वहतो पदं[१७७]।

अर्थात - सभी कार्यो का मन ही पर्वगामी है, मन ही श्रेष्ठ है, सभी धर्म (क्रियायें) मनोमय होती है, व्यक्ति जब दुष्ट मन से बोलता है या कोई कार्य करता है तो दुःख उसके पीछे ऐसे ही हो लेता है जैसे गाडी खीचनेवाले बैलो के पीछे पीछे गाडी के चक्के चलते हैं। इसी प्रकार दूसरी गाथा में कहा गया है कि यदि व्यक्ति प्रसन्न मन से बोलता है या कोई कृति करता है तो सुख उसका उसी तरह साथ देता है जैसे कि व्यक्ति की अपनी छाया उसका साथ देती है[१७८]। चित (मन) और उसकी सभी क्रियाये ही सभी कर्मो की प्रेरणा और आधार है। इसके बिना कोई भी क्रिया 'कर्म' का रुप

धारण नहीं कर सकती। ध्यान के विषय में चर्चा करते समय ध्यानों को मानसकि कर्म कहा गया है[१७९] । क्योंकि ध्यान की सूक्ष्म और स्थूल प्रत्येक क्रिया चित के द्वारा ही संभव और संपन्न होती है। अतः कर्म विपाक के विवेचन में ध्यान रुपी कर्म के विपाक की चर्चा की जाना स्वाभाविक और आवश्यक है।

प्रथम ध्यान विपाक

ब्रह्मपारिसज्जा, ब्रह्मपुरोहिता एवं महाब्रह्मा इन लोकों में प्रथम ध्यान के विपाक स्वरुप पुनर्जन्म होता है[१८०] । ये तीन प्रकार के जन्म ध्याता की तीन प्रकार की शक्ति के अनुसार प्राप्त होते हैं[१८१] । हीन शक्ति वाले प्रथम ध्यान से ब्रह्मपारिसज्जा[१८२] लोक में मध्यम शक्तिवाले ध्यान से ब्रह्मपुरोहित[१८३] लोक में तथा प्रणीत ध्यान शक्ति से महाब्रह्मा[१८४] लोक में जन्म होता है। इस प्रकार प्रथम ध्यान में साधक अपनी ध्यान शक्ति की तरतम अवस्था के विपाक स्वरुप तीन प्रकार के जन्म धारण कर सकता है। इन देव लोकों का आयुः प्रमाण इस प्रकार बतलाया गया है। ब्रह्मपारिसज्ज १।३ कल्प, ब्रह्मपुरोहित १।२ कल्प एवं महाब्रह्मा १कल्प ।

द्वितीय ध्यान विपाक

इस ध्यान के विपाक स्वरुप प्राप्त होने वाले ब्रह्मलोक निम्न प्रकार से बतलाये गये हैं - परिताभा अप्पमाणाभा एवं आभस्सरा[१८५] ।

द्वितीय ध्यान की ये तीनों भूमिया प्रथम ध्यान भूमि के ऊपर आकाश में स्थित बताई गयी है[१८६] । यहा पर भी प्रथम ध्यान के समान ही ध्यान की तरतम अवस्था के अनुसार तीन प्रकार के जन्म प्राप्त होते हैं[१८७] । यथा - ध्यान करने की शक्ति यदि हीन है तो परित्ताभा[१८८] मध्यम है तो अप्पमाणभा[१८९] एवं प्रणीत शक्ति होने से आभस्सरा[१९०] भूमि में जन्म प्राप्त होता है[१९१] ।

तृतीय ध्यान विपाक

यहां पर भी प्रथम एवं द्वितीय के समान ही ध्यान की तरतमावस्थाओं के विपाक के अनुसार साधक तीन प्रकार से जन्म ग्रहण करता है[१९२] । हीन शक्ति से युक्त ध्यान से परितशुभा[१९३] मध्यम से अप्रमाण[१९४] एवं प्रणीत शक्ति से शुभाकीर्ण[१९५] भूमियों की प्राप्ति होती है[१९६] ।

चतुर्थ ध्यान विपाक

इस ध्यान के विपाक स्वरुप ७ प्रकार का पुनर्जन्म माना गया है। यथा - विहप्फला, असंज्ञीसत्ता, अविहा, अतप्पा, सुदस्सा, सुदस्सी एवं अकनिट्ठा[१९७] ।

इनका संक्षेप में इस प्रकार परिचय दिया जा सकता है।

वेहप्फल

जिन देवताओं के पूर्वकृत कर्मो का फल अत्यन्त विशाल होता है उनकी निवासभूमि को बृहत्फला भूमि कहते हैं[१९८]।

असंज्ञीसत्ता

जिसमें संज्ञा नहीं होती ऐसी देवभूमि। यहां संज्ञा चितचैतसिक धर्मो का उपलक्षण मात्र है। इनमें कोई भी चित-चैतसिक धर्म नहीं होते । ये देव केवल रुपस्कंधमात्र होते हैं[१९९]।

ये दोनों भूमिया आकाश में समान स्तर पर पृथक पृथक न होकर, एक ही क्षेत्र में होती है[२००]।

अविहा

अपनी भूमि का क्षणमात्र के लिये भी त्याग न करके, अनेक कल्प तक रहनेवाले ब्राह्मणो को अविहा कहा जाता है उनकी निवास भूमि को अविहा कहते है[२०१]।

अतप्पा

किसी भी कारण संताप को प्राप्त न होनेवाले ब्राह्मणो को अतपा कहते हैं। इनकी आवासभूमि को भी अतप्पा कहते हैं[२०२]।

सुदस्सा

अत्यन्त शोभित होने के कारण सुख से दिखाई देने योग्य ब्रह्माओं को सुदस्सा कहते हैं इनकी आवासभूमि को सुदस्सा कहा जाता है[२०३]।

सुदस्सी

जो प्राकृत एवं प्रज्ञाचक्षुओं द्वारा भली प्रकार देखते हैं, उन ब्रह्माआं को सुदर्शी कहा गया हे और उनकी निवास भूमि को सुदस्सी भूमि कहा जाता है[२०४]।

अकनिट्ठा

संपत्ति एवं गुणो में जो सबसे श्रेष्ठ होते हैं उन ब्रह्माओं का यह नाम है। इनकी निवास भूमि की संज्ञा अकनिट्ठा है[२०५]।

७ प्रकार के जन्मों के अनुसार चतुर्थ ध्यान की ७ भूमियां कही गयी है[२०६]। सब मिलाकर रुपावचर ध्यान के विपाक स्वरुप १६ प्रकार जन्म तथा उन जन्मो के अनुसार १६ प्रकार की भूमियां होती है[२०७]। चतुर्थ ध्यान की ७ भूमियों में से प्रथम दो को छोडकर शेष पांच भूमियां शुद्धावास भूमि कहलाती है[२०८]।

शुद्धावास भूमि में पृथग्जन, स्रोतापन्न एवं सकृदागामी व्यक्ति जन्म प्राप्त नहीं करते[२०९] । इस भूमि में केवल अनागामी-अवस्था को प्राप्त पुदगल ही जन्म ले सकते हैं। अंसज्ञीभूमि एवं वृहत्फल, इन प्रथम दो भूमियों में पृथग्जन स्रोतापन्न एवं सकृदागामी व्यक्ति जन्म प्राप्त कर सकते हैं[२१०] ।

यहां यह स्मरणीय है कि पंचम रुपावचर ध्यान विपाक चतुर्थ ध्यान में ही प्राप्त होता है।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न है कि एक ही (चतुर्थ ध्यान) ध्यान को प्राप्त होने वाले पुदगल मृत्यु के उपरान्त भिन्न भिन्न अवस्थाओं में क्यों जन्म लेते हैं । अन्य ध्यान भूमियों में जिस प्रकार 'तरतम' भाव के अनुसार जन्म होता है उस प्रकार इस ध्यान भूमियों में जन्म क्यों नहीं होता ? इस बात का समाधान इस प्रकार किया गया है।

अनागामी पुदगलो के शुध्दावासभूमि में ही (भिन्न भिन्न भूमियों में) उत्पन्न होने में इन्द्रियों के तर-तम-भाव ही कारणभूत होते हैं[२११] । इस प्रकार हैं -

१. श्रद्धेन्द्रिय के आधिक्य के कारण पुदगल अविहाभूमि में
२. वीर्येन्द्रिय के आधिक्य के कारण पुदगल अतपाभूमि में,
३. स्मृतिन्द्रिय के आधिक्य के कारण पुदगल सुदस्सा भूमि में,
४. समाधिन्द्रिय के आधिक्य के कारण पुदगल सुदर्शी भूमि में,
५. प्रज्ञेन्द्रिय के आधिक्य के कारण पुदगल अकनिष्ठ भूमि में,
जन्म ग्रहण करता है।

अरूपावचर ध्यान विपाक

ऊपर रुपावचर ध्यान के विपाक स्वरुप रुपावचर भूमियों में ४ प्रकार के रुपी ब्रह्म लोको में पुनर्जन्म की बात कही गयी है। इन रुपी ब्रह्म लोको के ऊपर चार प्रकार की अरुप ब्रह्म भूमियां बतलाई गई हैं[२१२], जिनमें अरुपी ध्यान के विपाक स्वरुप आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानत्त्यायतन, अकिंचन्यायतन एवं नैसंज्ञानासंज्ञायतन[२१३]।

इनमें जन्म लेने वाले पुदगलों को अरुपी ब्रह्म कहा गया है।

ऊपर अध्याय ४ में 'हेतु प्रत्यय से लेकर अविगत प्रत्ययक तक' २४ प्रत्ययों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था, यहां उन्हीं में से एक 'कर्म प्रत्यय' का प्रतिसन्धि के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्व है। जिसका कुछ खुलासा करना अप्रांसगिक न होगा। कर्म प्रत्यय के दो भेद है - सहजात कर्म प्रत्यय एवं नानाक्षणिक कर्म प्रत्यय[२१४] । प्रस्तुत प्रसंग के संदर्भ में नानाक्षणिक कर्म प्रत्यय से ही प्रयोजन है। अध्याय ३ मे कामावचर भूमि के कुशल व अकुशल[२१५] तथा रुपावचर एवं अरुपावचर भूमियों के जिन चित्तों की चर्चा की गई है वे ही कर्म का फल देने वाली चेतनाएं है[२१६]।

नाना क्षणो में किये जाने वाले कुशलाकुशल कर्मों को ही नानाक्षणिक कर्म प्रत्यय कहा जाता है[२१७]। ये कर्म पूर्वकृत कुशल अथवा अकुशल कर्मों के विपाक (फल) होने के पूर्व किये जाने वाले सामान्य कर्म होते हैं[२१८] और अपने निरोध के उपरान्त कुछ क्षणों से लेकर अनेक भवों (जन्मों) के अन्तराल के प्रश्चात कभी भी विपाक प्रदान कर सकते हैं[२१९]। इस प्रकार 'इस नानाक्षणिक कर्म प्रत्यय के कारण ही उपरोक्त विविध प्रकार की प्रतिसन्धियां (पुनर्जन्म) होती हैं'। इन प्रतिसन्धियों को मुख्यतः तीन भागों में बाटा गया है - ये प्रतिसन्धियां अध्याय ३ में दी गई कुशलाकुशल चेतनाओं के अनुसार होती है। इसके पूर्व जिन विविध जन्मों का विचार किया गया है उनके मूल में जो चेतनाएं होती हैं वे इस प्रकार है -

कामवचर भूमि की ८ कुशल एवं १२ अकुशल कुल २० चेतनाओं के कारण होनेवाली प्रतिसन्धियां, जिन्हें काम-प्रतिसन्धि[२२०] कहा गया है। ये दो भागों में बतलायी गई हैं। कामसुगति भूमि एवं अपायभूमि। कुशल कर्म के अनुसार कामसुगति भूमि में एवं अकुशल कर्म के अनुसार अपायभूमि में जन्म प्राप्त होता है।

पांच रुपावचर एवं चार अरुपावचर मानसिक कुशल कर्मों की चर्चा अध्याय ३ में की जा चुकी है, तदनुसार जो प्रतिसंधियां होती हैं, उन्हें रुप-प्रति सन्धि एवं अरुप प्रतिसन्धि कहा गया है। उनका परिचय इसी अध्याय में ऊपर दिया गया है। इन भूमियों में ध्यानों की परित, मध्यम एवं प्रणीत भावनाओं के अनुसार उन उन कुशल (शुभ) कर्मों के विपाक स्वरुप पुनर्जन्म होता है[२२१]।

ध्यान के सहायक तत्त्वों (धर्मो) के रुप में सम्प्रयुक्त होने वाले छन्द, वीर्य, चित्त एवं वीमांसा नामक चार अधिपति धर्मो (प्रधान लक्षणों) में से कोई एक धर्म (ध्यानकाल में) नित्य अधिपति होता है। ध्यान प्राप्त होने पर यदि वह अधिपति धर्म हीन होता है, तो ध्यान परित होता है[२२२]। जब अधिपति धर्म मध्यम होता है, तब मध्यम[२२३], और जब तीक्ष्ण होता हैं, तब ध्यान प्रणीत[२२४] होता है। इसे यु भी समझा जा सकता है कि यदि ध्यान प्राप्ति के अनन्तर उसका पुनः पुनः समावर्जन नहीं किया जाता है, तो वह ध्यान परित होता है[२२६]। कुछ समावर्जन किया जाता है तो वह ध्यान मध्यम होता है[२२६]। यदि बहुल तथा समावर्जन किया जाता है जो वही ध्यान प्रणीत हो जाता है[२२७]।

कामावचर रुपावचर एवं अरुपावचर लोक, भूमि अथवा चेतना की अवस्थाएं या चेतना इन सबको 'कर्म' संज्ञा से अभिहित किया गया है और वही चेतना कर्म रुप बनकर अनागत काल में प्रतिसन्धि रुप फल को उत्पन्न करती है। प्रतिसन्धिरुपी फल देकर एक भव (जन्म) का निर्माण करना कोई साधारण कार्य नहीं है[२२८]। इस कार्य की जटिलता का कुठ अनुमान वीथिचितों को समझकर ही किया जा सकता है। वीथिचितों के विषय में निम्न प्रकार से कहा गया है -

वीथि मार्ग को कहते हैं। जिस प्रकार लोक में छोटें बडे, टेढे-मेढे, अनेक रास्ते होते हैं, उसी प्रकार चित्त की गतियां भी अनेकविध होती है एवं मार्ग के सदृश्य होने से इन्हें वीथि[२२९] कहा गया है। ये वीथियां (चित्त के स्पन्दन) समुद्र में तरंग की भांति मनुष्य के चित्त में सर्वदा निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं। न केवल जागृत अवस्था में ही, अपितु, सुषुप्ति (स्वप्न) और मूर्च्छा आदि की अवस्था में भी ये प्रवृत्त होती रहती हैं[२३०]। यह कहा जा सकता है कि ये चित्त वीथियां ही मनुष्य जीवन है[२३१] इनके द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियों का परिज्ञान होता है और इस तरह इनका मानवीय व्यवहारों से घनिष्ठ सबंध परिलक्षित होता है[२३२]। ये चितवीथियां त्रैभूमिक (कामावचर, रुपावचर एवं अरुपावचर) संसार में अनादिकाल से प्रवृत्त होती चली आ रही हैं और तब तक प्रवृत्त (उत्पन्न) होती रहेंगी, जब तक मनुष्य निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता[२३३]। इसका तात्पर्य कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह हैं कि मनुष्य अविद्या एवं तृष्णा से प्रेरित जो भी कुशलाकुशल कर्म करता है, उनके कारण उसे बारंबार प्रतिसन्धि लेनी पडती है। उसका चित तृष्णा एवं अविद्या से मुक्त न होने के कारण अन्यान्य मार्गों से होते हुए वह त्रैभूमिक संसार में जन्म ग्रहण करता है। चित की इस मार्ग परंपरा के आधार से ही पुनर्जन्म, कर्मफल आदि को बौद्ध लोग मानते हैं[२३४]। यह सब क्षणिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार कैसे संभव है इसका समाधान चितवीथियों के सम्यक ज्ञान से भलीभांति हो जाता है[२३५]। कर्म सिद्धान्त के अनुसार ऐसा कहा जा सकता है कि व्यक्ति के कुशल या अकुशल हेतुओं के अनुसार ही चित्त की 'गति' या 'स्पदंन' होता है। इस प्रकार सभी वीथिचित्त कर्म[२३६] सिद्धान्त की सीमा में होते हुए भी कर्म तथा पुनर्जन्म की प्रक्रिया को समझने के लिए उनके विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। अपितु जिन्हें वीथिबाहय चित कहा गया हैं उन्हें समझ लेने पर पुनर्जन्म या 'भव' की प्रकिया का ज्ञान हो जाता है। 'प्रतिसन्धि भंवंग और च्युति' इन्हें ही वीथिबाहय चित्त कहा जाता है[२३७]। या इसे यो भी कहा जा सकता है कि चेतना के इन त्रिविध कार्यो को वीथि बाहय चित्त कहा गया है। प्रतिसन्धि, भवंग एवं च्युति चित्तों को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है। किसी नये भव में प्रथम क्षण में जन्म ग्रहण करने वाला चित्त 'प्रतिसन्धि चित्त' कहलाता है। जन्म ग्रहण करने वाला चित्त 'प्रतिसन्धिचित्त' कहलाता है। जन्म गहण करने के अनन्तर क्षण में ही प्रतिसन्धि चित नयी चित्त सन्तति को जन्म देकर निरुद्ध हो जाता है। यह नयी चित्त सन्तति जन्म भर चलती है, इसी को भंवग चित्त कहा जाता है। जीवन की समाप्ति के समय मृत्यु-क्षण का जो अन्तिम चित्त होता है, उसे च्युति चित्त कहा जाता है। भंवग चित तथा च्युति चित्त दोनों प्रथम क्षण के प्रतिसन्धि चित्त से सन्ततिक्रम से जुडे होते है और एक दूसरे के समान होते हैं[२३८]। वीथिचित्त अनेक कहे गये हैं। किसी भी भव में प्रतिसन्धि से लेकर 'च्युति चित्त' पर्यन्त चलनेवाले भंवग चित्त की कुशल अकुशल एवं अव्याकृत कर्मो तथा कामावचर रुपावचर,

अरुपावचर और लोकोत्तर भूमियों के अनुसार जितनी भी अवस्थाएं होती हैं, जितने भी स्पन्दन होते हैं, जितनी भी चेतनाएं होती हैं, उन सब को 'वीथिचित्त' यह संज्ञा दी गई है। प्रतिसन्धि, भंवग ओर च्युति चित के स्पन्दन भंवग कहलाने वाली चित्त सन्तति के रुप में भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी जन्मों में 'नदी की धारा की तरह सतत प्रवर्तित होते रहती है'।[२३९] वीथिचित्त एवं वीथिमुक्त चित्त की दृष्टि से विचार किया जाय तो इस प्रबंध यह अध्याय 'वीथिमुक्त संग्रह' के अन्तर्गत आता है।[२४०-...]

संदर्भ

१-८ तक के लिए देखें, अ.सं. हिं.भा. भ.आ.को., पृ. ६० ।

९-१६ तक के लिए देखें, अ.सं. हि.भा. म.आ.कौ., पृ. ६० ।

१७. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. २०४ ।

१८. रुप-अरुप विपाक स्कंध का आशय यहां रुपावचर एवं अरुपावचर ध्यान से होने वाले पुनर्जन्म से है ।

१९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. २०४ ।

२०. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ५०८ ।

२१. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५१० ।

२२. वही। २३. वही, पृ. ५११ ।

२४-२५ अं.नि. अ. भाग २, पृ. ११० ।

२६. अं.नि.अ. भाग २, पृ. ११० ।

२७. अभि.सं., भाग २, पृ. ५१२ ।

२८. अभि.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५१४ ।

२९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. २०४ ।

३०. अभि.सं., भाग २, हि.भा. पृ. ५१४ ।

३१. अभि.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५१५ ।

३२. विभंग अट्ठकथा, पृ. ४२९-३० । ३३. वही, पृ. ४३० ।

३४. अभि.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५१६ ।

३५. वही। ३६. वही, पृ. ५१७ ।

३७. विभंग अट्ठकथा, पृ. ४३०-३१ ।

३८. अभि.सं., भाग २, हि.भा. पृ. ५१७ ।

३९. विभावनी, पृ. १२९ ।

४०. अभि.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५१७ ।

४१ प्राणातिपात, चोरी-आदि कर्मो के द्वारा जीविकोपार्जन करना, अकुशल आचिण्ण कर्म है। नित्य दान, शील, भावना आदि करना यह कुशल आचिण्ण कर्म कहे जाते है। अभिधम्मत्थसंगहो, भाग २, हि.भा., पृ. ५१८ ।
४२. वही, पृ. ५१७ ।
४३. वही, पृ.५१९ ।
४४. विभावनी, पृ. १२९ 'एतेहि पन तीहि मुतं पुनप्पुनं लद्धासेवनं कट्टत्ता वा पन कम्मं नाम होती। ४५. विशुद्धिमग्ग, पृ. ४२५ ।
४६. अभि.स. भाग २, हि.भा., पृ. ५२१ ।
४७. ए कम्मा हूज़ रिजल्ट इज टू बी एक्सपीरियन्स्ड आन रिबर्थ दि.क.आ.क.अ.रि.इ.थे.बु., पृ. २८०। तस्मा दिट्ठ धम्मस्स समीपे अनन्तरे पज्जितब्बो गन्तव्वो ति उपपज्जो, दुतियो अतभावो। उपपज्जे वेदितब्बं फल एतस्सा ति उपपज्जवेदनीय्र ति एवंमत्थो तस्स पाठस्स वसे । वेदितब्बो। उपपज्जा ति वा अनन्तरे भवे पवतो एको निपातो परमत्थदीपनी, पृ.१८३।
४८. अपरापरभव में वेदनीय कर्म को ही अपरापरवेदनीय कर्म कहते हैं - परमत्थदीपनी, पृ. १८३ । प्रत्युत्पन्न भव एवं तदनतंरवर्ती द्वितीय भव से अन्य भव परंपरा (तृतीय भव से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक के भवों) को अपरापरिय कहा जाता है। विशुद्धिमार्ग, महाटीका, भाग २, पृ. ३७६ ।
४९. पटिसंभिदामग्ग, पृ. ३२२ ।
५०. अभि.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५२९ ।
५१. भ.बु.औ.उ.घ., पृ. १९० ।
५२. भरतसिहं उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३ ७५ ।
५३. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५८ ० ।
५४. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५९५ ।
५५. विशुद्धिमग्ग, पृ. १५५ ।
५६. इसी प्रबंध के इसी अध्याय मे
५७. अ.सं. भाग २३, हि.भा., पृ. ५८६ ।
५८. वही।
५९. 'आयुकम्मांन समकमेव परिक्खीणता मरण उभयक्खयमरणं'। विभावनी, पृ. १४२ ।
६०. विभावनी, पृ. १४२ ।
६१. अभि.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ५८७ ।
६२. विशुद्धिमग्ग, पृ. १५५ ।
६३. मिलिन्द पन्हो, पृ. २९६ ।
६४. बौ.ध.वि.इति., पृ. १२ ।

६५. विस्तार के लिये देखें, प्रस्तुत शोध-प्रबंध, अध्याय १, वैचारिक पृष्ठभूमि।
६६. भगवान बुद्ध और उनका धर्म (आत्मनिवेदन), पृ. ११ ।
६७. वही, पृ. २६० ।
६८. वही, पृ. २६१ ।
६९. मिलिन्दपन्हो, पृ. ७५ ।
७०. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १८० ।
७१. वही।
७२. वही।
७३. वही।
७४. अ.सं., भाग २, हिन्दी भाषान्तर, पृ. ८२४ ।
७५. अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ८२४ ।
७६. वही।
७७. वही।
७८. वही।
७९. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १८१ ।
८०. वही।
८१. वही।
८२. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३७४ ।
८३. भरतसिहं उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३७४ ।
८४. वही।
८५. वही।
८६. विस्तार के लिए देखें, वही।
८७. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, पृ. ३७५ ।
८८. वही।
८९. अ.सं. भाग १, हि.भा. भूमिका, पृ. २३ ।
९०. कामनां अर्थात इच्छा एवं भोगों की प्राप्ति हेतु यत्न करने वाले सत्त्व जहां वास करते हैं, उस लोक को कामनालोक कहा जाता है। अभि.स., पृ. १६७।
९१. भरतिसंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३७७ ।
९२. अं.नि., भाग ३, हि.भा., पृ. ३२३ ।
९३. वही।
९४. वही।
९५. वही।
९६. अं.नि., भाग ३, हि.भा., पृ. ३२४ ।
९७. वही, भाग २, हि.भा., पृ. १९५ ।

९८. वही, पृ. १९६ ।

९९. वही। ,

१०० -१०४ तक देखें, अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ४७६ ।

१०५. वही, पृ. १६४ ।

१०६. वही, पृ. २२१-२३ ।

१०७. अं.नि., भाग ३, तमोतम सुत।

१०८. अं.नि., भाग ३, हि.भा., पृ. ३२३ ।

१०९. वही, पृ. ३२४ ।

११०. अ.सं., हि.भा., भाग २, पृ. ४७६ ।

१११. पूरी तरह भूमि से स्पर्श करने वाले 'तलवें' जिनके पैरों में होते हैं उन्हें सुप्रतिष्ठित पाद कहा जाता है।

११२. दी.नि. ३।७ लक्खण सुत।

११३. वही। ,

११४-११६ . देखें, दी.नि., ३।७ ।

११७. दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों कंधे एवं गर्दन भरी हुई होती है। वही।

११८. वही।

११९. वही।

१२०. मुनष्य के शरीर के ऊपर जो लोभ होते हैं वे साधारण मनुष्यों में ऊपर की ओर झूके हुए पाये जाते हैं, जबकि महापुरुष में ऊपर की और रहते हैं। दी.नि., हि.अ., पृ. २६३ ।

१२१. वही

१२२. दीघ नि. का हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश काश्यप, पृ. २६२ ।

१२३. वही।

१२४. वही।

१२५. दीघ.नि., ३।७ ।

१२६. वही।

१२७. सीधे खडे होकर बिना झूकते हुए दोनों जानु को अपने हाथ के तलवोंसे छुना एवं परिमार्जित कर सकना ही आजानबाहु कहलाता है, देखिए - दी.नि., ३।७ ।

१२८. शरीर के सामने का उपरि अर्द्धभाग सिंह के समान होना।

१२९. दोनों कंधों के बीच का भाग भरा हुआ होना। दीघ.नि., हि.अ., पृ.२६६, म.प. राहूल सांकृत्यायन एवं भि.जग.कश्यम।

१३०. दोनों कंधो का भाग समान रुप से गोलाकार होना (हिज बस्ट इज इक्वली) राऊन्डेड) - डायलाग ऑफ दी बुद्धा पार्ट , श्री. रायजडेविडस, पृ. १५५ ।

१३१. जिह्वा के अग्रमाग पर कोई खाने की चीज रखते ही उसके स्वाद का पता लग जाना एवं वह रस शरीर के संपूर्ण भाग में फैल जाना। डायलाग आफ दि बुद्धा, भाग ३, रीजडेविडस, पृ. १५६ ।

१३२. दीघ. नि., ३।७ ।

१३३. गाय के समान पलकें होना। दीघ.नि., वही, ३।७ ।

१३४. वही।

१३५. वही।

१३६. वही।

१३७. वही।

१३८. वही।

१३९. दीघ.नि., ३।७ ।

१४०. वही।(करविंकपक्षी के समान स्वर)।

१४१. वही।

१४२. वही।

१४३. वही।

१४४. दीघ.नि., ३।७ ।

१४५. दीघ.नि. हि अनु., पृ. २०१ म.प.रा. सांकृत्यायन एव भिक्षु जगदीश काश्यप।

१४६. वही।

१४७. अ.सं. भाग २, हि. भा., पृ. ४७७ ।

१४८. घृतराष्ट्र, विरुतहक, विरुपाक्ष एवं कुधेर ये ही वे चार महाराजा है। दीघ.नि., हि.अ., म.प.रा. सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, पृ. २०१ ।

१४९. अ.स., भाग २, हि.भा., पृ. ४७७ ।

१५०. विभंग अट्ठकथा, पृ. ५२७ ।

१५१. अतनों सिरिसम्पतिया तुसं पीतिं इतागताति तुसिता - दृष्टव्य, विभावनी, पृ. १२३ ।

१५२. वही।

१५३. नीचे की चार देवभूमियों (चातुर्माहाराजिका, तावतिंसा, यामा एवं तुसिता) में रमण करने के लिए नियत रुप से रमणियां भी होती है किन्तु निम्नानरति देवभूमि में ऐसी नियत रमणियां नही होती। ये देव अपनी इच्छानुसार उनका निर्माण करते हैं। दृष्टव्य, विभंग अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१५४. यथा रुचिते भोगे सयमेव निम्मनित्वा रमन्ति एत्थाति निम्मानरति, विभागनी, पृ. १६६ ।

१५५. अ.सं., भाग २, हि.भा., पृ. ४७९ ।

१५६. पुच्छामि तं देवि महानुभावे मनुस्सभूता किमकासि पुज्ज ... यस्स कम्मस्सिदं फलं ? परिच्छतक वग्ग।

१५७. परिच्छतक वग्ग।

१५८. अभि.सं., भाग २, पंचम परिच्छेद, पृ. ४६६ ।

१५९. वही, पृ. ४७६ ।

१६०. जो कुशल धर्मों को बढाता है वह धर्म (कर्म) अय है एवं जिसमें सुख नहीं है वह निरय है। विभावनी, पृ. १२३ ।

१६१. विभावनी, पृ. १२३ ।

१६२. म.नि., भाग ३, पृ. २३७ । 'न सुकुरा अवखानेन पापुणितुं याव दुक्खनिरया' ।

१६३. अं.नि. भाग ३, हि.भा. भ.आ. कौ., पृ. ३२३ ।

१६४. वही।

१६५. अभि.सं. भाग २, पृ. ४९२ ।

१६६. स्रोतापन्नादि के परिचय के लिए देखें, अध्याय ३ ।

१६७. अभि. .. सं. भाग २, पृ. ४७४ ।

१६८. वही।

१६९. अं.नि. भाग ३, म.आ.कौ. पृ. ३२३ ।

१७०. विभावनी, पृ. १२३ ।

१७१. वही, (नानाअसुरों का वर्णन), देखिए परमत्थदीपनी, पृ. १६३. (विनिपातिक असुर) देखिए, वही, (वैमानिक प्रेत - असुर वर्णन)।

१७२. खन्धविभंग अट्ठकथा, पृ. ५ ।

१७३. परमत्थदीपनी, पृ. १६३ ।

१७४. अं.नि., भाग ३, हि.भा., पृ: ३२३ ।

१७५. कायो ते सब्बसोवण्णो सब्बा ओभासते दिसा। मुखं ते सुकरस्स एवं किं कम्म अफरी पुरे।

१७६. कायेन सञ्ञतो आसिं वाचा आसिं असज्जतो। तेन मे तादिसो वण्णों यथा पस्ससिनारद तं त्यहं नारद ब्रमि सायं दिट्ठं इदं तया। माकासि मुखसा पापं माखे सुकरमुखो अहुति। खेतुपमापेतवत्थु।

१७७. धम्मपद, गाथा १ ।

१७८. वही, गाथा, २ ।

१७९. देखें, अध्याय ३, इसी प्रबन्ध में ।

१८०. अ.सं. भाग २, हि.भा. पृ. ४८० ।

१८१. वही, पृ. ५७८ ।

१८२. विभंग, भाग २, पृ. ५७०, 'ब्रह्माओं की परिषद में होने वाले छोटे ब्रह्माओं को ब्रह्मपारिसज्ज' कहा गया है। विभंग अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१८३. विभंग, भाग २, पृ. ५७०, ब्रह्माओं के आगे स्थापति किये जानेवाले देवों को ब्रह्म पुरोहित कहा जाता है।

१८४. विभंग, भाग २, पृ. ५७०, 'उपरोक्त ब्रह्मपारिसज्ज एवं ब्रह्मपुरोहित से जो श्रेष्ठ होते हैं वे महाब्रह्मा कहलाते हैं', विभंग अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१८५. विभंग, भाग २, पृ. ५७१ ।

१८६. अभि.सं., भाग २, पृ. ४८१, रेवतधम्म।

१८७. विभंग भाग २, पृ. ५७२ ।

१८८. जिसकी अल्प या मर्यादित आभा होती है उसे परिताभ कहते हैं, एवं उनके निवास स्थान को परिताभा कहा जाता है। म.नि., भाग ३, पृ. २१६ ।

१८९. जिनकी आभा अप्रमाण होती है वह अप्पमाणमा है एवं उनकी निवासभूमि को अप्पमाणमा कहते हैं। म.नि., भाग ३, पृ. २१६-२१८ ।

१९०. जिनके शरीर से ही आभा निकलती है, उन्हें आमस्स कहा जाता है। उनकी निवास भूमि को आभास्सरा कहते हैं। म.नि., भाग ३, पृ. २१६-१८।

१९१. विभंग, भाग २, पृ. ५७३ ।

१९२. विभंग, भाग २, पृ. ५७२ ।

१९३. अपनी भूमि से ऊपर के ब्रह्माओं से अल्प शोभायुक्त ब्रह्मा को परितशुभा कहा जाता है। इनकी निवासभूमि को परितशुभा कहा जाता है। विभंग, अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१९४. इनकी शरीर कान्ति अप्रमाण होती है, इनकी निवास भूमि को अप्रमाण शुभा कहते हैं विभंग अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१९५. शुभा (शरीरिकान्ति) से आकीर्ण (युक्त) ब्रह्मा को शुभाकीर्ण कहते हैं इनकी निवासभूमि को शुभाकीर्णा कहा गया है विभंग, अट्ठकथा, पृ. ५२८ ।

१९६. विभंग, भाग २, पृ. ५७२ ।

१९७. अ.सं., भाग २, पृ. ४८३ ।

१९८. अ.सं., हिं.भा. भाग २, पृ. ४८३ ।

१९९. विभावनी, पृ. १८४ ।

२००. अ.सं., भाग २, पृ. ४८३ ।

२०१. विभावनी, पृ. १२५ ।

२०२. वही।

२०३. वही।

२०४. वही।

२०५. विभावनी, पृ. १२५ ।

२०६. अभि.सं., १० ।

२०७. अभि.सं., भाग २, अनु. रेवतधम्म, पृ. ४८४३ ।

२०८. अभि.सं., भाग २, पृ. ४८४ ।

२०९. वही।

२१०. वही।

२११. विभावनी, पृ. १४० ।

२१२. अ.स., भाग २, हिं.भा. पृ. ४८५ ।

२१३. वही।

२१४. वही, भूमि कहने पर भी इनमें विमान आदि नहीं होते । दृष्टव्य, विभावनी, पृ. १२५ ।

२१५. अ.स. भाग २, हिं.भा. पृ. १०४० ।

२१६. वही, पृ. ५७१ से ५७९ तक देखें (विस्तार के साथ)।

२१७. अ.सं., भाग २, हिं.भा., पृ. १०४१ ।

२१८. वही, पृ. १०४०-४१ - 'ये नानाक्षणिक कर्म युगपत' (एकक्षण में) नहीं होते, अपितु फल (प्रत्ययोत्पन्न) धर्मों से पूर्व होते हैं।

२१९. वही।

२२०. बारह अकुशल चेतनाओं में औद्धत्य-चेतना फल नहीं देती ऐसा माना गया है। विस्तृत विवेचन के लिए देखें, अ.सं. भाग २, पृ. ५७० ।

२२१. वही, पृ. ५७८ । २२२से२२७ अ.सं. भाग २, हि.भा., पृ. ५७८ ।

२२८. वही, पृ. ५७० ।

२२९-२३० . अ.सं., हि.भा., भाग १, भूमिका, पृ. २७-२८ ।

२३१-२३४. अ.सं., हि.भा. भाग १, भूमिका, पृ. २७-२८ ।

२३५. वही, पृ. २८ ।

२३६. वीथियां मुख्यतः दो प्रकार की कही गई है - पंचद्वारवीथि एवं मनोद्वार वीथि। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिहवा एवं काय इन्हें ही पंचद्वार कहा गया है, इन इन्द्रियो के रुप, शद्ब, गंध, रस एवं स्पर्श इन विषयों के आलंबन के प्रादुभाव से उत्पन्न चित सन्तति को पंचद्वार वीथि कहा गया है। अ.स. हि.भा., भाग १, पृ. ४०४ । उपरोक्त पंचद्वार की अनुगामिनी न होकर केवल मनोद्वार में हां प्रादुर्भाव आलंबनो का आलंबन करनेवाली (चित सन्तति) वीथि मनोद्वार वीथि कहलाती है। देखें, वही, ४१८ ।

२३७. पंचद्वार एवं मनोद्वार इस प्रकार कुल छह द्वारों से प्रवर्तित होनेवाली चित प्रवृत्ति ही वीथिचित्त चित कहलाती है, एवं उनसे असंबद्ध या द्वार विमुक्त कहे जाने वाले प्रतिसन्धि, भवंग एवं च्युति चित्तों की प्रवृत्ति को वीथि नहीं कहा जा सकता - देखें, विस्तृत विवेचन के लिए - अं.सं. हि.भा., भाग १, पृ. २८८ ।

२३८. वही, पृ. ६१५ ।

२३९. वही, पृ. ४५६ ।

२४०. अ.सं. पृ. ६७, भ.आ.कौ ।

■□■□

षष्ठ अध्याय

कर्म मल से निवृत्ति के उपाय

पूर्व के अध्यायों में कर्म का महत्व, कर्म की परीभाषा, कर्म और चेतना, कर्मो के भेद, कर्म की अवस्थाएं, कर्म-विपाक तथा कर्म और पुनर्जन्म आदि विषयों का समुचित विवेचन किया गया है। अब यह देखें कि भगवान बुद्ध के उपदेशानुसार मल की परिभाषा क्या है ? मल किसे कहते हैं, कर्म मल क्या होता है व उससे निवृत्ति के क्या क्या उपाय बताए गये हैं।

कर्म मल के संबंध एक उपाख्यान इस प्रकार दिया गया है - 'मनुष्य की मृत्यु समय समीप आयी है, वह प्रयाण के लिए तैयार है,' किन्तु उसके पास पाथेय कुछ भी नहीं है। सो उसे चाहिए कि रक्षा स्थान बनाने के लिए परिश्रम करे, पण्डित बनकर, दोषरहित होकर मल को धोकर स्वच्छ होवे।[१] इस गाथा में जिसे पाथेय कहा है वह कुशल कर्म है, जिस मल को धोने की बात कही गयी है, वह अकुशल कर्म है भ. बुध्द कहते है कि मनुष्य की ... आयु समाप्त हो रही है। 'वह यम के पास अर्थात मृत्यु के समीप पंहुच चुका है किन्तु उसका आश्रय स्थल भी कहीं नहीं हैं।[२] यहां जिसे आश्रय स्थल कहा गया है वह कुशल कर्म है। जिस प्रकार लोहे से निकला हुआ मेल (जंग) उसमें से उत्पन्न होकर उसी को खाता है, उसी प्रकार अपवित्राचरण, अर्थात कुशल कर्मो का अतिक्रमण, करनेवाले को उसके अपने ही कर्म दुर्गति की और ले जाते हैं।[३] आगे कहा गया है - स्वाध्याय न करना मंत्रो का मल है, वर्ण (सौदंर्य) का मल आलस्य है (एवं) असावधानी रक्षक (पहरेदार) का मल है, मरम्मत न करना घरों का मल हे।[४] यहा इस गाथा का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सावधान न रहना पहरेदार का मल (दोष) होता है उसी प्रकार साधक के लिए भी असावधान होना अर्थात स्मृतिमान या जागरुक न रहना एक मल है। इससे साधक अकुशल कर्म में प्रवृत्त हो सकता है आगे और कहते हैं - जिस प्रकार दुराचरण स्त्री का मल होता है और कृपणता (कंजूसी) दानी (दायक) का, उसी प्रकार बुरा कर्म इस लोक एवं परलोक दोनों का मल होता है।[५] इससे यह सर्वथा स्पष्ट होता है कि अकुशल कर्म इस लोक एवं परलोक में एक ओर दुर्गति के हेतु बनते हैं, तथा दूसरी ओर चित्त को मलिन करने के कारण मुक्ति के प्रयत्नों में बाधक सिद्ध होते हैं। आगे कहते हैं कि जो व्यक्ति अकुशल कर्म अर्थात प्राणातिपात, मृषावाद, चोरी, परस्त्रीगमन और नशीली वस्तुओं का सेवन करने में लगा रहता है, वह यहीं इसी लोक

में अपनी जडे स्वंय खोदता है, और दुर्गति या अवनति को प्राप्त होता है।[६] उपरोकत विवेचन से यह स्पष्ट है कि अकुशल कर्म ही कर्ममल है। इन अकुशल कर्मो का मूल हेतु अविद्या है।

पांच प्रकार के नीवरण, दस प्रकार के संयोजन,[७] ओर दस प्रकार के क्लेश[८], ये ही आम्यतंर दृष्टि से कर्ममल हैं तथा इन नीवरणों, संयोजनो एवं क्लेशो का शोधन व प्रहाण ही मुक्ती का उपाय है। इन्हीं को 'आस्रव' अथवा चितमल भी कहा गया है और इनके क्रमिक प्रहाण, निरोध व तरस्तम भाव के अनुसार ही आध्यात्मिक विकास की स्रोतापन्न प्रभृति चार अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा ये पांच नीवरण है। इनके संबंध में हम ऊपर अध्याय ३ में समुचित चर्चा कर आये हैं। दस संयोजन इस प्रकार कहे गये हैं - कामराग, संयोजन, भवरागसंयोजन, पटिघ संयोजन, मानसंयोजन, दिटिठ्संयोजन, सलिव्बतपरामर्श संयोजन, विचिकित्सा संयोजन, ईषासंयोजन, मात्सर्य संयोजन एवं अविद्या संयोजन।[९] इन पर प्रसंगानुकल, आगामी अध्याय में विचार करेंगे। क्लेशों की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

चितं किलिस्सन्ति विबाधेति उपतापेन्ति चा ति किलेसा।

किलिस्सन्ति वा मलिनभावं निहीन भावच्च गच्छति सत्ता एतेहीति किलेसा।[१०]

जो चित्त को बाधित करते हैं अथवा अग्नि की तरह तप करते हैं, और जिनके कारण जीव मलिन भांव, हीन भाव अथवा क्लेश को प्राप्त होते हैं उन्हें क्लेश कहते हैं। वे इस प्रकार हैं - लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, अहीकता एवं अनपत्राप्य। इनमें से लोभ, द्वेष, एवं मोह का विचार अध्याय चार में किया गया है। शेष के संबंध में निम्न प्रकार से कहा गया है -

दृष्टि

मिच्छा पस्सतीति दिटिठ अभिनिवेस लक्खणा
परामासरसा मिच्छाभिनिवेस - उपट्ठाना।
अरियानं अदस्सनकामतादिपदट्ठाना।[११]

श्रेष्ठ आठ आर्य पुदगलों (स्रोतापन्न, सकदागामी, अनागामी और अर्हत, मार्गस्थ एवं फलस्थ) को न देखने की इच्छा करने वाले एवं वस्तुआं के यथार्थ रुप (अनित्य, अनात्म एवं दुःख) को न देखनेवाले एवं सभी अनर्थो को लाने वाले चैतिसक को 'दृष्टि' कहा गया है। इस जगत को नित्य तथा सकतृक (ईश्वरकृत) मानना इसे ही मिथ्याभिनिवेश[१२] कहा गया हैं।

मान

जिस धर्म के द्वारा पुदगल अपने गुण आदि में दूसरों से अधिक (बडा) मानता है उसे मान कहा गया है।[१३]

विचिकित्सा

पदार्थों के स्वभाव का विवेचन करते हुए पुदगल जिस धर्म की वजह से क्लेश को प्राप्त होता है, वह विचिकित्सा है।[१४] यह वस्तुओं के अनित्यादि स्वभावों के विषय में विवेचन करते समय किसी निश्चय पर न पहुंच सकने के कारण दुःख का अनुभव करता है।[१५]

स्त्यान

वीर्य (उत्साह) को दूर करने वाला धर्म ही स्त्यान कहलाता है यह अनुत्साह के रुप में योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।[१६]

औद्धत्य

जो उद्धत का भाव है औद्धत्य है। उसमें उपराश का अभाव रहता है, औद्धत्य से सम्प्रयुक्त चित्त आलंबन में स्थिर नहीं रह पाता, वायु के अभिधान से चंचल जल की भांति यह चित भी आलंबन में अनवस्थित रहता है। यह सर्वदा प्रकम्पित होने के स्वभाव वाला है।[१७]

आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य

कायदुश्चरितादि से जुगुप्सा न करना आह्रीक्य का लक्षण है, इसका शद्बार्थ निर्लज्जता है। पाप से जो धर्म उद्विग्न नहीं होता, वह अनपत्राप्य है कायदुश्चरितादि से त्रस्त या भयभीत न होना इसका लक्षण है। इन दोनों धर्मों का कृत्य अकुशल कर्म करना है। आत्म गौरव या पर गौरव का इनमें अभाव होता है। इन धर्मो के कारण व्यक्ति अकुशल कर्म करने में संकोच नहीं करता।[१८]

कुकर्म करते समय अपने से ही लज्जा का न होना आह्रीक्य है।[१९] दूसरों से लज्जा का न होना अनपत्राप्य है।[२०] इस प्रकार ये दस प्रकार के क्लेश आभ्यंतर मल हैं। तथापि अविद्या ही वह मूल स्रोत है जिससे ये उत्पन्न होते हैं। स्वयं अविद्या को भी कर्ममल कहा गया है, क्योंकि इस लोक तथा परलोक में जितनी भी दुर्गतियां होती हैं, वे सब अविद्यामूलक हैं और इच्छाओं तथा लोभ के कारण उत्पन्न होती हैं।[२१] इसी कारण भगवान बुद्ध कहते हैं कि -

ततो मलामलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवे।[२२]

अर्थात अविद्या सभी मलों की अपेक्षा बडा मल अथवा परम मल है। अतः हे भिक्षुओं, इस मल को धोकर निर्मल हो जाओं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अविद्या ही परमार्थ रुप से कर्ममल हैं, क्योकिं उसके कारण ही मनुष्य दुर्गतिगामी कर्म करता है। इसके साथ स्वर्ग लाभ आदि की शुभ तृष्णा भी कर्म मल ही है। उसी की प्रेरणा से जीव सुगतिगामी कर्मो में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु वे भी, निश्चयतः बन्धनकारी हैं। यही कारण है कि भगवान बुद्ध ने कहा था -

अनेकं जाति संसार संघाविस्स अनिब्बिसं,
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूंट विसङखितं
विसंखारगतं चितं तण्हाणं खयमज्झगा।[२३]

अर्थात अनेक जन्मों तक मै निरन्तर इस संसार में परिभ्रमण करता रहा और बारबार के जन्मों में दुःख भोगता रहा, किन्तु ओ घर बनाने वाले (जन्म का कारण होनेवाली तृष्णा) अब मैनें तुझे देख लिया है, तू अब पुनः घर न बना सकेगी। तेरी सब क़डियां टूट गयी हैं, भव का शिचर ढह गया हे, चित संस्कार से विमुक्त हो गया हे और सभी तृष्णाओं का पूर्ण क्षय हो गया है। इस उद्धरण में अविद्या को 'गृह शिखर' कहा गया है, क्योकिं इसी के कारण कुशल अकुशल कर्म (संस्कार) होते हैं। यही अविद्या कर्मो का मूल है और यही कर्ममल ही है। यही अविद्या मूलक तृष्णाओं के कारण ही सत्व बारबार नाना योनियो में जन्म लेते हैं। भगवान बुद्ध के इस कथन का आशय यह है कि उन्होंने अविद्या एवं तृष्णा ये दो जिसके प्रमुख आधार स्तंभ है उस प्रतीत्य समुत्पाद को देख लिया है और अविद्या से लेकर जरामरण तक जो बारह कडियां है, जो जन्म मरण एवं जन्मजन्मांतर की श्रृंखला को द्योतित करती हैं, उन सबको उन्होंने तोड दिया है, क्योंकि श्रृंखला के मूल (अविद्या) का ही उच्छेद कर दिया गया है। तृष्णा जो कि जन्म के प्रति आसक्ति का कारण थी, उसका भी मूलोच्छेद हो गया है।

चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, पुत्र के मरने का दुःख सहा है, लडकी के मरने का दुःख सहा हे, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है, उन माता के मरने का दुःख सहनेवालो ने पिता के मरने का दुःख सहनेवालो ने, पुत्र के मरने का दुःख सहनेवालो ने, लडकी के मरने का दुःख सहनेवालो ने, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहनेवालो ने, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहनेवालो ने, संसार में बारंबार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण जो रो-पीटकर आसू बहाएं है वे ही अधिक है, इन चारों महासमुद्रो का जल नही।[२४] यह सब तृष्णा मूलक कर्मो का

विपाक है, ऐसा कहा जा सकता है।

आगे कहा गया है कि ग्रामघातक चोर है, डाका डालने वाला चोर है, पराई स्त्री के पास जानेवाला चोर है। चिरकाल से ऐसे चोरों व अपराधियों के सिर काटे जाने से जो रक्त बहा है, वही अधिक है, यह चारों महासमुद्रों का जल नहीं।[२५]

कहा गया है कि पैदा होना, बूढा होना, मरना, शोक करना, रोनापीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना, इच्छा की पूर्ति न होना, अप्रिय का संयोग होना एवं प्रिय का वियोग होना यह सब दुःख हैं, संक्षेप में कहा जाय तो पांचों उपादान स्कंध ही दुःख है।[२६] यह सब दुःखकारक कर्म है। यही प्रथम आर्य सत्य है। द्वितीय आर्य सत्य इस प्रकार है ।संसार में चक्षु प्रियकर हैं।[२७] चक्षु-विज्ञान प्रियकर है,[२८] चक्षु-स्पर्श प्रियकर है, चक्षु-स्पर्श से होनेवाली वेदना प्रियकर है।[२९] इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिहवा, काय एवं मन के विषय में, उनके विज्ञान के विषय में, स्पर्श के विषय में एवं उन विषयों के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाली वेदना के विषय में जानना चाहिए।

मनुष्य अपनी आंख से रुप को देखता है, प्रिय लगे तो उसमें आसक्त हो जाता हैं, अप्रियकर हो, तो उससे दूर भागता है।[३०] यही बात अन्य इन्द्रियों श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, काय एवं मन के विषय में चरितार्थ होती है।[३१]

इस प्रकार आसक्त होने वाला तथा दूर भागने वाला, जिस दुःख, सुख या अदुःखःअसुख किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव करता है, वह उस वेदना में आनंद लेता है, प्रशंसा करता है, उसे अपनाता है, वेदना को जो अपना बनाता हे, वही उसमें राग (आसक्ति) उत्पन्न हो जाना है। वेदना में जो राग है वही उपादान है, जहां उपादान है, वहां भव है, जहां भव हे, वहां पैदा होना है, जहां पैदा होना है, वहां बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना, यह सब होता है। इस प्रकार इस सारे दुःख का समुदय होता है।[३२] अतः यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त प्रकार से जो बारबार जन्म का कारण है यह जो लोभ तथा राग से युक्त हैं,वह जो यत्र-तत्र-सर्वत्र जन्म का अभिनंदन करती है, यह जो तृष्णा है, जैसे कामतृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा, वह तृष्णा ही दुःख समुदय के विषय में द्वितीय आर्य सत्य है।[३३]

उपरोक्त तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, निरोध, परित्याग उस तृष्णा से मुक्त, अनासक्ति यही दुःख-निरोध के विषय में (तृतीय) आर्य सत्य है।[३४]

संसार में जो प्रियकर है, संसार में जिसके कारण आनंद आता है, उसी तृष्णा का प्रहाण करने से यह प्रहाण होता हे, उसी का निरोध करने से निरुद्ध हो जाती है।[३५] उसे चाहे पिछले समय के, चाहे अब के, चाहे भविष्य के जो भी श्रमण-ब्राह्मण

दुःख करके समझेंगे, रोग करके समझेंगे, और उससे डरेंगे, वे ही तृष्णा को छोड सकेंगे।[३६]

सत्त्वों के पंच उपादान-स्कंधात्मक अथवा नाम-रुपमय, अस्तित्व में यह जो रुप का निरोध होना है, उपशम होना है, यही दुःक्ष का निरोध है, रोंगो को उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।[३७] यही बात वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान[३८] के विषय में कही गयी है। 'तृष्णा' के पूर्णतः निरोध हो जाने से उपादान का निरोध हो जाता है, 'उपादान' के निरोध हो जाने से भव का निरोध हो जाता है, 'भव' के निरोध हो जाने से (जाति) का निरोध हो जाता है। जन्म का निरोध हो जाने से बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना, ये सब निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण दुःख-स्कधं का निरोध हो जाता है।[३९]

परन्तु उसका क्या उपाय है, कौन सा मार्ग है जिससे साधक सम्यक प्रकार से सारे दुःखो का अन्त कर सके? आर्य-अष्टांगिक मार्ग ही वह उपाय है जिससे संपूर्ण दुःख-समूह का अन्त किया जा सकता है। इसके संबंध में भगवान बुद्ध कहते हैं कि दुःख का अन्त करने के लिए यही एक मार्ग है दूसरा नहीं। इस मार्ग पर चलकर ही, ब्रह्मचर्यवास पूर्ण करके साधक इस दुःख-परंपरा का समुलोच्छेद कर सकता है।[४०] जिस प्रकार सुवर्णकार चांदी के मैल को क्रमशः थोडा थोडा करके प्रतिक्षण नष्ट करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को भी अपने अकुशल कर्मों रुपी मल को प्रतिक्षण थोडा थोडा क्रमशः नष्ट करना चाहिए।[४१]

साधना पक्ष की दृष्टि से इसी आर्य अष्टांगिक मार्ग का विस्तार ३७ बोधिपक्षीय धर्मों के अन्तर्गत किया गया है। अतः इनके संबंध में समुचित चर्चा आवश्यक है।

बोधि पक्षीय धर्म क्या और कौन से

जो धर्म निश्चयतः सम्यक सम्बोधि को प्राप्त कराते है और आर्य अष्टांगिक मार्ग को समाहित करते हैं, अथवा स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्ग में अन्तर्भूत होते हैं, उन्हें बोधिपक्षीय धर्म कहा जाता है। ऐसे धर्म ३७ कहे गये है। विशुद्धिमग्ग में कहा गया हे कि इन ३७धर्मों को निर्वाण का बोध कराने से बोधि तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग के पक्ष में होने से अर्थात इस मार्ग के उपकारक होने से उन्हें बोधिपक्षीय धर्म कहा गया है।[४२] निर्वाण प्राप्ति या कर्म - मलों से निवृत्ति के उपाय के रुप में बोधिपक्षीय धर्मों का स्थान सर्वोपरि है। इनके महत्व के सबंध में भगवान बुद्ध ने कहा है कि जो इन बोधिपक्षीय धर्मो में प्रमाद रहित होकर उद्योग करेगा, वह आवागमन को छोडकर दुःख का अन्त करेगा।[४३] इस प्रकार भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म-मार्ग, अथवा निर्वाण-पथ का सम्यक बोध कराने वाले धर्मो को जाने बिना मुक्ति मार्ग को समझा नहीं जा सकता। ये बोधिपक्षीय धर्म इस प्रकार हैं -

१. चार स्मृति प्रस्थान

२. चार सम्यक प्रधान

३. चार ऋद्धिपाद

४. पांच इन्द्रियां

५. पांच बल

६. सात बोध्यंग

७. आर्य-अष्टांगिक मार्ग।

इन धर्मो का उपदेश महासुकूलदायी सुत[४४], महापरिनिव्बाण सुत[४५], संयुत्त निकाय[४६], विभंग[४७], मिलिंदपन्ह[४८], तथा विशुद्धिमग्ग[४९] आदि अनेक पालि ग्रंथो में पाया जाता है। इनका स्वरुप इस प्रकार है -

चार स्मृति प्रस्थान

१. काया में कायानुपश्यना

२. वेदनाओं में वेदनानुपश्यना

३. चित में चितानुपश्यना और

४. धर्मो में धर्मानुपश्यना।[५०]

'स्मृति' शद्ब बौद्ध साधना में बहुत ही व्यापक अर्थो में ग्रहण किया गया है। पालि में स्मृति को 'सति' कहा गया है। सामान्यतः स्मृति का शद्बार्थ 'स्मरण करना' एवं 'स्मरण शक्ति' से होता है। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि स्मरण किसका? अपना या औरों का ? अपने किसी वृत्त या कृति का स्मरण अथवा किसी अन्य के ? इसका उत्तर है स्वंय का अर्थात अपनी काया, वाचा एवं मन से किये जाने वाले प्रत्येक कर्म का स्मरण। जानते हुए, ज्ञानपूर्वक, प्रत्येक कर्म को करना[५१] इसे भी स्मृति कहा गया है।

भगवान बुद्ध का महापिरनिर्वाण निकट आने पर स्थविरआनंद ने उनसे पूछां कि भगवन स्त्रियों के दर्शन होने पर हम क्या करेंगे ? तो बुद्ध ने कहा था कि आनंद स्मृति को बनाये रखना[५२], क्योंकि इस लोक में जितने भी झरने प्रवाहित हो रहे हैं, स्मृति (ही) उनका निवारण है।[५३] स्वयं अपनी साधना के संबंध में भगवान बुद्ध ने कहा है कि साधना के क्षणों में उनकी स्मृति पूर्णतः विद्यमान और जागृत रहती थी।[५४]

मिथ्यादृष्टि नामक मानिसक अकुशल कर्म के निवारण के लिए भी भगवान बुद्ध ने 'स्मृति' का अभ्यास करने का उपदेश दिया है। वे कहते थे कि 'पूर्वान्त[५५]

और अपरान्त[५६] दृष्टियों को दूर करने के लिए उनके अतिक्रमण के लिए मैनें चार स्मृतियों के प्रस्थानों का प्रतिपादन किया है।[५७] आनापान[५८] सति चार स्मृति प्रस्थानों को पूर्ण करती है और चार स्मृति प्रस्थान सात बोध्यंगो को एवं सात बोध्यंग विद्या और विमुक्ति को पूर्ण करते हैं।[५९] ये निर्वाण साधना की क्रमिक अवस्थाएं है। स्मृति के साथ संप्रजन्य का भी प्रयोग मिलता है।[६०] साधक का एक बडा लक्षण है स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होना।[६१] सम्प्रजन्य शद्ब का अर्थ है कि साधक को अपने प्रत्येक कर्म के विषय में ज्ञानवान होना चाहिए।[६२] जब प्रत्येक श्वास के आने जाने के साथ स्मृति की भावना चलती है तो मनुष्य की अंतिम श्वास भी जानते हुए ही लय होती है, बिना जाने नहीं।[६३]

ये चार स्मृति-प्रस्थान निम्नलिखित हैं -

१. कायानुपश्यना

२. वेदनानुपश्यना

३. चितानुपश्यना एवं

४. धर्मानुपश्यना।[६४]

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

कायानुपश्यना अर्थात कायगतास्मृति

शरीर और उसकी प्रत्येक सूक्ष्म् या स्थूल प्रकट या अप्रकट क्रिया के संबंध में पूर्ण-जागरुकता को ही कायगता स्मृति कहा गया है।[६५] अपने शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यंग के रंग, आकार, स्थिति, उदय, व्यय, गति आदि का इसी क्रम में सतत चिन्तन करने को कायगता स्मृति कहा गया है और इससे चेतना में शरीर तथा उसकी क्रियाओं के संबंध में निरन्तर जागरुकता अथवा 'स्मृति' की जो अवस्था उत्पन्न होती है, उस अवस्था को भी कायगतास्मृति कहा जाता है। स्मृति के उपस्थित होने से निरे हाडमांस के पुतले प्रतीत होने लगते है।[६६] कायिक जीवन की ओर से व्यक्ति सर्वथा वितृष्ण हो जाता है। अरण्य में वृक्ष के नीचे या शून्यागार में आसन मारकर शरीर को सीधा करके स्मृति को सामने रखते हुए साधक बैठता है। स्मरण रखते हुए ही श्वास लेता और छोडता है। लम्बी अथवा छोटी श्वास लेते समय उसका स्मरण रखता है और जानता है कि वह छोटी या बडी श्वास ले रहा अथवा छोटी या बडी श्वास छोड रहा है। सारी काया को जानते हुए ही श्वास लेना और छोडना सीखता है। काया की गति या संस्कार (क्रिया) को शांत करते श्वास लेता छोडता है।[६७] इसे विस्तार से इस प्रकार कहा गया है जैसे - (१) 'चलते खडे रहते, बैठे, अथवा सोते समय जानता है कि वह चल रहा, खडा, बैठा अथवा सो रहा है। वह यह भी जानता है कि वह कैसे चल रहा है, कैसे खडा है और उसके शरीर की कैसी अवस्था

है। किसी बात को जानने, समझने, देखने, भालने, अंगो को प्रसारित करने या समेटने, संघाटि , पात्र, चीवरादि धारण करने, खान, पान, खाद्य, श्वास लेनें, मल-मूत्र विसर्जन करने, सोने, जागने बोलने और मौन रहने आदि सभी क्रियायें में जानता है कि वह अमुक क्रियायें कर रहा है, और अमुक क्रिया करते हुए उसके शरीर की क्या व कैसी अवस्था है। इस शरीर मे पैर के तलवे से ऊपर और केश मस्तक के नीचे इस शरीर का जो स्वरुप है, जो नाना प्रकार के अशुचि पदार्थो से भरा हुआ है, और नाना अंग प्रत्यंगों से मिलकर निर्मित हुआ है, इसके स्वरुप को भीतर और बाहर पूर्ण रुप से देखता है और जानता है। शरीर मे स्थित पृथ्वी, आप (जल) तेज एवं वायोधातु इन चारों धातुओं से युक्त और निर्मित इस शरीर को धातुक्रम से भलीभांति जानता और देखता है। इसी प्रकार स्मशान में छोडे हुए एक, दो अथवा तीन दिन के मरे हुए, फूले हुए, नीले पडे हुए और पस से भरे हुए मृत शरीर को कौवों, कीडों, गिद्धों, श्वानों, व्याघ्रो, श्रृगांलों आदि प्राणियों के द्वारा खाये जाते हुए देखकर विचार करता है कि मेरा शरीर भी इसी अवस्था को प्राप्त होने वाला है। इस प्रकार काया के भीतरी और बाहरी सूक्ष्म और स्थूल प्रकट या अप्रकट स्वरुप और क्रियाओं के सबंध में पूर्णतया जागरुक रहते हुए 'काया में कायानुपश्यीं' होकर विहार करता है।[६८]

वेदनानुपश्यना

इसका अर्थ है सभी प्रकार की सुख, दुःख अथवा अदुःख-असुख (उपेक्षा) वेदनाओं के संबंध में वे चाहे भीतरी हो या बाहरी, उन वेदनाओं, का उसी रुप में देखते हुए तथा सभी वेदनाओं के उदय, व्यय को जानते हुए तथा उनको उदयव्यय स्वरूपी समझते हुए विचरण करने को ही वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होकर विहार करना कहा गया है।[६९] वेदनानुपश्यना के अभ्यास से सुख-दुःखादि वेदनाओं का यथार्थ बोध होता है।[७०]

चितानुपश्यना

चित की जितनी भी अवस्थाएं है या हो सकती हैं, जैसे-रागयुक्त या वीतराग, द्वेषयुक्त या द्वेषरहित, मोहयुक्त या मोहरहित, चंचल वा एकाग्र समाहित, या असमाहित, विमुक्त अथवा अविमुक्त आदि इन सब को भलीभांति जानते हुए चित की सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल, भीतरी या बाहरी सभी क्रियाओं के सबंध में जागृत रहते हुए विहार करना और चित को उसकी सभी अवस्थाओं और क्रियाओं को 'उदय-व्यय' स्वभावी जानते हुए विहार करना इसे ही चितानुपश्यना कहा गया है।[७१] अथवा चितविषयक पूर्ण जागरुकता ही चितानुपश्यना है।[७२]

धर्मानुपश्यना

कामच्छंद, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य, और कौकृत्य तथा विचिकित्सा ये पांच नीवरण रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पांच उपादान स्कंध, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिहवा, काय एवं मन और इनके विषय रुप, शद्ब, गंध, रस, स्पृष्टव्य एवं धर्म और उनके संयोग से उत्पन्न होने वाले संयोजन, स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रव्धि, समाधि व उपेक्षा ये सात बोध्यंग, दुःख , दुःखसमुदय, दुःख निरोध एवं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा ये चारों आर्यसत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग, इन सभी धर्मों का चित में उत्पन्न होना या न होना और इनकी सभी सूक्ष्म व स्थूल, भीतरी व बाहरी अवस्थाओं को जानते हुए विहार करना इसे धर्मानुपश्यना कहा गया है।[७३] संक्षेप में 'नीवरण स्कंध आयतन, संयोजन, बौध्यंग एवं चार आर्य सत्यों के समस्त बोध और स्मरण से धर्मानुपश्य ना उत्पन्न होती है।[७४]

चार सम्यक प्रधान

प्रधान इस शद्ब का अर्थ है सत्य तथा निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न, पुरुपार्थ अथवा वीर्य साधन।[७५] यदि कोई प्रधान करता है तो सत्य को प्राप्त करता है, और यदि प्रधान नहीं करता तो सत्य को भी प्राप्त नहीं करता।[७६] पधनिय सुत[७७] में कहा है कि बिना प्रयत्न किये मुक्ति का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि वह इन्द्रिय द्वारो कों सुरक्षित रखे, भोजन में मात्रा को जाने और जागरुक रहकर बोधिपक्षीय धर्मों के भावना रुपी प्रधान में लगने का अभ्यास करें।[७८]

अनुत्पन्न अकुशल[७९] धर्मो की अनुत्पत्ति में रुचि उत्पन्न करना प्रथम सम्यक-प्रधान है। जो अकुशल धर्म उत्पन्न हो गये हैं उनके विनाश के लिए भी वैसा ही वीर्यारम्भ करना यह द्वितीय सम्यक-प्रधान है। इसी प्रकार अनुत्पन्न कुशल कर्मो की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर दृढ प्रयत्न करना तृतीय सम्यक-प्रधान है और उत्पन्न कुशल धर्मो की स्थिरता अविनाश एवं वृद्धि तथा उसकी विपूलता के लिए प्रयत्न करना चतुर्थ सम्यक-प्रधान है। अनुत्पन्न अकुशल धर्म उत्पन्न होकर उसमें वृद्धि होने का कारण मिथ्यादृष्टि है।[८०] इसके विपरीत अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होकर उनमें वृद्धि होने का कारण सम्यकदृष्टि है।[८१] मिथ्यादृष्टि में भी वृद्धि होती है और उसका कारण गलत ढंग से सोचना यह दिया गया है।[८२] प्रयत्न का आरंभ करने से अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होते है तथा उत्पन्न अकुशल धर्मों की हानि होती है।[८३] अल्पेच्छता, संतोष, सम्यंक रीति से विचार करना प्रज्ञा, भलीसंगति, एवं कुशल धर्मों में लगना[८४] ही कर्मप्रहाण के उपाय कहे जा सकते हैं अर्थात अकुशल कर्मो के प्रहाण के लिए ये साधक धर्म है। यदि भिक्षु श्रद्धावान होकर अकुशल कर्मो का त्याग कर, कुशल कर्मो की भावना करता है, अभ्यास करता है, तो उसके अकुशल कर्म प्रहीण हो जाते है।[८५]

यदि लज्जा के कारण (पाप) भीरुता, वीर्य तथा प्रज्ञावान होने के कारण अकुशल कर्मो का त्याग कर कुशल कर्मो की भावना करता है तो उसके अकुशल कर्म प्रहीण हो जाते है। आर्य प्रज्ञा के कारण प्रहीण हुये अकुशल कर्म को सम्यक प्रकार से प्रहीण हुआ कहा जा सकता है।[८६] मेघिय को भगवान बुद्ध ने कहा था कि इसके अतिरिक्त अकुशल कर्मो के त्याग के प्रति दृढ, पराक्रमी एवं सतत प्रयत्न शील साधक का अपरिपक्क-चित विमुक्ति को परिपक्व बनाता है।[८७] अप्रमादी होकर (आलस्य रहित) अनुत्पन्न कुशल कर्म उत्पन्न होते हैं एवं उत्पन्न अकुशल धर्मो की हानि होती है।[८८] इस प्रकार सम्यकप्रधान होने के लिए साधक को श्रद्धा एवं प्रज्ञा से युक्त होकर सतत एवं दृढ पराक्रम करना चाहिए। अकुशल धर्मो के प्रहाण के लिए कुशल कर्मो की भावना करना भी आवश्यक है। चार सम्यक प्रधान समाधि को पुष्ट करने वाले धर्म है। इनका समाधि के क्षेत्र में अनन्य साधारण महत्व बताकर धम्मदिन्ना ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था कि चार सम्यकप्रधान समाधि के परिष्कार हैं।[८९]

चार ऋद्धिपाद[९०]

१. छन्द समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धिपाद की भावना।

२. वीर्य समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धिपादकी भावना।

३. चित समाधि प्रधांन संस्कार युक्त ऋद्धिपादकी भावना।

४. विमर्श समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धिपादकी भावना।[९१]

ध्यान, मार्ग एवं फल की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाने पर उस ध्यान, मार्ग एवं फल की सिद्धि (प्राप्ति) को ऋद्धि कहा जाता है तथा ध्यान, मार्ग एवं फल की प्राप्ति के छन्द, वीर्य चित एवं प्रज्ञा इन चार अंगो को ऋद्धि पाद कहा जाता है।

'छन्द चे भिक्खु । अधिपति करित्वा लभति समाधिं'।[९२] छन्द समाधि प्रभृति चार समाधियों के द्वारा 'अधिपति' होने वाले छन्द, वीर्य, चित एवं मिमांसा इनके प्रधान होने से यहा अधिपतिकृत्य करने वाले इन चार छन्द, वीर्य चित एवं मीमांसा को ही ऋद्धिपाद कहा जाता है।[९३] ऋद्धिपादों को ऋद्धि के अनुकूल साधन समझा जा सकता है।[९४]

पांच इन्द्रिया

बौद्ध धर्म की साधना में आध्यात्मिक विकास के पांच सोपान माने गये है। उन्हें ही पांच इन्द्रिया कहा जाता है। वे निम्नलिखित है -

(१) श्रद्धा (२) वीर्य (३) स्मृति (४) समाधि एवं (५) प्रज्ञा।

श्रद्धा

श्रद्धा का प्रारंभ वैदिक युगीन् ऋषियों से ही मिलता है। श्रद्धा निः समिध्यते श्रद्धा देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।[९५] सायं प्रातः दिन के मध्य में और हर समय सर्व शक्तिमान परमेश्वर से मेघा के लिए प्रार्थना करते थे उस समय के मेघा के साथ साथ श्रद्धा को भी नहीं भूलते थे। जो कुछ भी मनुष्य श्रद्धा से करता है, विद्या से करता है, वही वीर्यवत्तर भी होता है।[९६] राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि पहली सात शताब्दियों में भारत बुद्धिप्रधान रहा। ई.पू. दूसरी शताब्दि से लेकर दूसरी ई. शताब्दि तक मिश्रित रहा और उसके बाद से आज तक श्रद्धा प्रधान है।[९७] महात्मा गांधी के शब्दो में श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न है।[९८]

मिलिन्द पन्ह में कहा गया है कि, 'सम्पसादन लक्खणा सद्धा'[९९] अर्थात चित्त की प्रसादमयी अवस्था का नाम ही श्रद्धा है। यह स्मरणीय है कि योगसूत्र (१,२०) के व्यास भाष्य में श्रद्धा की परिभाषा की गयी है - 'चित्त का संप्रसाद'।[१००]

भगवान बुद्ध का श्रद्धा के संबंध में जो दृष्टिकोण है वह अन्धश्रद्धा न होकर दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव एवं ज्ञान पर आश्रित है उदान में कहा गया है कि श्रद्धा करके मै घर से बेघर हो प्रव्रजित हुआ हू।[१०१] श्रद्धा होने पर वीर्य अथवा साधन में पुरुषार्थ की संभावना होती है।

,श्रद्धा को भगवान बुद्ध ने पुरुष का श्रेष्ठ घन बतलाया है।[१०२] श्रद्धा के द्वारा ही मनुष्य भव बाढ को तर जाता है।[१०३] भगवान बुद्ध ने नन्द से कहा था पृथ्वी के भीतर जल है, यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है तब प्रयोजन होने पर वह उसे प्रयत्नपूर्वक खोदता है। यदि अग्नि से प्रयोजन न हो या काष्ठ में अग्नि है, यह श्रद्धा न हो तो कोई भी मनुष्य काष्ठ को न रगडेगा। परन्तु प्रयोजन और श्रद्धा होने पर उसे रगडते है। भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक को न हो तो वह भूमि में बीज न बोयेगा। जैसे हाथ दान को ग्रहण करता है, वैसे ही श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है। इसलिए मैनें श्रद्धा को विशेष रुप से हाथ कहा है।[१०४] जब तक व्यक्ति तत्त्व का अनुभव नहीं करता तब तक उसकी श्रद्धा या विश्वास स्थिर नहीं होता। व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाय तो यही बात सर्वत्र है कि श्रद्धा या विश्वास के बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकते। विश्वास के बल पर ही यह विश्व चलता है। भगवान बुद्ध ने श्रद्धा को अमृतरुपी खेती का बीज बताया है।[१०५] साधक भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है।[१०६] प्रव्रज्या भी श्रद्धा पूर्व क ही ली जाती है। श्रद्धा के बिना ली हुई प्रव्रज्या न स्थायी होती है और न कल्याणकारी। उन्होनें भिक्षुओं को कई बार याद दिलाई थी कि तुमने श्रद्धा से प्रव्रज्या ग्रहण की है। संगीति-परियाय-सुत्त[१०७] में श्रद्धा को साधना की अधिपति, साधना के पांच बलो में से एक बल और स्रोतापन्न अवस्था के चार अंगो में से प्रथम अंग माना गया है। भले ही उन्होनें प्रधान को ही

सत्य प्राप्ति के लिए बहूपकारी धर्म बताया है, फिर भी श्रद्धा से सत्य की अनुरक्षा की जाती है एसा उन्होंने कहा।[१०८] महानाम शाक्य को सात धर्मो से युक्त साधक की बात कहते समय उनमें से प्रथम स्थान श्रद्धा को है।[११०] यही कारण है कि उन्होंने भिक्षुओं को कहा था 'श्रद्धा को सुप्रतिष्ठित मूल से पंकडी हुई होने देना चाहिए।[१११] मिलिन्दपन्ह [११२] में कहा है 'सम्पसादनलक्खणासद्धा' अर्थात सम्प्रसाद (चित्त की प्रसादमयी अवस्था) ही श्रद्धा का लक्षण है। धम्मसंगणि[११३] में निम्नलिखित वाक्य हैं - सद्धा ओकप्पना अभिप्पसादो अर्थात चित्त को प्रसाद (आनन्द से) ओतप्रोत भर देना ही श्रद्धा का कार्य है। इस प्रकार हमने श्रद्धा के महत्व को देखा। महायान - परंपरा में भी श्रद्धा को अतिशय महत्व दिया गया हे।

वीर्य

वीरता के भाव को वीर्य कहते हैं, उत्साह इसका लक्षण है।[११४] वीर्य कुशल चित्तो से संप्रयुक्त होता है, वीर्यवान पुरुष प्रत्येक कार्य करने में पराक्रमी होता है, अपने द्वारा किये गये किसी भी कार्य से उत्पन्न होने वाले दुःख को वह निर्भयतापूर्वक सहन करता है।[११५] संप्रयुक्त धर्मो का उपस्तभंन करना (सहारा देना) इसका कृत्य है। इस वीर्य रुपी स्तभं का सहारा पाकर संप्रयुक्त धर्म कुशल चित्तों से च्युत नहीं होते। जैसे गिरते हुए जीर्ण गृह को किसी बल्ली के द्वारा सहारा देकर गृह को गिरने से रोका जाता है और बल्ली का सहारा पाकर वह गृह नहीं गिरता, उसी प्रकार वीर्य सहारा देने रुप लक्षणवाला होता है।[११६]

वीर्य परमार्थ रुप से सम्यक प्रधान भी है, वह कृत्य के भेद से चार प्रकार का कहा गया है।[११७] इन सवका वर्णन 'चार सम्यक प्रधान' में किया जा चुका है।

स्मृति

५ बल, ५ इन्द्रियों एवं आर्य अष्टांगिक मार्गो में भी एक अंग है। चार स्मृति प्रस्थानों के अंतर्गत इसके स्वरुप एवं महत्व पर संक्षिप्त में चर्चा की जा चुकी है।

समाधि

आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रसंग में इसका विवेचन करेंगे।

प्रज्ञा

श्रद्धा का अंतिम विकास परिणाम प्रज्ञा में है।[११८] 'छेदन लक्खणा पञ्ञा'[११९] अर्थात काटने की शक्ति प्राप्त होना प्रज्ञा का लक्षण है। बुद्धिवाद या प्रज्ञा के महत्व को भगवान बुद्ध ने स्वीकार किया। कालामों को उन्होनें बुद्धि पर जोर देने के लिये या अपने अनुभवों को ही सत्य का निर्णायक तत्त्व मानने के लिये कहा था'[१२०] क्योकिं वे अंधविश्वास के कट्टर विरोधी थे। भगवान बुद्ध स्वयं ज्ञानी हैं अथवा

नहीं यह जानने के लिये भिक्षु को चाहिए कि वह समन्वेषण खोज, मीमांसा और परीक्षा करनी चाहिये। यदि परीक्षा करने पर ठीक लगे तो स्वीकार करना चाहिए अन्यथ नहीं।[१२१] बहुधातुक[१२२] सुतन्त में उन्होंने भिक्षुओं को 'वीमंसक' होने के लिये कहा है। गौरव के कारण यदि भिक्षु उनकी हां में हां मिलाते हुये उन्हें प्रतीत होते थे, तो उन्हें वे पूछते थे कि आप अपने अनुभव से कह रहे हैं अथवा शास्ता के प्रति गौरव के कारण ?[१२३] आ. बुद्ध घोष ने विशुद्धि मार्ग में प्रज्ञा के संदर्भ में ही प्रतीत्य समुत्पाद की चर्चा की है। श्रद्धा पहली इन्द्रिय है, और प्रज्ञा अंतिम। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध श्रद्धा एंव प्रज्ञा का समन्वय करके बुद्धि एवं भावना का समन्वय करना चाहते थे।

पांच इन्द्रियां और पांच बल दोनों एक ही हैं[१२४] - श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा। कहीं पर पांच के स्थान पर चार अथवा तीन का ही उल्लेख प्राप्त होता है।[१२५] अन्यत्र इन पांच बलों की सूची भिन्न प्रकार से दी गई है। यथा स्मृति ही वीर्य एवं प्रज्ञा[१२६] अन्यत्र स्मृति ही अनपत्राप्य, वीर्य एवं प्रज्ञा के साथ श्रद्धा एवं समाधि जोडकर ७ बलों की सूची मिलती है।[१२७] ये पाचं बल और इन्द्रिया उपशम व संबोधि की ओर ले जाती है।[१२८]

सात बोध्यंग

स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा।[१२९] इस विपय में कहा गया हे कि एक भिक्षु यहा प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काबू में रखता है, जो कुशल कर्म उसमें नहीं है, वे उत्पन्न हो जावे, (इसलिये) वह उपयुक्त सातो अगों का अभ्यास करता है। ये सातों बोध्यंग एकान्त वास तथा रागरहित होने से उत्पन्न होते हैं, निरोध से संबंधित हैं, तथा उत्सर्ग की और ले जाने वाले है। इन्हें भावना प्रयत्न कहा जाता है।[१३०] इनकी भावना करने से साधक इसी जन्म में आश्रवों के क्षय से आश्रवरहित होकर चित्त की विभुक्ति और प्रज्ञा का साक्षात्कार करके विहार करता है।[१३१]

उपर्युक्त बोध्यगों में से स्मृति वीर्य एवं समाधि इन्द्रियों एवं बलो में भी समाविष्ट है। स्मृति एवं अष्टांगिक मार्ग के भी अगं है। इन सप्त बोध्यगों में से स्मृति एवं वीर्य इन दो अंगो पर अभी ऊपर के पृष्ठों में विवेचन किया गया है अब शेष पांच को देखें।

धर्मविचय संबोध्यंग

इस संबोध्यंग को प्रज्ञा-चैतसिक कहा गया है।[१३२] पांच नीवरण, दस संयोजन, दस क्लेश, स्कंध, आयतन एवं धातु इन विषयों को भलीभांति जानना ही धर्मविचय नामक संबोध्यंग कहलाता है। इससे ज्ञात होता है कि धर्मानुपश्यना एवं धर्मविचय

संबोध्यब का स्वरुप बहुत कुछ एक समान है।

प्रीति

जो धर्म काय एवं चित्त का तर्पण करता है,[१३३] उन्हें बढाता है, उसे प्रीति नामक संबोध्यंग कहा गया है। यह व्यापाद नामक नीवरण का प्रतिपक्ष है।[१३४] संपूर्ण काय एवं चित में व्याप्त हो जाना इसका कार्य है।[१३५]

प्रश्रब्धि

प्रश्रम्मण (उपशम) की अवस्था को प्रश्रब्धि कहा गया है। इसके काय प्रश्रब्धि एवं चित्त-प्रश्रब्धि, ऐसे दो भेद कहे गये है।[१३६]

उपेक्षा

सर्वत्र कार्यकारण नियम के अव्याहत व्यापार के स्मरण से 'उपेक्षा' भाव का जन्म होता है।[१३७]

चित्त के गंभीर स्वभाव से (भी) उपेक्षा का जन्म होता है।[१३८] इसे 'तत्रमध्यस्थता' नामक चैतसिक[१३९] कहा गया है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग

सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों के अंतर्गत आर्य अष्टांगिक मार्ग का भी समावेश होता है। निर्वाण प्राप्ति में इसे मुख्यतः साधनपक्ष में महत्वपूर्ण माना गया है। आर्य अष्टांगिक मार्ग का संक्षिप्त स्वरुप निम्न प्रकार है - सम्यकदृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, अम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति एवं सम्यक समाधि ये अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग है। इन्हें ही शील, समाधि एवं प्रज्ञा इन तीनों स्कंधो या वर्गों में भी विभाजित किया जाता है।

सम्यक दृष्टि

यह अष्टांगिक मार्ग का प्रथम अंग है। पालि वाङमय में सम्यक दृष्टि से प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त को ही 'धर्म' कहा गया है।[१४०] कोई भी घटना कार्य कारण नियम से ही घटित होती है, उसका पराप्राकृतिक या ईश्वरीय कारण नहीं होता, ऐसा समझना सम्यकदृष्टि है, चार आर्य सत्यों का ज्ञान होना सम्यक दृष्टि है। लोभ, द्वेष एवं मोह को दुराचरण का और अलोभ, अद्वेष अमोह को सदाचरण का मूल समझना सम्यक दृष्टि है।[१४१] आत्मवाद अथवा अन्य किसी वाद-विशेष को मन में न लाना सम्यक दृष्टि है, सम्यकदृष्टि श्रेष्ठ जीवन के प्रत्येक वृत्त की भूमिका अथवा कुंजी है।[१४२] सम्यक दृष्टि का अर्थ है व्यक्ति ऐसी सभी मिथ्या धारणाओं से मुक्त हो जो

उसके मन की कल्पना मात्र है, और जिनका उसके अनुभव अथवा यथार्थता से किसी प्रकार का संबंध नहीं होता।[१४३] कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में 'कर्म तथा उसके मूल (हेतु) को अर्थात कुशल, कर्म तथा उसके मूल हेतु एवं अकुशल कर्म तथा उसके मूल हेतु को जानना ही सम्यक दृष्टि है।[१४४] अध्याय ३ में वर्णित कुशल कर्म तथा उसके मूल हेतु लोभ, द्वेष, मोह एवं अकुशल कर्म तथा उसके मूल हेतु अलोभ, अद्वेष तथा अमोह इन्हें भलीभांति जानना ही सम्यकदृष्टि है।[१४५]

सम्यक सकंल्प

कर्मों का आन्तरिक पहलू संकल्प है।[१४६] क्रियाशील विज्ञान ही सकंल्पों या इरादों का जनक है।[१४७] व्यक्ति अपने जीवन में जो कुछ कार्य करता है, उसके पूर्व अपने मन में संकल्पो विकल्पों का ताना बाना बुनता है और उनके अनुसार कार्य करके अपने जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाता है। बौद्ध दृष्टि में बहुजन-हिताय बहुजन सुखाय लक्ष्य को ध्यान में रखकर समाजसेवा के उद्यश्य से साधना द्वारा अपने आपको योग्य बनाने का निश्चय करके गृह त्याग करना, सभी ऐन्द्रिय सुखों में अनासक्ति तथा जीवों के प्रति प्रेम करने का दृढ संकल्प करना 'अक्रोध[१४८] तथा अविहिंसा भाव सम्यक संकल्प हैं।[१४९] सम्यग्वितर्क को भी सम्यक संकल्प कहा जाता है।[१५०] यह तीन प्रकार का होता है - (१) नैष्क्रम्य संकल्प (२) अव्यापाद संकल्प एवं (३) अविहिंसा संकल्प।[१५१]

सभी कुशल धर्मो से सम्प्रयुक्त वितर्क नैष्क्रम्य संकल्प है।[१५२] मैत्री (मेत्ता चैतसिक) से संप्रयुक्त वितर्क अव्यापाद वितर्क है। व्यापाद का अर्थ बताया गया है - द्वेष, तथा द्वेष रहित सभी वितर्कों को अव्यापाद वितर्क कहा गया है। करुणा से संप्रयुक्त वितर्क को अविहिंसा वितर्क कहा गया है। हिंसा से रहित सभी वितर्क अविहिंसा वितर्क होते हैं।[१५३]

सम्यकवाणी

इस सामासिक पद में, 'सम्यक' पद का प्रयोग सर्वार्थ - साधक है। प्रत्येक इन्द्रियां अपने अपने विषय में विचरण करने के लिए ही होती है। मौन साधकर कोई सम्यकवाची नहीं हो सकता।[१५४] मौन के नाम पर जो गूंगे बने रहने का ब्रत अपनाया जाता है उसका बौद्ध धर्म में पूर्णतः निषेध किया गया है,[१५५] क्योंकि मौन रहने से सम्यकवाणी नहीं सध सकती, वह बोलने से ही सधती है[१५६] सम्यकवाणी का अर्थ है कि व्यक्ति बोले अवश्य, परन्तु वह सत्य ही बोले, अपनी वाणी से दूसरों की बुराई न करे, झूठी बाते न फैलाये, किसी के प्रति कठोर वचनों का व्यवहार न करें, गाली गलौच न करे, व्यर्थ की, मूर्खतापूर्ण बाते न करता रहे। संक्षेप में व्यक्ति वाचिक-अकुशल-कर्मो से विरत रहे इसी को सम्यकवाणी कहा गया है। प्रंसगवश

ऐसी कडवी, किन्तु सत्य वाणी का प्रयोग करना भी पडता हे। ऐसी वाणी से जब कभी आत्म एवं परहित होता है, तो उसे भी सम्यकवाणी माना जा सकता है। सम्यक संकल्प का कोई मूल्य नहीं, यदि उसकी अभिव्यक्ति वाणी एवं कर्म (कृति) (द्वारा) जीवन में नहीं होती।[१५७]

सम्यक कर्मान्त

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ बोलना शराब जैसी नशीली चीजों का सेवन करना, इन समाज विरोधी प्रवृत्तियों का इसी रुप में सम्यक ज्ञान होना, यह सम्यक दृष्टि है, तथा ऐसी कृतियां करने से समाज का अहित होता है, इस बात का साक्षात्कार करके, इनसे विरत रहने को सम्यक-कर्मान्त कहा जा सकता है। सम्यक दृष्टि के बिना सम्यक-कर्मान्त नहीं हो सकता।[१५८] और सम्यक-कर्मान्त के अभाव में सम्यक आचरण नहीं किया जा सकता ।

सम्यक आजीव

सम्यक कर्मान्त एवं सम्यक आजीविका का धनिष्ठ संबंध है। ये दोनों शील स्कंध के अंतर्गत आते है। एक प्रकार से सम्यक कर्मान्त 'विचार' है तो सम्यक आजीविका 'आचार' है। 'सब्बे सत्ता आहारटिठता' सभी प्राणी आहार पर निर्भर करते हैं, पीठ के साथ पेट लगा हुआ है। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका कमानी होती , अपना उदर निर्वाह करना पडता है। अपने उदर निर्वाह के लिये ऐसे उचित साधन या मार्ग का अवलंबन करना चाहिए जिससे किसी अन्य व्यक्ति को हानि न हो। बुद्ध के अनुसार अस्त्र, शस्त्र, पशु मांस, मदिरा तथा विष के व्यापार को अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाना चाहिए । इसी प्रकार व्यापारिक चालाकियों से भी दूर रहना चाहिए।[१५९]

सम्यक व्यायाम

यह अविद्या को नष्ट करने के प्रयास की प्रथम सीढी है।[१६०] एक प्रकार से चार सम्यक-प्रधान, सम्यक-व्यायाम के ही परिष्कार हैं, इसके चार अंग है -

१. अनुत्पन्न अकुशल धर्मो की अनुत्पत्ति में रुचि उत्पन्न करना।

२. उत्पन्न अकुशल धर्मो के बिना-शके लिये वीर्यारंभ करना।

३. अनुत्पन्न कुशल धर्मो की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर दृढ प्रयत्न करना।

४. उत्पन्न कुशल धर्मो की वृद्धि तथा उनकी विपुलता के लिये. प्रयत्न करना।

एक प्रकार से आर्य अष्टागिक मार्ग की विरोधी चित्त-प्रवृत्तियों की उत्पत्त को रोकना, तथा उत्पन्न हुई वैसी प्रवृत्तियों को दबाना, एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग की

आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक चित्त प्रवृत्ति को उत्पन्न करना, तथा ऐसी चित्त प्रवृत्ति की वृद्धि विपुलता एवं विकास के लिये उत्तरोत्तर प्रयत्न करना ही सम्यक व्यायाम है।

सम्यक स्मृति

बोधिपाक्षिक धर्मों के सात वर्गों में से पांच में उसका उल्लेख है। और एक वर्ग पूर्णरुप से स्मृति का विस्तार है। वे हैं चार-स्मृति-प्रस्थान। इस 'स्मृति' को ही बोधिपक्षीय धर्मों में सर्वप्रथम लिया गया है। स्मृति को चार स्मृति प्रस्थानो के रुप में विस्तार से कहा गया है। इनका विवेचन बोधिपक्षीय धर्मों के प्रसंग में सर्वप्रथम किया जा चुका है। चित्त का यह स्वभाव है कि वह किसी अनुभव के व्यतीत हो जाने पर भी उसके संस्कार का संरक्षण करता है। अनुभूत अर्थ का संस्कार के द्वारा फिर से ज्ञान करना ही 'स्मरण' कहलाता है।[१६१] स्मृति चित्त को असत्सम्पर्क और असत्प्रचार से बचाती है, अतएवं उसे चित्त का आरक्षक अथवा 'दौवारिक' कहा गया है।[१६२] सम्यक स्मृति का अर्थ है अपने भीतर या बाहर की अपनी साधना से संबद्ध छोटी या बडी घटना, विचार एवं शारीरिक, वाचिक, मानसिक प्रत्येक सूक्ष्म या स्थूल क्रिया पर ध्यान देते रहना। अथवा पूर्णतया जागरुक रहना यह मन की सतत जागरुकता है। मन में जो अकुशल विचार उठते हैं, उनकी चौकीदारी करना यह सम्यक स्मृति का ही एक प्रधान कार्य है।[१६३]

सम्यक समाधि

समाधि का अर्थ है केवल कुशल चित्त की एकाग्रता।[१६४] समाधि के द्वारा ही पांच बंधनो या संयोजनों को स्थगित रखने के लिए ध्यान की प्राप्ति सम्भव है। ध्यान की वे अवस्थाएं अस्थायी होती हैं, इसलिये संयोजन या बंधन भी अस्थायी रुप से ही स्थगित होते है। यह समझ लेना चाहिए कि 'समाधि' एवं 'सम्यक-समाधि' यह एक ही बात नहीं। दोनों में बडा अन्तर है।[१६५] केवल 'समाधि' एक नकारात्मक स्थिति है। सम्यक-समाधि एक भावात्मक वस्तु है। समाधि से मन को कुशल कर्मो का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करने का अभ्यास होता है, और इस प्रकार संयोजनों के कारण मन का अकुशल कर्मों की ओर जो आकर्षण होता हैं, उस प्रवृत्ति को समाप्त कर देती है।[१६६] कुशल चित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहते हैं।[१६७] समाधि में केवल शुभ या कुशल भावों का ही ग्रहण होता है।

ध्यान-ध्यानादि मार्ग

कर्मो से निवृत्ति के जो उपाय बोधिपक्षीय धर्मों के संदर्भ में दिये गये है, उनके ही एक उपांग के रुप में ध्यानो का विचार यहां उपस्थित है।

ध्यान का अर्थ है चिन्तन करना। 'झायति उपनिज्झायतीति झान'। अथवा 'इमिना योगिनो झायन्ति तिझान' ऐसी ध्यान की व्युत्पत्ति बुद्धघोष ने दी है।[१६८] अकुशल धर्मो का दहन करने[१६९] के संदर्भ में भी ध्यान का विचार किया जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान में कुशल अकुशल दोनों प्रकार के भावों का ग्रहण किया जाता है।

बौद्ध वाङ्मय में ध्यान के दो प्रमुख भेद कहे गये है - आलंबन पर आश्रित ध्यान तथा लक्षणों पर आश्रित ध्यान।[१७०]

आलंबन ध्यान

इस ध्यान के आठ प्रकार है। चार रुपावचर तथा चार अरुपावचर।[१७१] सुत्त पिटक में रुपावचर ध्यान के चार भेद बताये गये हैं, जबकि अभिधर्म में पाचं। परन्तु इसमें कोई तात्विक भेद नहीं है। ध्यान के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं समाधि इन पाचं तत्त्वों के क्रमशः एक एक का निरोध होते जाने की अपेक्षा से ही रुपावचर ध्यान के कहीं चार, व कही पांच भेद कहे गये है। इनके स्वरुप के संबंध में ऊपर हम चतुर्थ अध्याय में समुचित विवचेन कर आये है।[१७२]

अभिधर्म पिटक के अनुसार इस ध्यान के पांच भेद है। प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ पर्यन्त सुखावेदना तथा पंचम ध्यान में उपेक्षावेदना होती है।[१७३] इस प्रकार उपेक्षा वेदना के कारण पांच ध्यान होते है। इन ध्यानों के अनुसार थीन-मिद्ध, विचिकित्सा, व्यापाद औद्धत्य, कौकृत्य एवं कामच्छन्द इन पाचों नीवरणों का क्रमशः नाश होता है।[१७४]

अरुपावचर ध्यान

चार प्रकार का होता है - आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिन्चन्यायतन एवं नैवसंज्ञानसंज्ञायतन। इनके स्वरुप के विषय में भी हम ऊपर चतुर्थ अध्याय में विवेचन कर आये है। इन चारों अरुप ध्यानों के अभ्यास से साधक की चित्त-चैत्तिसिक-धर्मो के प्रति आसक्ति नष्ट होती है, और वह निरन्तर अनासक्ति अवस्था की ओर अग्रेसर होता रहता है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे महत्व के धर्म अथवा तत्त्व हैं जिन्हें बौद्ध साधना पद्धति में शीर्ष स्थान दिया गया है जैसे चार ब्रह्मविहार तथा दस पारमिताएं। दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रभृति दस पारमिताओं का विशेष महत्व उन तत्त्वों के लिए प्रतिपादित किया गया है, जो अनेक जन्मों में इन पारमिताओं को पूर्ण करते हुए अंततः सम्यक सम्बुद्ध होकर जन्म लेते हैं, कर्म सिद्धान्त के विवेचन की दृष्टि से वे हमारे लिए विवेच्य नहीं है तथापि इतना अवश्य कथनीय है कि जैन कर्म सिद्धान्त में तीर्थकर पद की प्राप्ति के लिए जिन विशेष कर्मो का उल्लेख किया गया है, इन पारमिताओं की उनसे 'आंशिक रुप से

तुलना की जा सकती हैं।

ब्रह्म विहारों का महत्व हमारे प्रबंध की दृष्टि से इसलिए है कि इनके अभ्यास से प्रथम से लेकर पांचवे रुपावचर ध्यान तक की उपलब्धि होती है।[१७५] इन का स्वरुप इस प्रकार है -

चार ब्रह्मविहार

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा इन्हें ब्रह्मविहार कहा जाता है।[१७६]

मैत्री

सत्त्वों (जीवों) के प्रति प्रेम के साथ साथ उनके हित-सम्पादन का इच्छुक धर्म 'मैत्री' कहलाता है।[१७७] दूसरों से घोर क्लेश पाने पर भी अप्रतिकार और सहिष्णुता का आदर्श मज्झिम निकाय के ककचूपम सुत्त से ज्ञात होता है।वहां कहा गया है कि आरे से काटे जाने पर भी काटने वाले के प्रति मैत्री की भावना करनी चाहिए। इसका आशय है कि किसी प्राणी की हिंसा करने का विचार भी मन में नहीं आना चाहिए। इस प्रकार की बौद्ध अहिंसा न केवल पशु हिंसा अथवा परपीडन की वर्जना है, अपितु शान्ति, मैत्री एवं सहानुभूमि की भावना भी है।[१७८] अक्रोध तथा अहिंसा, इन दोनों को भी मैत्र-भावना के पर्याय और अपने में अद्‌भूत आध्यात्मिक शक्तियां माना गया है।[१७९]

मैत्री की भावना किस प्रकार करनी चाहिए इस सबंध में निन्म प्रकार से निर्देश मिलता है - मैत्री ब्रह्मविहार, की भावना करने वाले साधक को एकान्त स्थान में जा, आसन पर बैठकर प्रथमतः द्वेष-भावना में अवगुण और शान्ति में गुणों का अवलोकन करना चाहिए। अपने में ही 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखरहित, में वैररहित, व्यापादरहित, उपद्रवरहित हू तथा सुखपूर्वक अपना परिहरण (जीवनयापन) कर रहा हू" ऐसी भावना बारंबार करनी चाहिए।[१८०] इस प्रकार अपने मन में भावना करके पुनः इसका भी अतिक्रमण कर देना चाहिए और अपने सम्माननीय आचार्य, या आचार्य तुल्य व्यक्ति का अनुस्मरण करके 'यह सत्पुरुष सुखी हो, दुःखरहित हो ऐसी भावना उनके प्रति करनी चाहिए'।[१८१] इतने मात्र से संतोष न करके पुनः अपने अत्यन्त प्रिय सहायक पर मैत्री करनी चाहिए।[१८२] तदुपरान्त मध्यस्थ व्यक्ति पर एवं उसके उपरान्त अपने शत्रु पर।[१८३] इस प्रकार यह भावना (इसी क्रम से) तीनों प्रकार के व्यक्तियों पर क्रमशः करनी चाहिए, एक साथ नहीं।

करुणा

दुःखी सत्त्वों के प्रति दयाद्रता को ही करुणा कहा जाता है। इस ब्रह्मविहार की भावना करने वाले योगी को करुणा-रहित होने के दोष और करुणा-युक्त होने के गुणों का मनन करके करुणा-भावना का आरंभ करना चाहिए।[१८४] सर्वप्रथम अत्यन्त

दुःखी निर्धन बुरी अवस्था को प्राप्त, हाथ-पैर कटे, भिक्षापात्र हाथ में लेकर अनाथालय की शरण जानेवाले, सडे हाथ-पैर वालों, दुःख के मारे चिल्लाते हुए पुरुष को देखकर यह व्यक्ति कैसी बुरी अवस्था को प्राप्त है। अच्छा होता की यह इस दुःख से छुटकारा पा जाता।[१८५] इस प्रकार पर दुःख के स्मरण से करुणा का भाव उत्पन्न होता है।[१८६]

मुदिता

किसी भी व्यक्ति को सुखी और प्रमुदित देखकर या सुनकर यह क्या आनंद कर रहा है। बहुत ही अच्छा है, बहुत ही सुनदर है,[१८७] इस प्रकार परसुख के स्मरण से 'मुदिता भाव' का जन्म होता है।[१८८] अभिधम्मत्थ संगहो[१८९] में इस भावना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है - 'सब्बे सत्ता यथालद्ध सम्पत्तितो मा विगच्छन्तु। अर्थात सभी सत्त्व अपनी अपनी प्राप्त सम्पत्ति से वियुक्त न हो।

उपेक्षा

इस ब्रह्म विहार की भावना में मध्यस्थ व्यक्ति के प्रति इस प्रकार भावना करनी चाहिए जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक प्रिय और अप्रिय व्यक्ति को देखकर उपेक्षक होकर विहार करे।[१९०] जो धर्म उपेक्षा करता हे, अर्थात जिसका किसी आलंबन के प्रति न राग होता है और न द्वेष उसे उपेक्षा[१९१] कहा गया है। यह मैत्री की तरह न तो अन्य सत्त्वों के हित की कामना करती है, न करुणा की भांति अन्य सत्त्वों के दुःखो का प्रहाण करने की आभिलाषा करती है और न मुदिता के समान अन्य सत्त्वों की सुखसम्पति देशकर सुख का अनुभव ही करती है, अपितु, सब्बे सत्ता कम्मस्सका अर्थात सभी पुद्गल अपने अपने कर्मो के धनी है, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते है, इस प्रकार विचार करके सत्त्वों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना[१९२] ही उपेक्षा ब्रह्म विहार है।

जैन साधना के प्रसंग में इस भावना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

'अरि मित्र महल, ससान कंचन काचनिंनद सुतिकरन

अर्घावतारण असी प्रहारन में सदा समता धरन।[१९३]

अर्थात मोक्ष मार्ग का आराधक शत्रु और मित्र, स्मशान और महल, स्वर्ण या कांच, निंदा या स्तुति, अर्घारपण या आरति अथवा तलवार का प्रहार इन सभी अवस्थाओं में सदैव समताभाव ही धारण करता है। उपर्युक्त पद्य बौद्ध अवधारणा के अनुसार भी उपेक्षा की भावना को ठीक ठीक व्यक्ति करता है। इसे ही जैन परंपरा के अनुसार आचार्य अमितगति ने अपने 'सामायिक द्वात्रिंशिका[१९४] में निम्नलिखित श्लोक में बहुत सटीक रुप से व्यक्त किया है -

हे देव मेरी आत्मा में सदैव जीवन मात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणी जनों के

वृत्ति रखनेवाले हैं, उनके प्रति माध्यस्थ भाव (उपेक्षा) धारण करें। इस प्रकार इस श्लोक में प्रतिपादित मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा का स्वरुप बौद्ध अवधारणा की अपेक्षा अल्पांश में भिन्न अवश्य है परन्तु उसके अनुरुप जान पडता है।

उपरोक्त मैत्री, करुणा या मुदिता ब्रह्मविचारों की भावना करने से प्रथमं, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान प्राप्त किये जा सकते है[१९५] एवं उपेक्षा ब्रह्मविहार की भावना से पंचम ध्यान की प्राप्ति हो सकती है।[१९६] इस प्रकार इन ब्रह्मविहारों की भावना से एक ओर ध्यानों की प्राप्ति तथा दूसरी ओर क्रमशः चित्त शुद्धि के द्वारा कर्म मलो से मुक्त होने में सहाय्य प्राप्त होता है।

संदर्भ

१. *पण्डुपलासो व दानिसि यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता।*
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति।।
सो करोही दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भवं।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि।।
धम्मपंद गाथा, २३५-३६।

२. *उपनीत वयो च दानिसि सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके*
वासो पि च ते नत्थि अन्तरा पाथेयम्पि च ते न विज्जति
सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
वही, २३७-३८।

३. धम्मपदं, गाथा, पृ. २४० ।

४. वही, गाथा, पृ. २४१ ।

५. वही, गाथा, पृ. २४२।

६. वही, गाथा, पृ. २४६-४७।

७. जो सत्त्वों को कामभूमि, ब्रह्मभूमि आदि में बांधकर रखते है, वे संयोजन कहलाते हैं। अ.स., हि.भा., भाग २, पृ. ७५१ ।

८. वही, पृ. ७५२ ।

९. अ.सं., हि.भा. भाग २, पृ. ७५२ ।

१०. परमत्थदीपनी, पृ. २९६ ।

११. विशुद्धिमग्ग, पृ. ३२७ ।

१२. अ.स., हि.भा. भाग १, पृ. १२९ ।

१३. वही, पृ. १३० ।

१४. विशुद्धिमग्ग, पृ. ३२८ ।

१५. अ.स., हि.भा. भाग १, पृ. १०२।

१६. 'वीरियावनोदरसं संसीदपच्चुपट्ठान'। अट्ठसालिनी, पृ. २०६।

१७. उद्धटस्स पन चित्तस्स उद्धरणाकारपवत्तिया पच्चयभूतो धम्मो उद्धच्चं, तं पन वातेरितं जलं। परमत्थदीपनी, पृ. ८० ।

१८. उमो इमे अजिगुच्छ - अनुतासन लक्खणा। पापानं करणसा असङ्कोचनुपटठाना। अत्तपर - अगारवपदट्ठाना ति सज्जिता। विशुद्धिमग्ग, पृ. ३२६।

१९. अ.स., भाग १, हिं.भा., पृ. १२५ ।

२०. वही।

२१. या काचिमा दुग्गतियो अस्मिं लोक परम्हिच। अविज्जा मूलिमा सब्बा, इच्छा-लोभ-समुस्सया। इतिवुत्तक, विज्जासुत्त, क्र. १३ ।

२२. धम्मपद, मलवग्गो, १८।२४३।

२३. वही, ११।८ ९।

२४. दीघरतं वो भिक्खवे मातुमरणं पच्चनुभूतं, पितुमरणं... पुत्तमरणं...धीतुमरण...जातिव्यसंन...भोगव्यसन, रोग व्यसनं पच्चनुभूत, तेसं वो मातुमरण पच्चनुभोन्तानं, पितुमरणं...पुत्तमरणं,...धीतुमरण जातिव्यसनं...भोगव्यसन...रोगव्यसन...अनासम्पयोगा मनापविप्पयोगा कन्दन्तानं रोदन्तानं अस्सुपस्सन्दं पग्घरित, एतदेव बहुतरं न त्वेव चतुसु महासमुद्देसु उदकं स.नि., १४ ।

२५. दीघरत्त वों भिक्खवे 'चोरा ग्रामघातका' 'चोरा परिपन्थका' 'चोरा परदारिका' ति गहेत्त्वा सीसच्छिन्नानं लोहितं पस्सन्दं पग्घरित एतदेव बहुतरं न त्वेव चतुसु महासमुद्देसु उदकं। स.नि., १४ ।

२६. कतमन्च भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं ? जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं सोक-परिदेव-दुक्खदोमनस्सु-पायासापि दुक्खा। अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहिविप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छ नं लभति तम्पि दुक्ख, संखित्तेन पन्चुपादानक्खन्धपि दुक्खा। दीघ नि., महासतिपट्ठानसुत्त।

२७. चक्खु लोके पियरुप सातरुपं एत्थेसा तण्हा उप्पज्जमाना उपज्जति। दीघ नि महासतिपट्ठानसुत्त।

२८. चक्खु वित्रआण लोके पिय रुपं। वही।

२९. चक्खु-सम्फस्सो लोके पिय रुपं। वही।

३०. दीघ नि. महासतिपट्ठासुत्त।

३१. वही।

३२. अनुरोधविरोध समापन्नो यं किन्च वेदन वेदेति सुखं वा दुक्खं वा

अदुक्खमसुख वा सो तं वेदनं अभिनन्दति अभिवदति अज्झोसाय तिट्ठतो उपज्जति नन्दी या वेदनासू नन्दी तदुपदानं तस्स-उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरा-मरण-सोक-परिदेव-दुक्खदोमनस्सुपायासा-सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति–म.नि., महातण्हासंखय सुत्त।

३३. या यं तण्हा पोनोभविका नन्दिराग सहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथीदं कामतण्हा, भवतण्हा, विभव तण्हा दी.नि. महासतिपट्ठानसुत्त।

३४. यो तस्सायेव तण्हाय असेसविराग निरोधो चागो पटिनिस्सगो मुक्ति अनालयो वही।

३५. यं लोके पियरुप, सातरुपं, एत्येसा, तण्हा पहीयमाना पहीयति, एत्थ निरुज्झाना निरुज्झति दीघ नि., महासतिपट्ठानसुत्त।

३६. ये केचि भिक्खवे अनागतम द्धानं समणा वा ब्राह्मणावा ये लोके पियरुपं सातरुप तं अनिच्चतो दक्खिन्ति, दुःखतो दक्खिन्ति, रोगतो दक्खिन्ति भयतो दक्खिन्ति तं तण्हं पजहिस्सन्ति। स.नि. १२।७ ।

३७. रुपस्स निरोधो वुपसमो अत्थंगमो दुक्खस्ससो निरोधो रोगानं वुपसमो जरामरणस्स अत्थगमो।–स.नि., १२।३ ।

३८. यो वेदनाय निरोधो, यो सञ्ञाय निरोधो यो संखारानं निरोधो यो विञ्ञाणस्स निरोधो वुपसमो अत्थगमो दुक्खससेसो निरोधो रोगानं वुपसमो जरामरणस्स अत्थगमो।–स.नि., १२।३ ।

३९. तण्हाय असेसविरागनिरोधा उपादान निरोधो, उपादान निरोधा भव निरोधो, भवनिरोधा जातिनिरोधो, जातिनिरोधा ,जरा-मरण-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्स-उपायासा-निरुज्झन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति।–इतिवुत्तक, ९।६ ।

४०. एसोव मग्गो नत्थञ्ञो ।। दस्सनस्स विसुद्धिया। एतम्हि तुम्हे पटिपन्ना। दुक्खस्सन्तं करिस्सथ। धम्मपद, २०।2

४१. धम्मपद मलवग्गो, १८।२३९।

४२. इमे सत्ततिंसं धम्मा बुज्झनट्ठेन बोधिति लद्धमानस्स अरिय मग्गस्स पक्खे भावना बोधिपक्खिया नाम। पक्खे भवत्ताति उपकार भावे ठितता। विशुद्धिमग्ग, २२।२३।

४३. दी.नि., २।३ ।

४४. म.नि., २।३।७।

४५. दीघ नि., २।३।

४६. स.नि., २१।८।९।

४७. विभंग, पृ. ३७२।

४८. मिलिन्दपन्ह, पृ. १२१।
४९. विशुद्धिमग्ग २२ वां पिरच्छेद।
५०. दीघ नि., २।९, महासतिपट्ठान सुत्त।
५१. भं.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ३४० ।
५२. 'सति आनंद उपट्ठापेतब्बा'। महापिरनिब्बाण सुत्त, २।३।
५३. सुत्तनिपात - पारायण वग्गो।
५४. म.नि., २।४।५, वही, १।३।८, वही, १।४।६ मिलाइये अ.नि. वेरंजक सुत्त।
५५. जीव और लोक के आदि संबंधी - पूर्वान्त दृष्टि।
५६. जीव और लोक के अन्त संबंधी - अपरान्त दृष्टि।
५७. दीघ नि., पासादिक सुत्त, ३।६।
५८. प्राणायाम - पूरी तरह जानते हुए श्वास लेना और छोडना।
५९. म.नि. आनापानसति सुत्तन्त, ३।२।८।
६०. इतिवुत्तक, जागरिय सुत्त, २।२।१०।
६१. वही।
६२. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ३४२।
६३. म.नि., महाराहुलोवाद सुत्तन्त, २।२।२।
६४. दीघ नि. महासतिपट्ठानसुत्त, म.नि. एवं स.नि. सतिपट्ठान एवं सतिपट्ठान संयुत्त।
६५. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध. के वि.का इ., पृ. १२१।
६६. वही।
६७. दीघ नि., महासतिपट्ठान सुत्त, प्रथम।
६८. वही।
६९. दीघ नि., महासतिपट्ठान सुत्त।
७०. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध.के.वि. का इ., पृ. १२१। तथा इसी प्रबंध का अध्याय ४ ।
७१. दीघ नि., महासतिपट्ठान सुत्त।
७२. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध.के वि.का इ., पृ. १२१ ।
७३. दीघ नि. प्रथम, महासतिपट्ठान सुत्त।
७४. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि.का इ., पृ. १२१ ।
७५. बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ३५३।
७६. म.नि. चंकि सुत्तन्त, २।५।५।
७७. वही।
७८. आंख से रुप को देखकर न उसके आकार को ग्रहण करना, न उसमें आसक्त

होना। जिस चक्षु इन्द्रिय का संयम न रखने से (मन में) दौर्मनस्य, बुराइयां और पाप चले आते हैं, उनकी रक्षा के लिए यत्न करना चक्षु इन्द्रिय की रक्षा करना, उसे सवृंत करना। इसी प्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय शद्व, घ्राणेद्रिय का विषय गन्ध, जिव्हा का विषय रसास्वादन, त्वचा का विषय स्पर्श एवं मन का विषय धर्म में आर्यसंवर से युक्त होना ही इन्द्रिय संवर या इन्द्रिय द्वारो को सुरक्षित रखना है। दीघ.नि. द्वितीय।

७९. प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद, पिशूनवचन, परुष वचन, सम्प्रलाप, अभिच्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि यह १० अकुशल धर्म है। देखिए, म.नि. महावच्छगोत्तसुत्तं।

८०. अ.नि. भाग १, पृ. ३१।१, अनु.भ.आ.कौ.।

८१. वही, पृ. ३१।२, वही।

८२. वही, ३१।५, वही।

८३. अ.नि. भाग १, पृ. १२, अनु.भ.आ.कौ.।

८४. वही।

८५. वही, भाग ४, निस्सय सुत्त।

८६. वही।

८७. अ.नि., भाग ४, मेघिय सुत्त।

८८. अ.नि., भाग १, पृ. ११, अनु.भ.आ.कौ.।

८९. म.नि., चुल्लवेदल्ल सुतन्त (१।५।४)।

९०. विस्तार के लिए देखें,इसी प्रबंध का अध्याय ५।

९१. विशुद्धिमग्ग, पृ. २६४, दीघ.नि., जनवसभसुत्त, सं,नि. भाग ५।

९२. विभंग, पृ. २६४ ।

९३. विशुद्धिमग्ग, पृ. २६५।

९४. जी.सी.पाण्डेय, पृ.१२२, बौ.ध.वि.इ.।

९५. ऋ. १०।१५१ श्रद्धासुत्त।

९६. उपनिषद यत्श्रद्धया....तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

९७. पुरातत्व निबंधावली, पृ. २७५-२८३।

९८. उद्धरण के लिये देखिए, भ.सि.ड., बौ.द.त.अ.भा.द. भाग प्रथम पृ. ३५२।

९९. मिलिन्दपन्ह। पृ. ३७।

१००. उद्धरण के लिए देखिये, जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.के वि.का इ. पृ. ११९।

१०१. वही।

१०२. सु.नि. आलवक सुत्त।

१०३. वही 'सद्धाय तरती ओघं।

१०४. वही।

१०५. सु.नि. कसिभारद्वाज सुत्त।
१०६. दीघ नि. जनवसभ सुत्त, २।५।
१०७. संगीति परियाय सुत्त।
१०८. म.नि. चंकि सुत्तन्त, २।५।५।
१०९. वही, सेख-सुत्तन्त, २।१।३ ।
११०. वही, बोधिराजकुमार सुत्तन्त, २।४।५।
१११. इतिवुत्तक, चवमान सुत्त।
११२. लक्खण पन्हो।
११३. धम्मसंगणि, भाग १२।
११४. विशुद्धिमग्ग, पृ. ३२३
११५. अभि.स., भाग १, हि.भा. ।
११६. यथा महाराज। पुरिसो गेहे पतन्ते अन्नेन दारुणा उपत्थम्मेय्य उपत्थम्मितं सन्तं एव गेह न पतेय्य, एवमेव खो महाराज उपत्थम्भण लक्खणं विरियं विरियुपत्थम्मिता सब्बे कुसला धम्मा न परिहायन्तिति। मिलिन्दपन्ह, पृ. ३८।
११७. अभि.स., भाग २, हि.भा., पृ. ७७९।
११८. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., पृ. ३५५। वही,
११९. मिलिन्दपन्ह, लक्खण पृ. ३७।
१२०. अंगुत्तर नि. २।७।५।
१२१. म.नि., १।५।७, विमंसक सुतन्त।
१२२. वही, ३।२।५, बहुधातुक सुतन्त।
१२३. वही, १।४।८, महातण्हासंखय सुतन्त।
१२४. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. ११८।
१२५. अंगु.नि. चतुर्थ। पृ. ३६३ (रोमन संस्करण)।
१२६. अगु, नि.भाग ३, पृ. १० (रोमन संस्करण)।
१२७. वही, भाग ४, पृ. ३ (रोमन संस्करण)।
१२८. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. ११९।
१२९. दीघ नि. २।९, म.नि., १।१।२, २।३।७।
१३०. अ.नि. भाग २, चतुक्कनिपातो।
१३१. म.नि., ३।५।४।
१३२. अट्ठसालिनी, पृ. १२०।
१३३. अ.स., भाग १, हि.भा., पृ. ११९।
१३४. अट्ठसालिनी, पृ. ८३।
१३५. धम्मसंगणि मूल टीका, पृ. ८८।

१३६. विभाव्वनी, पृ. ८४।
१३७. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि. का इ., पृ. १२४।
१३८. प.दी., पृ.२८।
१३९. अभि.सं. भाग २, भ.रे.ध. और रा.त्रि., पृ. ७८४।
१४०. डॉ. लालमणी जोशी, पृ. १०३, श्रावस्ती मासिक।
१४१. डॉ. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ., पृ. ९६।
१४२. वही।
१४३. वही, पृ. ९८।
१४४. म.नि. (मूलपण्णासक) सम्मादिट्ठिसुत्तं, पृ. ६२-६३।
१४५. वही।
१४६. अशोक कुमार लाड, भा.द. में मो.चि. पृ. ९८।
१४७. भ.आ.कौ., भ.बु. औ.उ.घ. पृ. १०२।
१४८. अक्रोध तथा अविहिंसा से क्रोध तथा हिंसा का अभावमात्र ज्ञापित होता है - देखिए, वही, पृ. ९७।
१४९. वही, पृ. ९७।
१५०. म.नि. भाग ३, पृ. १३६-३७, विभंग, पृ. १३३।
१५१. विशुद्धिमग्ग, पृ. ३५६।
१५२. अभि.स. भाग २, पृ. ७५५।
१५३. विभंग अट्ठकथा, पृ. ११९-१२०।
१५४. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ., पृ. ९८।
१५५. देखिये विनयपिटक (प्रवारणा स्कंधक)।
१५६. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ., पृ. ९८।
१५७. वही।
१५८. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ., पृ. ९९।
१५९. भा.द. में मो.चि., पृ. ७५, डॉ. अ.कु.ला.।
१६०. भ.आ.कौ., भ.बु.औ.उ.घ. पृ. ९९।
१६१. जी.सी.पाण्डेय, बौ.ध.वि.इ., पृ. १२०।
१६२. वही।
१६३. भ.आ.कौ., भगवान बु.औ.उ.घ., पृ. १००।
१६४. भ.आ.कौ., भगवान बु.औ.उ.घ., पृ. १००।
१६५. वही।
१६६. वही।
१६७. विशुद्धिमग्ग, पृ. ८१।
१६८. बी.सी. जैन, बौ.स.का.इ., पृ. १८१ ।

१६९. समन्तपासादिका, पृ. १४५-४६।
१७०. दीघ नि. भाग ३, पृ. २७३, म.नि., भाग १, पृ. ४९४।
१७१. वही।
१७२. अभि.स., १.१५।
१७३. वही। हि.अ. भ.रे.ध.और रा.त्रि.।
१७४. वही, पृ. ६५-६६।
१७५. अ.स. हि.भाग-२, पृ. ८२४।
१७६. अ.स., भाग २, हि.भा., पृ. ८९१।
१७७. वही।
१७८. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि. का इ., पृ. १२४।
१७९. भ.आ.कौ., बौ.ध.ए.बु.अ., पृ. ९६।
१८०. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ. ३०।
१८१. वही।
१८२. वही।
१८३. वही।
१८४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, प्रस्तावना, पृ. ३०।
१८५. वही।
१८६. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध.के वि.का इ., पृ. १२४।
१८७. विशुद्धिमार्ग, भाग १, भूमिका, पृ. ३१।
१८८. जी.सी. पाण्डेय, बौ.ध. के वि. का इ., पृ. १२४।
१८९. अ. सं. हि.भा. भाग २, पृ. ८८३।
१९०. विशुद्धिमार्ग, भाग १, भूमिका, पृ. ३१।
१९१. अ.स., हि.भा., भाग २, पृ. ८८३।
१९२. अ.स., हि.भा., भाग २, पृ. ८८३।
१९३. छहढाला - छठी ढाल - दौलतरामकृत
१९४. सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु कृथापरत्वम। माध्यस्थ भाव विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।
१९५. अ.स. भाग २, पृ. ८९१ ।
१९६. वही।

सप्तम् अध्याय

कर्मों से निवृत्त होने की अवस्थाएं

सांसारिक स्नेहजाल एवं बंधनो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो मार्ग तथागत ने बतलाया उस मुक्ति, की जो चार अवस्थाएं कही गई है, वे एक प्रकार से आध्यात्मिक विकास के सोपान की क्रमिक अवस्थाएं है।

कर्मों से निवृत्त होने की चार अवस्थाएं निम्नांकित हैं -

१. स्रोतापत्ति
२. सकदागामी
३. अनागामी
४. अर्हत।

स्रोतापत्ति

बौद्ध धर्म व संघ में दृढ आस्था, विश्वास और प्रसन्नता एवं सत्शीलों का आचरण स्रोतापत्ति के ही अनिवार्य अंग है। इनसे युक्त होने पर हिंसा, अदत्ता, दान, कामभागों में मिथ्याचार, मृषावाद एवं मद्यपान से मुक्त होती है। स्रोतापत्ति के श्रद्धा प्रभृति अंगो की प्राप्ति के पश्चात प्रीति, प्रामोद्य, प्रश्रब्धि और समाधि की वृद्धि होनी चाहिए तथा निम्नलिखित छह विद्यामागीय (विद्यासाधक अनुपश्याओं) की भावना करनी चाहिए, वे हैं - अनित्य, दुःख, अनात्म, प्रहाण, विराग एवं निरोध अनुपश्यना। चार सत्यों के ज्ञान से स्रोतापत्ति अवस्था पुर्णता से निष्पन्न होती है।[१]

स्रोतापत्ति अवस्था परिभाषा

'सवति' 'सन्दतीति' सोतो जो स्पन्दित (प्रस्रवित) होता है वह स्रोतस है।[२] गंगा आदि के प्रवाह को हम स्रोतस या प्रवाह कहते हैं। उस मार्ग प्रवाह के समान होने से आर्य अष्टांगिक मार्ग को भी स्रोतस कहा जाता है।[३] जैसे गंगा आदि महानदियों की धारा हिमालय से उदभूत होकर मार्ग में बिना रुके वेग से समुद्र की और अग्रेसर होती हुई अन्त में समुद्र में ही मिल जाती है, उसी प्रकार सम्यक दृष्टि आदि आर्य अष्टांगिक मार्ग अपने प्रथम उत्पाद क्षण से लेकर अप्रतिहत गति से वेगपूर्वक अग्रसर होते हुए अन्त में निर्वाणरुपी समुद्र तक पहुंच जाता है।[४]

केवल आर्य जनों में ही नहीं, पृथग्जनों मे भी श्रद्धा आदि कुशल कर्मों की

से युक्त जीवन बिताते हैं। परन्तु उनका वह शील-सदाचार पालन स्थायी नहीं होता। वे एक क्षण में कुशल कर्म करते है तो दूसरे क्षण में उनके अकुशल कर्मों में प्रवृत्त होने की संभावना भी बनी रहती है। परन्तु किसी साधक के द्वारा आर्य अष्टांगिक मार्ग को एक बार स्वीकार कर लेने पर उसकी मुक्ति के मार्ग में प्रगति अवश्यंभावी है और वह निर्वाण प्राप्त करके ही रहता है। स्रोतापत्ति अवस्था को प्राप्त साधक ध्यान के वितर्क विचारादि पांचो अंगो से युक्त रुपावचर कुशल चित्त को धारण करता है।[५] स्रोतापत्ति मार्ग की प्राप्ति हो जाने पर दृष्टि एवं विचिकित्सा नामक दो संयोजनो का प्रहरण हो जाने से साधक नरकादि अपायभूमियो में नहीं जा सकता।[६] उसे ही प्रहीणापायगमन कहा गया है।[७] स्रोतापत्ति पुदगल तीन प्रकार के माने गये हैं।

१. एक बीजी

२. कोलंकोल एवं

३. सत्तक्खत्तुपरम।[८]

इस जन्म के उपरान्त केवल एक बार और प्रतिसन्धि लेने वाला एक बीजी स्रोतापन्न कहा जाता है।

२ से लेकर ६ भवों के बीच में प्रतिसन्धि लेने वाला कोलंकोल स्रोतापन्न[९] तथा ७ भव पर्यन्त प्रतिसन्धि लेने वाला पुदगल सत्तवखत्तुपरम-स्रोतापन्न कहलाता है।

इस त्रैविध्य का कारण विभंग अट्ठकथा[१०] में इस प्रकार दिया है - अपनी स्वभावभूत पारमिता के अनुसार श्रद्धा, प्रज्ञा आदि इन्द्रियां भी मृदु मध्य या तीक्ष्ण होती है। इस क्रम के अनुसार पुदगल भी तीन प्रकार के होते हैं। इसी क्रम के अनुसार सत्तक्खतुपरम स्रोतापन्न, कोलंकोल स्रोतापन्न एवं एक बीजी स्रोतापन्न होते हैं - एक बीजी स्रोतापन्न, स्रोतापन्न होने के अनन्तर आगामी में ही सकृढागामी, अनागामी एवं अर्हत हो जाता है।[११]

कोलंकोल स्रोतापन्न अधिक से अधिक ६ बार प्रतिसंन्धि लेता है। इन्हीं प्रतिसंधियों के काल में सकृढागामी, अनागामी एवं अर्हत हो जाता है।[१२]

सत्तक्खुत्तपरम स्रोतापन्न ७ भव पर्यंत प्रतिसंन्धि लेता हुआ ६ भवों के बीच में सकृढागामी भी हो सकता है अथवा नहीं भी। किन्तु सप्तम भव में अवश्य अनागामी एवं अर्हत हो जाता है।[१३] स्रोतापन्न साधकों के ये तीन भेद कामभूमि में रहने वाले पुदगलों में ही होते है - रुप या अरुप भूमि के पुदगलों में नहीं, क्योंकि इन भवों में पुदगल अनेक प्रतिसन्धियां ग्रहण करते है।[१४]

चित्त क्लशों, संयोजनों तथा नीवरणों के शेष रहने से जो पुदगल केवल एक बार पुनः इस लोक में आता है, उसे सकदागामी कहते हैं।[१५] इस काम भूमि में एक बार आन से तात्पर्य ब्रह्मलोक आदि लोको से आना नहीं है, अपितु इस लोक से एक बार पुनः इसी लोक में प्रतिसन्धि लेने से है। परमत्थदीपनी[१७] में इस संबंध में भी विस्तृत चर्चा आई है कि कोई सकदागामी साधक इस लोक से च्युत होकर ब्रह्मलोक में जन्म लेकर भी पुनः एक बार इसी (कामावचर भूमि) लोक में आकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। स्रोतापत्ति पुदगल की तरह सकदागामी पुदगल का चित्त भी ध्यान के वितर्क-विचारादि ५ अंगो से युक्त होता है। इस अवस्था में राग, द्वेष एवं मोह दुर्बल हो जाते हैं, सकदागामी पुदगल में राग, द्वेष, एवं मोह बार बार उत्पन्न नहीं होते और यदि कदाचित उत्पन्न होते भी हैं तो तीक्ष्ण नहीं होते।[१८]

अनागामी

साधक कामराग एवं व्यापाद नामक संयोजनो का अशेष प्रहाण कर देता है। इसलिये उसके चित्तप्रवाह में काम तृष्णा का लेश भी न होने के कारण उसके लिए पुनः इस काम भूमि में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। रुपराग एवं अरुपराग[१९] का प्रहाण न कर सकने के कारण वह रुप या अरुपभूमि में प्रतिसन्धि ग्रहण कर सकता है।[२०]

इस काम भूमि में पुनः प्रतिसन्धि न लेने वाले पुदगल कोअनागामी कहते हैं।[२१] काम भूमि से च्युत होने के अनन्तर वह पुदगल ब्रह्मलोक में प्रतिसन्धि लेता है।[२२]

स्रोतापत्ति एवं सकदागामी के समान ही अनागामी एवं अर्हत भी ध्यान के पांचो अंगो से युक्त चित्त को धारण करते है।[२३]

अर्हत

स्रोतापत्ति मार्ग की उपलब्धि से दृष्टि संयोजन, शीलव्रत परामर्श संयोजन एवं विचिकित्सा नामक संयोजन रुपी रज्जुओं का तथा 'अनागामी मार्ग' की प्राप्ति से कामराग संयोजन एवं प्रतिघ संयोजनों का उच्छेद होता है, परन्तु पुदगल संसार चक्र से नहीं छूटता। वह साधक खमराग नामक संयोजन के कारण रुपभूमि से एवं अरुपराग नामक संयोजन से अरुपभूमि में बंधा हुआ रहता है। मान, औद्धत्य एवं अविद्या नामक संयोजनो के हेतु से वह ब्रह्मभूमियों से बंधकर रहता है। अर्हत मार्ग की उपलब्धि से इन पांचो संयोजनो का निःशेष समुच्छेद हो जाने पर ही संसार चक्र से मुक्ति संभव होती है।[२४] अध्याय ६ में क्लेशों की चर्चा के प्रसंग में संयोजनो का

भी उल्लेख किया गया था। उनका स्वरुप यहां स्पष्ट किया जा रहा है - प्रसंगतः मान दृष्टि एवं विचिकित्सा ये धर्म क्लेशों में उल्लिखित हैं एवं संयोजनो में भी। अतः इन्हें छोडकर शेष का विचार किया जा रहा है।

१. कामराग -

इसका स्वरुप कामासव की तरह होता है।[२५] कामगुणों में आसक्त तृष्णा कामासव कहलाती है,[२६] कहा जा सकता है कि उसी तरह कामराग भी कामगुणों में साधक को बांधकर रखता है।

२. भवराग -

रुपी एंव अरुपी ध्यान तथा उनका विपाक 'भव' है[२७] तथा उसके प्रति राग या तृष्णा को शद्वांतर से भवराग कहा जा सकता है।

३. इर्षा -

जिस धर्म के द्वारा डाह (जलन) होता है वह ईर्षा है, दूसरों की सम्पत्ति अर्थात उत्कर्ष या प्रगति को देखकर असूया होना यही इसका लक्षण हे।[२८]

मात्सर्य

अपने ही उत्कर्ष के हेतु से प्रवृत्त चित्तवृत्ति को मतसर[२९] कहा गया है। मुझमें ही ये गुण हो, मेरे पास ही यह वस्तु हो, अन्य के पास न हो इस प्रकार की भावना मन में होना यही मात्सर्य है।

अविद्या का स्वरुप अध्याय ४में दिया गया है। पांचो नीवारणों का स्वरुप अध्याय ३ में ध्यान-चित्तो के प्रसंग में दिया गया है। अर्हत दशा में साधक सभी क्लेशों, नीवरणों एवं संयोजनो का पूर्णतः प्रहाण कर लेता है।

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टि, शीलव्रत-परामर्श, विचिकित्सा, कामराग एवं प्रतिघ प्रभृति दसों संयोजनो का क्रमिक क्षय होते होते स्रोतापत्ति सकदागामी, अनागामी ये तीन अवस्थाएं तथा अन्त में सभी संयोजनों का पूर्ण क्षय हो जाने पर अर्हत अवस्था प्राप्त होती है। इसी अवस्था को सोपाधिशेष निर्वाण कहा गया है।

ऋद्धि एवं अभिज्ञाएं

अध्याय ५ में छन्द, वीर्य, चित्त एवं वीमंसा इन चारों अधिपति धर्मो का विवेचन किया जा चुका है। इन्हें ऋद्धिपाद भी कहा गया है।[३०] छन्दादि धर्मों से युक्त ध्यान भावना बार बार करने से जब साधक का चित्त परिशुद्ध हो जाता है, तब उसे अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त होती है।[३१] वे दस ऋद्धियां इस प्रकार हैं - अधिष्ठान ऋद्धि, विकुवर्ण ऋद्धि, मनोमय ऋद्धि, ज्ञान विस्फार ऋद्धि, समाधि विस्फार ऋद्धि, आर्य ऋद्धि, कर्म विपाकज ऋद्धि, पुण्यवान ऋद्धि, विद्यामय ऋद्धि एवं सम्प्रयोग प्रत्यय ऋद्धि।[३२] छन्द, वीर्य, चित्त एवं वीमंसा से युक्त होकर ध्यान करने

पर जिस प्रकार उपरोक्त ऋद्धियां प्राप्त होती हैं उसी प्रकार विशिष्ट समाधि के योग से ऋद्धिविध अभिज्ञा, दिव्य श्रोत्र अभिज्ञा, परचित्त विजानन अभिज्ञा, पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा एवं दिव्यचक्षु अभिज्ञा इस प्रकार पांच अभिज्ञाएं प्राप्त होती है।[३३] कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से दिव्य चक्षु अभिज्ञा विशेष महत्त्व रखती है।

समाधि दो प्रकार की कही गई है - उपचार समाधि एवं अर्पणा समाधि।[३४] उपचार समाधि की अवस्था में नीवरणों का प्रहाण हो जाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ये पाचं ध्यानांग होते है। ये ध्यानांग उपचार समाधि की अवस्था में इतने बलवान नहीं होते कि उनके द्वारा ५ नीवरणों का प्रहाण पूरी तरह से हो सके।[३५] इन ध्यानागों के पर्याप्त बलवान होने पर वितर्क के द्वारा स्त्यान एवं मिद्ध[३६] नामक नीवरण का, विचार से विचिकित्सा[३७] का, प्रीति से व्यापाद[३८] का सुख से औद्धत्य एवं कौकृत्य[३९] का एवं एकाग्रता से व्यापाद[४०] नामक नीवरण का प्रहाण हो जाता है। अर्पणा समाधि में उपरोक्त पांचो ध्यानांग बलवान होते हैं।[४१] अतः इस समाधि में पांचो नीवरणों का प्रहाण पूरी तरह से हो जाता है। स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी एवं अर्हत इन चारों लोकोत्तर अवस्थाओं में साधक पांचों ध्यानांगो से युक्त होकर[४२] क्रमशः उपरोक्त पांचों नीवरणों का प्रहाण करता है। अभिज्ञाओं की प्राप्ति अर्पणा समाधि को प्राप्त करने के पश्चात ही होती है। समाधि की प्रबलता और तज्जन्य तीव्र शक्ति से सहगत पंचम रुपावचर ध्यान की अवस्था में जो लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त होता है उसे अभिज्ञा कहा गया है।४३ यह भी कहा गया है कि पृथ्वी, आप, तेज प्रभृति दस कसिणों४४ में वशित्व४५ , आर्य अष्टांगिक मार्ग में पूर्णता, नौ ध्यानों४६ की प्राप्ति अथवा अकेले पंचम ध्यान को प्राप्त करने वाले साधक को भी पांचो अभिज्ञाओं की प्राप्ति हो सकती है।४७

इन पांच अभिज्ञाओं का स्वरुप संक्षेप में इस प्रकार हैं -

१. ऋद्धिविध अभिज्ञा-

१० अभिज्ञाओं में से अधिष्ठान ऋद्धि[४८] विकुवर्ण ऋद्धि[४९] एवं मनोमय ऋद्धि।[५०] इन तीन ऋद्धियों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करना ही ऋद्धिविध अभिज्ञा है।[५१]

२. दिव्य श्रोत्र-

देवभूमि में होने वाले श्रोत्र को दिव्य-श्रोत्र कहते हैं। वे बहुत दूर के एंव अत्यन्त धीमे शद्वों को भी सुनने में समर्थ होते है। इस अभिज्ञा से युक्त साधक भी बहुत दूर के एवं अत्यन्त धीमे शद्वों को सुन सकता है।[५२]

३. परचित विजानन-

दूसरों के चित्त को जानने का सामर्थ्य[५३]- इसे चेतोपर्यज्ञान[५४] भी कहा गयाहै।

४. **पूर्वेनिवासानुस्मृति-**

अनेक पूर्व जन्मों का स्मरण।[५५]

५. **दिव्यचक्षु-**

अत्यन्त दूर स्थित व्यवहित एवं सूक्ष्म रुपों को भी देखने का सामर्थ्य।[५६] इस अभिज्ञा की प्राप्ति हो जाने पर 'यथाकर्मोपग अभिज्ञा' एवं 'अनागतांश अभिज्ञा' की भी प्राप्ति हो जाती है। इन्हें मिलाकर अभिज्ञाओं की संख्या कुल ७ हो जाती है।[५७] पिछली दो अभिज्ञाओं को लोकोत्तर अभिज्ञा भी कहा जाता है।[५८] इन अभिज्ञाओं को प्राप्त करने वाले योगी को वर्तमान में नाना योनियों में जन्म लेने वाले सत्त्वों के तदहेतुक पूर्व कर्मों का ज्ञान तथा वर्तमान कर्मों के आधार पर भविष्यत जन्मों का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।[५९] इन अभिज्ञाओं का उल्लेंख प्रकीर्णक कथा में किया गया है।[६०]

निर्वाण

भारतवर्ष में सदा ही आध्यात्मिक साधना के द्वारा चरम लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्न किये गये है। वह चरम लक्ष्य 'मोक्ष' 'कैवल्य' या 'निर्वाण' शद्व से अभिहित किया गया है। इस भारतवर्ष की आध्यात्मिक साधना के दीपक के रुप में संभवतः वातरशना मुनि का उल्लेख मिलता है और फिर मिलता है भ. पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक प्रमाण जिन्होंने अपने कठोर तपश्चर्या द्वारा कैवल्य या निर्वाण पद प्राप्त किया। उनके ही अनुगामिनी बने भ. महावीर और भ. बुद्ध भी। कदाचित उपरोक्त वातरशना मुनियों से ही प्रेरित होकर वनों में चिन्तन करने लगे वैदिक ऋषि और उनसे प्रेरित हुए। ऋषि याज्ञवल्क्य। उस 'कैवल्य' के लिए ही प्रसूत हुए निर्गन्थों के प्रवचन एवं उसी परमसत्य या निर्वाण के लिए भ. बुद्ध के धर्म में दीक्षित हुए महाकाश्यप और सारिपुत्र जैसे प्रज्ञावान भिक्षु। इसी की खोज में निकले थे राष्ट्रपाल जैसे कुलपुत्र एवं अन्य भारतीय साधक भी। इसी अनुभूति के मिलते है भावोद्दीजक उदगार थेर एवं थेरी गाथा में। इसी सत्य को अधिगत करने के लिए सन्यासी बने थे स्वयं सम्राट अशोक एवं प्रेरणा दी थी स्वयं के सुपुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा को वह दिव्य सत्य विश्व में प्रसारित करने की। इसी सत्य को पाकर भावविभोर होकर चिल्लाये थे। 'अज्ञात कौंडिण्य' जान लिया, जान लिया। इसी के लिए सांख्य ने विवेचित किया है प्रकृति-पुरुष का तत्त्वज्ञान। संत तुकाराम, चोखोबा एवं कबीर भी इस पंथ के पथिक बने। यहा साधक के वर्ण, जाति लिंग आयु का कोई बन्धन, कोई सीमा कभी नहीं बांधी गयी। स्त्रियां भी इस परमपद की सफल साधिकाएं हुई।

भिन्न भिन्न भारतीय धर्मों में मानव जीवन के चरम लक्ष्य की इस अवधारणा को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, परमात्मपद, परम-पद, प्रभृति नाना शद्वो से अभिव्यक्त किया गया है। पालि पिटकों में निर्वाण को एक अनभिलाप्य अनिर्वचनीय

आध्यात्मिक अनुभव कहा गया है, जो शब्द के अभिव्यक्ति के सर्वथा परे है। निर्वाण साधना का आरम्भ इसी वर्तमान जीवन से किया जा सकता है, और इसी जीवन में उसकी प्राप्ति भी संभव है। इसी कारण उसे दृष्ट धर्म अर्थात देखा हुआ या अनुभव किया हुआ धर्म कहा गया है। 'जो जीते जी प्राप्त होता है, जो काल से सीमित नहीं, जिसके बार में कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो, जो ऊपर उठाने वाला है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष स्वयं प्रत्यक्ष (अनुभव) कर सकता है'।[६१] जब चित्त शान्त हो जाता है, जब बन्धनों से मुक्त हो जाता है, तब उसे कुछ और करना बाकी नहीं रहता, जो कार्य वह करता है, उसमे कोई ऐसा नहीं होता जिसके लिए उसे पश्चाताप हो। चित्त की पूर्ण विशुद्धता ही मुक्ति या निर्वाण के रूप में प्रकट होती है। महाप्राज्ञ आचार्य बुद्धघोष[६२] ने कहा है - 'विशुद्धिति सब्बमलं विरहित अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं' अर्थात सर्वमल से रहित अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण को ही विशुद्धि जानना चाहिए। इसका अर्थ है कि विशुद्धि और निर्वाण एक ही है। अंततः साध्य और साधना की एकरुपता को भी निर्वाण कहा जा सकता है, क्योंकि साधना का चरम उत्कर्ष साध्य की उपलब्धि में ही निहित है।

कर्म एवं निर्वाण

निर्वाण प्राप्ति की अवस्था में कर्म और पुनर्जन्म नहीं रहते। भव का प्रवाह रुक जाता है। तृष्णा का निरोध हो जाता है। भव एवं तृष्णा के कारक या हेतु रुप जो कर्म है उन सबका निर्वाण में अन्त हो जाता है। कर्मो के निवेशनों में प्राणी नहीं पडता।[६३] ब्रह्मचर्यवास पूरा कर लिया, जो करणीय था सो कर लिया, अब कुछ करने को शेप नहीं, ऐसी साधक की भावना हो जाती है। अर्हत के कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये जाने से वे अव्याकृत हो जाते है। इसलिए अर्हत की चित्त दशा को 'क्रिया-चित्त' कहा गया है। उनका चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी कार्य या विपाक की दृष्टि से निष्क्रीय होता है। ऐसी अवस्था में ही उन्हें निर्वाण प्राप्त हो जाता है। माता के गर्भ में पुनर्जन्मकारी चेतना अथवा प्रतिसन्धि रुप विज्ञान का बीज नहीं पडता। वे सभी प्रकार के संयोजनो से विमुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हो जाते है। उस प्रज्ञावन्त के लिए धर्म भी उस नाव के समान हो जाता है, जिसे नदी पार करने के पश्चात् वही छोड दिया जाता है।

निर्वाण, राग, द्वेष, और मोह का क्षय है। इन तीनों को बारंबार अकुशल मूल कहा गया है। ये ही सारे बंधनो की जड है। राग, द्वेष, मोह संसार की सारी बुराइयों में ये ही जड रुप से विद्यमान रहते हैं। इस त्रया से युक्त चित्त कभी शान्त नहीं रह सकता। इनसे विमुक्त हो जाना ही निर्वाण है, इस प्रसंग में भगवान बुद्ध के धर्म सेनापति स्थविर सारिपुत्र का यह कथन दृष्टव्य है - जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय एवं मोह का क्षय है यही निर्वाण कहलाता है।[६४] भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा था राग

और द्वेष का छेदन कर तुम निर्वाण को प्राप्त करोंगे।[६५] राग, द्वेष, एवं मोह का मूल तृष्णा है इसलिए तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा गया है।[६६] और अन्ततः यह जो जन्म-मृत्यु का चक्र है, इस चक्र का रुक जाना, भवों की धारा का सर्वथा निरुद्ध हो जाना, इसी को निर्वाण कहा गया है।[६७]

निर्वाण जन्म, जरा, मरण और शोक से विमुक्ति है। भगवान बुद्ध ने कहा है - 'जिस ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त हो गया, जो अकिंचन, कामभव में अनासक्त है वह निश्चय से इस काम-भव में अनासक्त होकर विचरता है तथा तृष्णा, राग और आशा से रहित होता है, जन्म, जरा-व्याधि शोक एवं मृत्यु के अनादि भवचक्र से पार हो जाता है।[६९] भिक्षुणी थेरी गाथा में सुमे[६८] इस संबंध में अपने उद्‌गार निम्न प्रकार से प्रकट करती हुइ दिखाई देती है -

'यह अजर, अमर और जरामरण से विमुक्त स्थान है। इसमें न शोक है, न विरोध, न बाधा, न स्खलन, न भय है और न ताप ही। इसे बहुत साधकों ने प्राप्त किया है और आज भी प्राप्त किया जा सकता है, उसका उपाय है - सम्यक ध्यान एवं सम्यक प्रयत्न'। बिना प्रयत्न के यह अप्राप्य है।[७०]

निर्वाण के भेद-प्रभेद

सोपाधिशेष निर्वाण एवं निरुपाधिशेष निर्वाण

शान्त स्वभाव रुप होने से निर्वाण एक विध होने पर भी पालि वाड्मय में उसके दृष्ट धर्म निर्वाण एवं साम्परायिक निर्वाण इस प्रकार दो भेद कहे गये है। दृष्ट धर्म निर्वाण को सोपाधिशेष निर्वाण एवं साम्परायिक निर्वाण को निरुपधिशेष निर्वाण७१ कहा जाता है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लोभ, द्वेष, मोह एवं अलोभ, अद्वेप, अमोह इन छह हेतुओं से मुक्त होकर बंधन के सभी हेतुओं, क्लेश, संयोजनों एवं नीवरणादि से रहित 'चेतोविभुक्ति की जो अवस्था यही इसी शरीर में, इसी जीवन में प्राप्त होती है उसे सोपाधिशेष निर्वाण कहा गया है। इसे अच्युत भी कहा गया हे।[७२] इसका अर्थ है कि एक बार निर्वाण की अवस्था प्राप्त होने पर साधक उससे कभी च्युत नहीं होता। कर्मो से निवृत्ति की जो चार अवस्थाएं पिछले पृष्ठों पर बतलाई गयी है उन्हें निर्वाण प्राप्ती के चार सोपान कहा जा सकता है।[७३] निर्वाण के पुनः शून्यता निर्वाण, अनिमित्त निर्वाण एवं अप्रणिहित निर्वाण इस प्रकार आकार भेद से त्रिविध[७४] प्रकार का होता है, ऐसा कहा गया है।

१. शून्यता निर्वाण-

राग, द्वेष, एवंम् मोह के साथ सभी नाम-रुप धर्मो के शून्यताकार का लक्ष्य करके 'शून्यतानिर्वाण' कहा जाता है।[७५]

२. अनिमित्त-

'निमित्त' शद्ब लंबाई, चौडाई आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। रुप स्कंध पिण्ड के रुप में विभिन्न प्रकार के संस्थान (आकार) वाला होता है। नामस्कंध (अरुपी धर्म) संस्थान के रुप में न होने पर भी संस्थान की तरह प्रतिभासित होता है। निर्वाण इस तरह के संस्थानवाला नहीं है। इस प्रकार संस्थान न होने वाले आकार का लक्ष्य करके अनिमित्त निर्वाण भी कहा जाता है।[७६]

अप्रणिहित्त

प्रार्थित के अर्थ में प्राणिहत शद्ब प्रयुक्त होता है। यह 'प्रणिहित' शद्ब 'प्राणिधि' का पर्यायवाची है। निर्वाण तृष्णा स्वभाव से प्रार्थना करने योग्य नहीं है तथा निर्वाण में प्रार्थना करने वाली तृष्णा भी नहीं है। यहां तृष्णा द्वारा अप्रणिहित तथा प्रार्थना करने वाली तृष्णा के अभावाकार का लक्ष्य करके 'अप्रणिहित निर्वाण' भी कहा जाता है।[७७] निर्वाण परिनिर्वाण एवं महापरिनिर्वाण ये तीनों शद्ब पालि-पिटकों में पाये जाते है।

निर्वाण दशा में सब कुछ का अन्त नहीं माना गया है। जैसे कि अग्निस्कंधोपम सुत्त में रागाग्नि, द्वेषाग्नि एवं मोहाग्नि के जलने की बात कही गई है, परन्तु यह नही कहा गया कि जीवन जल रहा है।[७८] निर्वाण में दुःख का अन्त हो जाता है किन्तु सब कुछ का अन्त नहीं होता।[७९] इस प्रकार यहां निर्वाण का अर्थ है - 'दुखों का अन्त'। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जे.एन. सिन्हा एवं डॉ. सी. डी. शर्मा इनका निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तत्वि का उच्छेद नहीं है।[८०]

परिनिर्वाण का सामान्य अर्थ है - पूरी तरह से बुझ जाना।[८१] इस कल्पना का समर्थन उदान[८२] के अनुसार होता है, जिसमें कहा गया है कि 'शरीर छोड देने, संज्ञा निरुद्ध हो जाने, सारी वेदनाओं के बिलकुल निरुद्ध हो जाने, संस्कार शान्त हो जाने एवं विज्ञान के भी अस्त हो जाने को परिनिर्वाण कहा गया है। यद्यपि दव्व भिक्षु की मृत्यु के संबंध में भगवान बुद्ध ने परिनिर्वाण शद्ब का प्रयोग नहीं किया, परन्तु निर्वाण प्राप्त (लोभ, द्वेष एवं मोह से मुक्त होकर) जिसकी मृत्यु हो गई हो ऐसे व्यक्ति के विषय में परिनिर्वाण शद्ब का प्रयोग किया हे ऐसा उदान के अनुसार प्रतीत होता है। बौद्ध परिवारों में उपासकों की मृत्यु हो जाने पर परिनिर्वाण हो गया ऐसा कहा जाता है।परन्तु उसे 'मृत्यु' ही कहना समीचीन जान पडता है। जो व्यक्ति आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलकर तृष्णा का विनाश करके शरीर छोडता है उसे ही 'परिनिर्वाण' कहाना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

महापरिनिर्वाण शद्ब का विचार करने पर उसकी सर्वमान्य व्याख्या कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इस शद्ब से अनुमानतः निर्वाण प्राप्त विशिष्ट महापुरुषों के लिए

आदरसूचक 'महा' उपसर्ग लगाकर उसे अन्य निर्वाण गामी व्यक्तियो से पृथक महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है।

निर्वाण का स्वरुप

उदान के पाटलिग्राम वर्ग में कहा गया है - एक ऐसा आयतन है, जहा न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन है, न विज्ञानानन्त्यायतन, न आंकिचन्यायतन और न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। न तो यह लोक है, न परलोक, न चन्द्रमा है, न सूर्य। न तो वह अगति है और न गति। वह स्थिति या च्युति भी नहीं है। वह उत्पत्त भी नहीं है, वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है, और न ही उसका कोई आधार है, यही दुःखो का अन्त है।[८३]

पालि-पिटको तथा मिलिन्दपन्ह विशुद्धिमग्ग, एवं अभिधम्मत्थ संग्रह में निर्वाण के स्वरुप के संबंध में विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है, परन्तु यह भी कहा गया है कि अस्तिधर्मात्मक निर्वाण के रुप, संस्थान, वय अथवा प्रमाण को किसी उपमा, कारण, हेतु अथवा नय के द्वारा दिखाना संभव नहीं है, क्योंकि निर्वाण अप्रतिभाग है और उसके स्वरुप को उपमाओं से तो नहीं परन्तु गुणों के माध्यम से समझाया जा सकता है।[८४] जैसे कि निर्वाण में कमल के जल से अनुपलिप्त रहने के समान सब क्लेशों से अनुपलिप्तता एक गुण होता है। इसी प्रकार जल के शीतल और दाह शान्त करनेवाले दो गुण होते है। इसी क्रम से निर्वाण में अजगर के तीन गुण, महासमुद्र के चार गुण, आकाश के दस गुण, मणि रत्न के तीन गुण, लोहित चन्दन के तीन गुण, सर्पमंड के तीन गुण तथा गिरीशिखर के समान पांच गुण होते हैं। निरुपद्रव अभय, क्षेम, शान्त, सुख, सत्य, प्रणीत, शुचि एवं शीतल आदि शद्वों के द्वारा समझा जा सकता है। फिर भी निर्वाण की अवधारणा को उपमाओं के द्वारा इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया गया है -

· निर्वाण एक अत्यन्त रमणीय भूमि - भाग के समान है, तथागत उस भूमि पर जाने का मार्ग जानते हैं। वहां जाने का सीधा मार्ग है - यही आर्य अष्टांगिक मार्ग'।[८५] एक अन्य उपमा इस प्रकार है - अपना यह नामरुपात्मक देह राजा के नगर के समान है। इस शरीर रुपी नगर के छह इन्द्रियों रुपी छह दरवाजे है। इस नगर का द्वार रक्षक स्मृति है और राजा के रुप में है 'मन'। इस मन रुपी राजा के पास शमथ और विपश्यना रुपी दो सन्दंशेवाहक आते है, जो सत्य का संदेश लाते है। जिस मार्ग से ये संदेश वाहक आते हैं वही है आर्य-अष्टांगिक मार्ग और जिस संदेश को वे लाते हैं वह है निर्वाण।[८६] निर्वाण के अनुरुप मार्ग है, और मार्ग के अनुरुप निर्वाण का व्याख्यान करने के कारण ही भगवान बुद्ध के धर्म को 'स्वाख्यात' कहा गया है।[८७]

जैसे गंगा नदी की धारा यमुना में मिलती है, और मिलकर गंगा व यमुना

दोनों एक हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मेल खाती है, और मिलकर एक हो जाती है।[८८] जीवन का इस प्रतिपदा पर चलकर शीघ्रतापूर्वक विशोधन करना चाहिए।[८९] आस्रवो के क्षय से साधक अपने मन को जब तक पूर्ण रुप से विशुद्ध न बना ले, तब तक विश्वस्त होकर न बैठे।[९०] इसके लिए यह अनिवार्य है कि साधक सदा अप्रमत्त (जागरुक) रहे, तभी उसे निर्वाण के समीप माना जा सकता है।[९१] यह भी कहा गया है कि जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है, वह निर्वाण के समीप ही है।[९२]

निर्वाण अमृत पद है - भगवान बुद्ध ने जिस जन्म, मरण, दुःख एवं शोकादि से विमुक्ति पाने का प्रण किया था, उसे उन्होंने निर्वाण के रुप में ही पया, जिसमें जन्म, मरण के कारणभूत कर्मों का पूर्णतया क्षय हो गया। यह निर्वाण ही मृत्यु पर विजय थी।[९३] इसी कारण संबोधि के बाद उन्होंने कहा था 'अमृत के द्वार खुल गये'।[९४] इसी अमृत प्राप्ति की बात कही कृष्णा-गौतमी ने भी।[९५] सुजाता का भी साक्ष्य है कि उसने अमृत पद को पाया।[९६]

निर्वाण अच्युत पद है - इच्छा और राग से विरत प्रज्ञावान भिक्षु अमृत, शान्त, 'अच्युतपद' निर्वाण को प्राप्त करता है।[९७] अन्यत्र कहा गया हे कि मैंनें उत्तम अच्युतपद में प्रवेश किया है।[९८] भिक्षुणी सकुला ने भी कहा है 'मैंनें निर्मल धर्म निर्वाण को देखा है', जो अच्युतपद है।[९९]

ऊपर के पृष्ठों में संक्षेप में निर्वाण के स्वरुप की जो चर्चा की गई है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि वाडमय में निर्वाण का स्वरुप केवल निषेधपरक नहीं, अपितु एक अस्तिधर्मात्मक और विधेयपरक भावात्मक अवधारणा है। निर्वाण केवल तृष्णा और अविद्या का क्षय नहीं, जन्म, जरा, मृत्यु का विरोध नहीं, राग, द्वेष, मोह का नाश नहीं, संयोजन, नीवरण और क्लेशों का प्रहाण तथा दुःख के इन हेतु प्रत्ययों के समाप्त हो जाने से दुःख मुक्ति की अवस्था मात्र नहीं, अपितु एक अनिर्वचनीय परमसुख की अवस्था है।[१००] इस अवस्था को कहीं अच्युतपद कहीं अमृतपद, कहीं शिव और शाश्वतपद आदि अनेक विशेषणों से अभिहित किया गया है। कहा गया है कि निर्वाण अजर, अमर और जरामरण से विमुक्त स्थान है, इसमें न शोक है, न विरोध, न बाधा, न स्खलन, तथा न भय है और न ताप।

संदर्भ

१. पुग्गलपञ्ञति, १।

२. अभि.सं., प्रथम, पृ. ७८।

३. विभावनी, पृ. ७५।

४. अभि.सं., प्रथम, पृ. ७९।
५. वही, प्रथम, हि.भा., पृ. ८७-८।
६. अट्ठसालिनी, पृ. २८४-८५ ।
७. अध्याय ३में अपायभूमि में जन्म ग्रहण करने के जो हेतु दिये गये है वे १२ अकुशल चित्त रुप कर्म ही हैं। उनमें मिथ्यादृष्टि को मानसिक अकुशल कर्म कहा गया है। साधारणतः पृथक जनों मे ये दृष्टि होती है। दृष्टि चैतसिक भी दस क्लेशों में एक है जिसका विचार इसके पूर्व के अध्याय ६ में किया जा चुका है। पंच स्कंधो में आत्मा का उपादान करना सत्काय दृष्टि है। इनमें शाश्वतदृष्टि, उच्छेद दृष्टि, नास्तिक दृष्टि, अहेतुक दृष्टि एवं अक्रिया दृष्टि ये दृष्टियां सत्कायदृष्टि की मूलभूत दृष्टियां होती हैं। इसलिए दस क्लेशों में 'दृष्टि क्लेश' को सबसे दुर्घष कहा गया है।१ विचिकितसा अर्थात संशयात्मकता भी दृष्टि की अनुचर होती है।२ देखें १ व २ के लिए पुग्गलपत्रति पृ. २७। स्रोतापन्न पुदगल की चित्त सन्तति में ईर्षा, मात्सर्य आदि स्थूल अकुशल धर्म नहीं होते। स्रोतापन्न होने के पूर्व किये हुए अकुशल कर्म विद्यमान हो सकते है, परन्तु वे स्वतः अपायभूमियों को प्राप्त कराने में असमर्थ होते हैं। अट्ठसालिनी, पृ. २८४-८५।
८. सं. नि., भाग ४, पृ. १७७।
९. पुग्गलपञ्ञति, पृ. २५ साथ ही देखिए, सं.नि. भाग ४, पृ. १७७।
१०. विभंगअट्ठकथा, पृ. ४३३।
११. अभि.सं. द्वितीय, पृ. ९६२, रेवतधम्म।
१२. वही।
१३. वही।
१४. तयो पि इमे सोतापन्ना कामभवसेन वुत्ता, रुपारुप भवे पन बहुका पि पटिसंधियो गण्हति।पटिसंभिदामग्ग अट्ठकथा, द्वितीय, पृ. ६७।
१५. अ.स., प्रथम, हि.भा., पृ. ८०।
१६. वही।
१७. परमत्थदीपनी, पृ. ५६।
१८. पुग्गलपञ्ञति, अट्ठकथा, पृ. ४८।
१९. रुप ध्यान के विपाक में आसक्ति रुप तृष्णा को रुपराग संयोजन एवं अरुप ध्यान के विपाक में आसक्ति रुप तृष्णा को अरुपराग संयोजन कहा गया है। अ.सं. हि.भा. द्वितीय, पृ. ७५१।
२०. वही, पृ. ९६०।
२१. वही, पृ. ८०।
२२. वही।

२३. वही, पृ.८८ ।

२४. परमत्थदीपनी, पृ. २९६। पृथग्जनो की चित्त सन्तति दस संयोजनो रुपी रज्जु से आबद्ध होती है। उनमें से कामराग, प्रतिघ, दृष्टि, शीलव्रत-परामर्श एवं विचिकित्सा इन ५ संयोजनों का संबंध काम भूमि से होता है एव शेष संयोजनो का संबंध ऊपर की ब्रह्मभूमियो से होता है। जब तक इनका बंधन नहीं टूटता, तब तक साधक को ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने पर भी पुण्य बल क्षीण हो जाने पर कामराग नामक संयोजन के बल से पुनः कामभूमि में जन्म लेना पडता है अ.स. हि.भा., द्वितीय, पृ. ७५०।

२५. अ.सं., हि.भा., द्वितीय, पृ. ७५१ ।

२६. वही, पृ. ७३३ ।

२७. वही।

२८. परमत्थदीपनी, पृ. ८१ ।

२९. वही।

३०-३१. विशुद्धिमार्ग, द्वितीय, पृ. ११।

३२-३३. अ.सं., हि.भा. द्वितीय, अनुक्रम से पृ. ९१३ व ९१४ ।

३४. विशुद्धिमार्ग, द्वितीय, पृ. ११८।

३५. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. ११८।

३६-४०. अ.स., हि.भा., भाग २, पृ. ६५-६६।

४१. विशुद्धिमार्ग, द्वितीय, पृ. ११८। अर्पणा समाधि किस प्रकार प्राप्त होती है इसकी समुचित जानकारी के लिए देखें, वही, पृ.१११-१२९।

४२. अ.स., हि.भा., भाग १४, पृ. ८८|४३. वही, भाग २, पृ. ९१२।

४४. दस कसिण ये है - पृथ्वी, कसिण, आप (जल) कसिण, तेज (अग्नि) कसिण, वायु कसिण, नीलकसिण, पीत-कसिण, लोहित (लाल) कसिण, अवदान (श्वेत) कसिण, आलोक कसिण, परिच्छिन्नाकाश कसिण, देखें - विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १०३।

४५. ध्यान में आवर्न वशी, ध्यान को प्राप्त होकर विहरने में वशी, अधिष्ठानवशी, ध्यान से उठने में वशी एवं ध्यान के प्रत्यवेक्षण में वशी देखें, विशेष जानकारी के लिए - विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. १३९।

४६. रुपावचर के ५ एवं अरुपावचर के ४कुल ९ ध्यांन होते हैं। इनके विवेचन के लिएदेखें, अध्याय ३।

४७. अ.सं. हि.भा., भाग २, पृ. ९१२।

४८. अधिष्ठान ऋद्धि - एक होकर अनेक होना, अनेक होकर एक होना आदि।

४९. विकुवर्ण ऋद्धि - नाना प्रकार के रुपो को धारण करने की शक्ति।

५०. मनोमय ऋद्धि - म्यान में तलवार की तरह केंचली में सर्प की तरह, अपने

स्कंध (शरीर) के भीतर उसी वर्ण एवं आकृति का निर्माण करना। अ.स. हिं.भा., भाग २, पृ. ९१४।

५१-५२-५३. 'अ.स. हि.भा., भाग २, पृ. ९१४।

५४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. ३२।

५५-५६. अ.सं., हि.भा., भाग २, पृ. ९१५।

५७. अ.सं., हि.भा., भाग २, पृ. ९१६।

५८. वही।

५९. वही।

६०. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृ. ५०।

६१. एव खो भिक्खवे सन्दिट्ठिक निब्बांण होति अकालिकं, एहिपस्सिकं, ओपनयिकं, पच्चत, वेदितब्ब विञ्जुहि ति। अ.नि., ३-३२।

६२. विशुद्धिमग्ग, १।५।

६३. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग १, पृ. ४८७।

६४. 'यो खो आवुसो। रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इंद वुच्चति निब्बाणं'। सं.नि., भाग २, जम्बुखादक संयुत्त।

६५. 'छेत्वा रांग च दोसंच ततोनिब्बाणमेहिसि' - धम्मपद, २५।१०।

६६. सुत्तनिपात (परायण वग्ग)।

६७. स.नि., भाग २, पृ. ११७ पा.टे.सो.।

६८. सुत्तनिपात, ५।१० (कप्पमाणव-पूच्छा)।

६९. वही, पारायण वग्ग।

७०. इदमजंर इदमरमिदजरामरण पदमसोंक।· असपतं असम्बाधमक्खलितम भंय निरपतापं।। अधिगतमिदं बहुहि अमंत अज्जापि च लभनीयमिदं। यो योनिसो पयुज्जति न च सक्का अघटमानेन। थेरीगाथा, झ. ५१२-१३।

७१. विशुद्धिमग्ग, पृ. ३५५-५६।

७२. उदान, पाटलिगाम वग्ग।

७३. मिलाकर देखिए अ.स. पृ. ७२१ जिसमें कहा गया है कि 'लोकोत्तर' नामक चार मार्ग ज्ञान द्वारा साक्षात करने योग्य तथा मर्ग एवं फल का आलंबनभूत निर्वाण 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण निर्वाण कहा जाता है।

७४. अ.सं., भाग १, हि.भा., पृ. ४२७।

७५. विभावनी, पृ. १६४।

७६. परमत्थदीपनी, पृ . २८१-८२।

७७. वही, २८२।

७८. भ.बु.औ.उ.ध., हि.भा., पृ. १८४।

७९. बौ.ध. के वि. का इ., पृ. १००, जी.सी. पाण्डेय।

८०. डॉ. अशोक कुमार लाड, भा.चि.प.मे.मो.चि., पृ. १५२।

८१. भ.बु.औ.उ.ध., हि.भा.श पृ. १८४।

८२. ८।९।

८३. उदान, वर्ग ८।

८४. मिलिन्दपन्ह, पृ. ३१६।

८५. स.नि. भाग ३, पृ. १०६ (पा.टे.सो.)।

८६. वही, भाग ४, पृ. १९४।

८७. निब्बानानुरुपाया पटिप[illegible]त्तिया, पटिपदानुरुपस्स च निब्बानस्स अक्खातत्ता स्वाक्खातो। विशुद्धिमग्ग, ७।७४।

८८. 'सेय्यथापि नामं गंगोदक यमुपोदकेत सन्सन्दति समेति, एवमेव....निब्बानन्च पटिपदा चा तिं। दी.नि., २।६ (महागोविन्द सुत्त)।

८९. 'निब्बान गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये'। धम्मपद, २०।१७।

९०. 'भिक्खु विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं'1 वही, १९/१७।

९१. वही, २।१२।

९२. 'यम्हि झानन्च पत्रा च स के निब्बानसन्तिके' वही, २५।१३।

९३. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग १, पृ. ४९१।

९४. म.नि., भाग १, पृ. १।३।६।

९५. 'अमतममिगच्छिं' थेरीगाथा, क्र. २२१।

९६. तत्थेव विरजं धम्मं फुसयिं अमंत पदं, वही, क्र. १४९।

९७. 'छन्दरागविरतो सो भिक्खु पत्राणवा इधत। अज्झगा अमत सन्ति निब्बाणपदमुच्चतं' - सुत्तनिपात - पारायण वग्गो।

९८. 'फुसाहितं उत्तममच्युत पदं' - थेरीगाथा, क्र. २११-१२।

९९. 'अद्दस्स विरंज निब्बाणं पदमच्युतं' वही, क्र. ९७।

१००. 'निब्बाणं परमं सुखं' - म.नि., भाग २, मागन्दिय सुत्तन्त।

१०१. निब्बाणं सुखा परं नत्थि- थेरीगाथा क्र.४७६

अष्टम् अध्याय

पालि वाङ्.मय में कर्म सिद्धान्त तथा निर्वाण की अवधारणाओं के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के सिद्धान्त की तुलना

भारत के सभी धर्म सम्प्रदायों के साहित्य में कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति व्यापक रुप से पायी जाती है। उनकी अपनी विशेषताए होते हुए भी बहुत सी मान्यताओं में समानता है। कर्म सिद्धान्त का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वहा दो पक्ष विद्यमान हैं। एक प्रवर्तक पक्ष और दूसरा निवर्तक पक्ष।[१] प्रवर्तक एवं निवर्तक दोनों पक्ष जन्मजन्मान्तर और सुख दुःख का कारण कर्मों को ही मानते हैं। किन्तु प्रवर्तक पक्ष ने यज्ञादि विहित कर्मों की अन्तिम परिणति स्वर्ग प्राप्ति तक मानी।[२] तदनुसार इस पक्ष में धर्म, अर्थ और काम केवल ये तीन पुरुषार्थ माने जाते थे। मोक्ष का स्थान उसमें नही था।[३] इस दृष्टि से वैदिक वाडमय की ओर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि ऋग्वेदक युग में धर्म नितान्त दैवतमय था और मनुष्य के कल्याण के लिए देवताओं की अनेक प्रकार की स्तुतियां की जाती थी।[४] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों में कर्म एवं उससे छुटकारे के प्रश्नों की विशेष मौलिक चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

उपनिषद विचारणा

उपनिषदों में वैसा व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नहीं होता, जैसा कि सांख्य और बौद्ध दर्शन में।[५] अपने अपने विषयानुकूल प्रत्येक दर्शन में मनस्तत्व का भी स्वतंत्र विवेचन किया गया है। उपनिषदों के ऋषियों के लिए सबसे बडी वस्तु आत्मा है जिसके साक्षात्कार में ही कृतकृत्यता निहित है।[६] पालि पिटकों में जिस प्रकार मन को प्रत्येक कर्म का केन्द्र बिन्दु माना गया है, उसी प्रकार उपनिषदों में भी 'मन' को ही प्रधान इन्द्रिय माना गया है।[७] परन्तु उपनिषदों की यह कल्पना चेतन शक्ति की कोई आखिरी सीमा नहीं है, क्योंकि वहां मन के भी परे एक आत्म तत्व का स्वीकार पाया जाता है जैसा कि - इन्द्रियो के मन में लीन हो जाने पर तथा मन के लीन न होने पर आत्मा मनरुप होकर स्वप्न देखा करता है।[८] आत्मा की स्थिति हृदय के भीतर आकाश में पुरीतत नाडी में बताई गई है।[९] इसकें विपरीत पालि साहित्य में चित्त सन्तति का ही वीथिचित्तो के रुप में स्वतंत्र चिन्तन करके उसके द्वारा

स्वप्न मूर्च्छा आदि अवस्थाओं का समाधान करने का प्रयास किया गया है। इसे बौद्ध दर्शन का हृदय के समकक्ष किन्तु बहुत ही सूक्ष्म तत्त्व माना गया है। इस प्रकार मन को मानकर कर्म की भी संगति मन के साथ पालि पिटको में बिठाई गई है।

उपनिषदों में कर्म सिद्धान्त की चर्चा स्वतंत्र रुप में नही आत्मा व मोक्ष के संदर्भ में उपलब्ध होती है। उनमें आत्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है। किन्तु आत्मा के जो विशेषण उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं वे ही पालि पिटको में निर्वाण के संबंध में पाये जाते है जैसे - पिटकों में कहा गया है कि संसार जात, भूत समुत्पन्न, कृत, संस्कृत और अध्रुव है, तथा संसार से निस्सरण की अवस्था (निर्वाण) अजात, असमुत्पन्न, अशोक विरजपद है।[१०] वृद्धारण्यक उपनिषद में आजा है - विरजः पर आकाशादज आत्मा महान ध्रुव[११] कठोपनिषद में कहा गया है 'नेपा तर्केण पतिरापनेया'[१२] निर्वाण को अप्रपन्च, निष्प्रपन्च, प्रपन्चनिरोध अथवा प्रपंचव्युपशम[१३] भी कहा गया है, 'प्रपंच' शद्ब उपनिषदों में बहुत ही कम स्थानों पर पाया जाता है।[१४] निर्वाण को मुक्ति तथा विभुक्ति का प्रतिसरण (प्रतिशरण) कहा गया है।[१५] यही बात शतपथ ब्राह्मण[१६] में एवं मुण्डकोपनिषद[१७] में भी मिलती है।

आगे कहा गया है - 'न वहां सूर्य चमकता हे, न चांद तारे, ये बिजलियां नहीं चमकती यह अग्नि कहा से'?[१८] (चमकेगी)। जहां पृथ्वी, जल वायु एवं तेज की पहुंच नही है, वहां से शद्ब निवृत्त हो जाते है, वहां गति नहीं है, वहा अशेप नाम रुप निरुद्ध हो जाते है।[१९] यही बात प्रकारान्तर से इतिवुत्तक में पायी जाती है। निर्वाण शद्ब भगवदगीता और उपनिपदों में भी मिलता है वहां उसका अर्थ आत्मसाक्षात्कार और उनके परिणाम स्वरुप ब्रह्म में लीन हो जाना[२०] बतलाया गया है। निर्वाण मृत्यु की भी मृत्यु है अथवा उपनिपदों के वर्णनानुसार मृत्यु को पार कर जाने का मार्ग है, निरी 'मृत्यु' नही[२१] कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उपनिपदों में बडी गहनता के साथ मिलाया गया है।[२२]

सांख्य विचारणा

सांख्य दर्शन जिस लक्ष्य को लेकर चलता है, बिलकुल वही लक्ष्य बौद्ध दर्शन का भी है।[२३] सांख्य विचारको ने कहा है कि यहां आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इस दुःखत्रय का अभिघात इष्ट है, इस दुःखत्रय के निरोध के हेतुओं के संबंध में जिज्ञासा करनी चाहिए।[२४] दुःख निरोध दोनों दर्शनों का लक्ष्य है। भगवान बुद्ध ने अविद्या को ही दुःखोत्पत्ति का मूल कारण बतलाया है, यही बात सांख्य दर्शन में भी कही गयी है। दुःख का सम्यक निरोध तभी संभव है जब अविद्या को समूल नष्ट कर दिया जावे, जिससे कि दुःख के अंकुर पुनः उत्पन्न न हो सके।[२५] इस दुःख का निरोध (अभिघात) करने का सांख्य ने जो मार्ग बतलाया उसे उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड के विपरीत सांख्य के ज्ञान व योग मार्ग को श्रेयान[२६]

(श्रेयस्क्र) कहा गया है और बतलाया गया है कि वह मार्ग व्यक्त (महाभूत) अव्यक्त (प्रधान) प्रकृति और (पुरुष) के ज्ञान से उपलभ्य है।[२७] पदार्थों के स्वरुप का जैसा प्रतिपादन 'परिणामिनित्य' सांख्य विकासवाद में निहित है, वही नित्य-समुत्पन्न और नित्य निरुद्ध होने वाले बुद्ध प्रतिपादित धर्मों (पदार्थों या संस्कारों) में भी है। सांख्य और बोद्ध दोंनो ही परम्परओं मे उनके प्रति 'अनात्मभाव' रखने और उसे विकसित होने देने में ही कल्याण का मार्ग माना गया है, बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य-समुत्पन्न पंचस्कधों में और सांख्य दर्शन में परिणामिनित्य प्रकृति के विकारों में।[२८] सांख्य और बौद्ध मनोविज्ञान का तुलनात्मक विचार करते हुए डॉ. भरतसिंह उपाध्याय[२९] ने कहा है कि सांख्य दृष्टिकोण अधिक संग्रहात्मक है, किन्तु उसमें व्यवहारिकता कम है, जबकि बौद्ध दृष्टिकोण नैतिक अभिव्याप्ति से अपने को ओतप्रोत कर देता है। फल प्राप्ति के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, अपना कर्म ही उसके लिए पर्याप्त है, इस मत को बौद्धा की तरह सांख्य भी स्वीकार करते है।[३०]

संसार के स्वरुप और दुःख विषयक विचार सांख्य दर्शन में बौद्ध दर्शन की तरह व्यापक है।[३१] किन्तु सांख्य दर्शन के मूल प्रस्तोता 'कपिल मुख्यत सृष्टि के विचारक है और बुद्ध मानव जीवन के'।[३२] भगवान बुद्ध ने जिस प्रकार सामाजिक आचरण को लेकर कुशल एवं अकुशल कर्मों का निरुपण करके आर्य अष्टांगिक मार्ग द्वारा दुःखनिवृत्ति का उपाय स्पष्ट रुप से प्रकाशित किया है उसी व्यापक और सरल रीति से वह सांख्य विचारों में प्रकट नहीं होता।

रुप वेदना, आदि पंचस्कध एक प्रकार से प्रकृति के व्यापारों का विभागीकरण है, स्थूल और सूक्ष्म दोनों का। जिस प्रकार तथागत पचंस्कंधो में अनात्मा की भावना करते हैं, उसी प्रकार 'सांख्यभी अपने पच्चीस तत्वों में 'नास्म न में नाहं' का आदेश देकर पुरुप की विभुक्ति का मार्ग देखता हैं'।[३३] जीते जी मुक्ति की अवधारणा 'दृष्ट धर्म निर्वाण' के रुप में पालि पिटकों मं सर्वत्र विद्यमान है उसी प्रकार सांख्य-मत में भी जीते जी मुक्ति की कल्पना की गयी है।[३४] 'शरीर के उच्छेद हो जाने पर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात' पुरुष ऐकान्तिक और अत्यान्तिक कैवल्य को प्राप्त हो जाता हैं'।[३५] इस अवधारणा की समता बौद्ध 'परिनिर्वाण' से की जा सकती है।

सांख्य सूत्रो में यद्यपि साधना-मार्ग का भी निरुपण पाया जाता है किन्तु वह अत्यन्त अल्प है और इसकी पूर्ति के लिए सांख्य के पूरक दर्शन योग का अविर्भाव हुआ है।[३६] सांख्य सूत्र अपने साधना मार्ग सतत उद्यम का[३७] योग के अननुकूल चिन्तन से बचने का[३८] आशाबद्ध न होने का[३९] आर संसार के भोगों में दुःख दोषानुदर्शन करने का[४०] जो उपदेश देते है, वह बुद्ध मन्तव्य के अनुकूल ही प्रतीत होता है। परमतत्व की प्राप्ति में देश और काल की सीमा भगवान बुद्ध की तरह सांख्य ने भी अस्वीकार की है।[४१] मलिन या अकुशल चित्त में भगवान बुद्ध की तरह सांख्य की

'मुक्ति के उपदेश का बीजरुप से प्ररोह नहीं हो सकता'[४२] ऐसा मानते है।

जैसा कि ऊपर कहा गया हैं, योगदर्शन साधना का दर्शन है। अतः वह एक मार्ग है और इस अर्थ में बुद्ध के मार्ग से उसकी बडी समानता है।[४३] तात्विक दृष्टि से योग दर्शन की स्थिति बौद्ध दर्शन के समान न होकर सांख्य दर्शन की ही है।[४४] क्योंकि वह सांख्य दर्शन का ही उत्तर भाग है। तात्विक स्थितियां भिन्न रहते हुए भी साधना मार्ग में दो भिन्न दर्शनों की कितनी समानता हो सकती है इसका बौद्ध दर्शन एवं योग दर्शन यह एक अद्वितीय उदाहरण है। जिस प्रकार बुद्ध शासन चार आर्य सत्यों पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार योग मार्ग भी। योग दर्शन का मन्तव्य है कि यह संसार दुःख बहुल है, अतः हेय है, (दुःखसत्य) प्रधान पुरुष का संयोग ही हेय का हेतु है, (दुःख समुदय सत्य) उस संयोग का आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है (दुःखनिरोध सत्य) और सम्यक दर्शन ही हानोपाय है।[४५] दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद अर्थात आर्य अष्टांगिक मार्ग इस प्रकार बुद्ध मार्ग और योग मार्ग मूलभूत बातों में भी एक दूसरे से मिलते है। चितवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[४६] चित्त के व्यापारों के कारण ही यह भवचक्र निरन्तर चलता रहता है। इसी के कारण कामनाएं अहंकार आदि उत्पन्न होते है और पुरुष बंधन में पडता है। अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है। चित्त की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति ये पांच वृत्तयिां कही गई है, और इनके क्लिष्ट व अक्लिष्ट ये दो स्वरुप कहे गये है। इनकी कुछ कुछ समानता पालि पिटको में वर्णित कुशल एवं अकूशल चित्त से की जा सकती है। योग दर्शन में क्लेश कारक चित्त वृत्तयिों को क्लिष्ट और ज्ञान की कारक चित्तवृत्तयिों को अक्लिष्ट कहा गया है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश ये पांच क्लेश कहे गये हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थो में क्रमशः नित्य, शूचि, सूख और आत्मा की भावना करना ही अविद्या है। अविद्या के इस स्वरुप की तुलना सरलता से बौद्ध अविद्या अर्थात चार आर्य सत्यो संबंधी अज्ञान से की जा सकती है। रुप वेदनादि पंचस्कंध दुःख रुप ही है। इन अनित्य, अनात्म और दुःखरुप पदार्थो में नित्य कल्पना, सुख कल्पना और आत्म कल्पना करना इसी को भगवान बुद्ध ने भी अविद्या कहा है। इस अविद्या का उच्छेद भी पालि पिटको मे सम्यक दृष्टि अर्थात चार आर्य सत्यों के ज्ञान से बतलाया गया है। पांतजल योग दर्शन के यम-नियमादि आठ योगों की तुलना साधन पक्ष की दृष्टि से विश्वासपूर्वक आर्य अष्टांगिक मार्ग से की जा सकती है। यहां हमे योग के इन आठों अंगो के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह हमारा प्रयोजन नहीं है। हमें केवल बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य और योग दर्शन के हेय, हेय हेतु, हान, और हानोपाय इन चार तत्त्वों की संक्षेप में तुलना ही अभिष्ट है।

जैन विचारणा

जैन परम्परां में कर्म-सिद्धान्त का महत्त्व सर्वोपरि है, और उसका बहुत विस्तार एवं सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। जैन ग्रंथो में कर्मो की दस अवस्थाओं का वर्णन मिलता है,[४७] जिनकी समता न्यूनाधिक मात्रा में इस प्रबंध के अध्याय पांच में उल्लेखित कर्मो की दशाओं से भी जा सकती है। कर्मो की वे दशाएं इस प्रकार है-

१. बंध-कर्मो का आत्मा के साथ बंध जाना।

२. उत्कर्षण - बद्ध कर्मो की कालमर्यादा और फलवृद्धि होना।

३. अपकर्षण - कर्म विपाक के काल और फल में तदविपरीत कर्मो के कारण न्यूनता होना।

४. सत्ता - कर्म बंध होने और फलोदय होने के बीच आत्मा में कर्म की सत्ता (अस्तित्व) होना।

५. उदय - कर्म का फलदान।

६. उदीरणा - पुरुषार्थ के द्वारा कर्मो को समय से पूर्व उदय में ले आना।

७. संक्रमण - सजातीय कर्मो में सक्रंमण होना।

८. उपशन - कर्मो का उदय में आने के लिए अक्षम होना।

९. निघति - कर्मो का संक्रमण और उदय न हो सकना।

१०. निकाचना - कर्मो का प्रगाढ बंधन।[४८]

कर्म सिद्धान्त के व्यावहारिकं एवं नैतिक पक्ष की दृष्टि से जैन, बौद्ध दर्शनों में पर्याप्त समानत्य है। आर्य अष्टांगिक मार्ग के तीन स्कंध अर्थात शील समाधि एवं प्रज्ञा का सम्यक चरित्र, सम्यक दर्शन एवं सम्यक ज्ञान के साथ एकरुपता प्रतीत होती है। जिस प्रकार आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक अंग के साथ सम्यक शद्ब जुडा हुआ है उसी प्रकार जैन साधना के उपर्युक्त तीनों अंगो के साथ सम्यक शद्ब जुडा हुआ है। ये दोनों अर्हती दृष्टियां है। दोनों परंपराओं में अर्हत्व का आदर्श समान रुप से पाया जाता है।

पालि पिटकों में वर्णित अकुशल कर्म ही यहां ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्म है।[४९] जैनों के अंतराय[५०] कर्म एवं पालि पिटकों में उल्लिखित पांच नीवरणों में समानता है।[५१] शुभ कर्मो का फल शुभ एवं अशुभ कर्मो का विपाक अशुभ होता है।[५२] कर्म के इस नियम में जैन धर्म की अटूट अमेद्य निष्ठा है। जैन धर्म सम्मत बारह भावनाओं में से अशुचि भावना की तुलना बौद्ध ग्रंथो की अशुभ-भावना भावना परक कायानुपश्यना से भलीभांति की जा सकती है।[५३] पालि पिटकों में लोक को अनित्य कहा गया है, उसी प्रकार जैन ग्रंथो में उसे अनित्य एवं अशरण[५४] कहा गया है। तात्विक दृष्टि से भी जैने धर्म में कोई वस्तु एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य नही मानी गई है।[५५] इससे प्रतीत होता है कि जैन विचारकों

ने नित्यवाद एवं अनित्यवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया था। दूसरी और बौद्ध चिन्तन में क्षणभंगवाद की स्थापना होने पर भी वस्तुओं को सन्तति रुप में निरन्तर प्रवाहमान तथा पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण एवं निर्वाण अवस्था को नित्य अनित्य प्रभृति सभी धारणाओं के द्वारा अनिर्वचनीय माना गया है।

जैन और बौद्ध सिद्धान्तों व आचार दर्शन तथा विशेष रुप से साधना पद्धतियों में कितनी तात्विक समानता है, इसका किंचीत निदर्शन जैन धर्म के अनुसार मोक्ष के उपाय तथा पालि वाङ्मय के ३७ बोधिपक्षीय धर्मों की तुलना से प्राप्त होता है। ३७ बोधिपक्षीय धर्मो का विवेचन इस शोध प्रबंध के छठे अध्याय में समुचित रुप से किया जा चुका है। तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है - आश्रव निरोधः संवरः स गुप्ति - समिति - धर्म - अनुपेक्षा - परीपहगय - चारित्रैः। तपसा निर्जरा च। (सूत्र क्र. १ अ. प्रथम मिथ्यात्वआविराति प्रमादकषाय योगः बंध हेतवः (सूत्र क्र. १-२ अष्टम बन्धहेत्वाभाव निर्जराभ्याम कृत्सन कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः (सूत्र २० अष्टम)।

आस्रव का निरोध संवर है। अर्थात आत्मा में कर्म मल के प्रवेश को रोक देना संवर कहलाता है। यह संवर गुप्ति (३) समिति (५) धर्म (१०) अनुप्रेक्षा (१२) परीषहजय (२२) एवं चरित्र के द्वारा किया जाता है। तप (१२) के द्वारा संवर तो होना ही है, निर्जरा भी होती है। मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) अविरति (पाप कर्मो से विरत न होना) प्रमाद (१५, कायिक व चैतसिक) कषाय (४४) योग (३ काया, वाक मन की क्रियाएं) ये पांच बंध के हेतु है।

बंध के हेतुओं का अभाव कर देने से और निर्जरा के द्वारा संपूर्ण कर्मो से छुटकारा पा लेने से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्ति के इन उपायों की कुछ चर्चा करने से जैन और बौद्ध साधना की तात्विक समानता कुछ अधिक स्पष्ट हो सकेगी इस दृष्टि से इन पर किंचित विस्तार से विचार कर लेना अनुचित न होगा। संक्षेप में इनका स्वरुप इस प्रकार है -

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष के उपाय

१. गुप्ति

काय, वाक, मन की सभी क्रियाओं (योग) को राग-द्वेप-मोह रहित होकर ऐसी सावधानी पूर्वक करना जिससे किसी भी जीव की हिंसा न होवे तथा जीव नये सिरे से शुभ वा अशुभ कैसे भी कर्मो के बंधन में न पडे।[५६]

२. समितियां-

सभी क्रियाओं को सावधानी पूर्वक करना। ये क्रियाएं साधारणतः पांच प्रकार की होती है।

३. ईर्य्या समिति-

(ईर्यापथ) इस प्रकार सावधानी पूर्वक चलना कि घात यथासंभव सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवो का भी घात न होवे।

४. भाषा समिति-

विनम्र और अच्छी बातचीत करना।

५. एषणा समिति-

अहिंसा, सत्य, शील, सदाचार एवं विनय सम्पन्न श्रावक के घर से सभी प्रकार के दोषों से रहित, विशुद्ध, सुपाच्य तथा आद्योपान्त अहिंसापूर्वक अहिंसक विधि से सम्पन्न भोजन स्वल्प-मात्रा में शरीर धारण मात्र के लिए निर्लोलुप वृत्ति से लेना, शरीर पोषण के लिए नहीं।

६. आदान निक्षेप समिति-

वस्तुओं को उठाने और रखने में यह सावधानी रखना कि छोटे से छोटे जीवों का घात न हो।

७. उत्सर्ग समिति-

जीव रहित, स्वच्छ, सूखे व एकान्त स्थान पर मलोत्सर्ग करना।

८. धर्म-

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शोच (निर्लोभिता अर्थात लोभ से मन्न की स्वच्छता) सत्य, संयम, त्याग, आंकिचन्य, ब्रह्मचर्य एवं तप।

९. अनुप्रेक्षाएं-

उपयुक्त गुप्ति समिति एवं धर्मो के अभ्यास के अतिरिक्त निम्नलिखित १२ भावनाओं का चिन्तन करने से भी जीव के साथ नवीन कर्मो का बंध रुक जाता है - वे १२भावनाएं इस प्रकार है :-

१. *संसार में सभी जड-चेतन पदार्थो का अनित्यत्व।*

२. *अपने ही शुद्ध परमात्म स्वरुप आत्मा तथा स्वयं के ही शुभाशुभ कर्मों के अतिरिक्त जीव की और कोई शरण नहीं हो सकती ऐसी भावना करना।*

३. *अनादिकाल से जीवन के नाना योनियों में बारबार जन्म-जरा-मरण रुप संसरण से युक्त संसार के स्वरुप का चिन्तन।*

४. *व्यक्ति को अपने सभी शुभाशुभ कर्मो का फल स्वयं ही भोगना पडता है, उसमें कोई भागीदार नहीं हो सकता, उससे कोई बचा नही सकता ऐसा चिन्तन (एकत्वानुप्रेक्षा)।*

५. *आत्मा के अनात्मा से भेद का चिन्तन (अन्यत्वानुप्रेक्षा)।*

६. *शरीर की अशुचिता का चिन्तन (अशुचित्वानुप्रेक्षा)।*

७. *कर्म द्रव्यों का जीव में प्रवेश करने के संबंध में चिन्तन (आस्रवानुप्रेक्षा)।*

८. *कर्म द्रव्यों को जीव में प्रवेश करने से रोकने की प्रक्रिया का चिन्तन*

(संवरानुप्रेक्षा)।

९. जो कर्म द्रव्य जीव में प्रवेश कर चुके है उनका नाश कैसे किया जावे इसका चिन्तन और तदनुरुप क्रिया (निर्जरानुप्रेक्षा)।

१०. लोक-स्वरुप-चिन्तन (लोकानुप्रेक्षा)।

११. सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्यक चरित्र को प्राप्त करने में आने वाली कठिनाइयों पर चिन्तन करना (बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा)।

१२. मोक्ष प्राप्ति के सच्चे मार्ग का चिन्तन[५७] और अभ्यास।

१०. परीषहजय-

वे कष्ट जो कि साधक को जीव में कर्मो के प्रवेश को रोकने के लिये उठाने पडते है परिषहजय कहलाते है।[५८] इसका विस्तृत विवरण तत्त्वार्थ सुत्र के नवे अध्याय में ९ से १७ सुत्तों तक दिया गया है।

११. चरित्र-

सम्यक चरित्र को पाचं भागों में बाटा गया है। इसका अर्थ है सर्वोच्च शुचिता के साथ जीवन निर्वाह करना।[५९]

जैन दर्शन की शिक्षा का सार बतलाते हुए प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य[६०] ने कहा है कि आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त वाणी में स्यादवाद, और समाज में अपरिग्रह ये चार महान स्तंभ हैं। जिन पर जैन दर्शन का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खडा है। सच्ची बात तो यह है कि जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है न कि विश्व की व्याख्या करना।[६१] जिस प्रकार मै दुःख नहीं चाहता उसी प्रकार संसार का कोइ भी जीव दुःख नहीं बाहता ऐसा जानना (मानना) चाहिए।[६२] जैन दर्शन सात द्रव्यों की सत्ता में विश्वास करता है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।[६३] यहां सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह वर्गीकरण साधक और मुमुक्ष के दृष्टिकोण से किया गया है। और योग कर्म-बधं के ये पांच कारण है।[६४] आत्मा और कर्मो का संबंध अनादि है तथा जन्म जन्म में उपर्युक्त ५ हेतुओं के कारण नित्य-नूतन कर्मबन्ध होता रहता है। अहिंसादि व्रतो व संयम पालन के द्वारा आत्मा में कर्ममल के प्रवेश को रोक देना 'संवर' कहलाता है।

जिस प्रकार बीज के पूर्णतया जल जाने के उपरान्त उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार कर्मबीज के पूर्णतया दग्ध हो जाने पर संसार रुपी अकुंर पुनः उत्पन्न नहीं होता।

बौद्ध दर्शन के समान जैन दर्शन भी अनीश्वरवादी है, और इसमें स्वंय को ही अपने कर्मो के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का पूर्ण उत्तरदायी माना गया है।[६५]

मोक्ष

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष का अर्थ है 'कर्मों का आत्यान्तिक क्षय'। इस अवस्था में आत्मा कर्म मलों से विमुक्त होकर आत्यान्तिक ज्ञान दर्शन रुप सुख का अनुभव करता है।[६६] बौद्ध धर्म में सोपाधिशेष एवं निरुपाधिशेष दो प्रकार के निर्वाण माने गये है। जैन धर्म में भी दो प्रकार माने गये हैं - द्रव्यमोक्ष एवं भावमोक्ष।

आत्मा का संपूर्ण घातिया कर्मो से पृथक हो जाना द्रव्यमोक्ष है तथा अर्हतपद को पा लेना भावमोक्ष है। क्षायिक ज्ञान दर्शन व यथाख्यात चरित्र नामवाले जिन परिणामों से सभी कर्म निरवशेष रुप से आत्मा से दूर किये जाते हैं, उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं। इसी अवस्था में व्यक्ति सर्वज्ञ बनता है। भावमोक्ष, केवल ज्ञान की उत्पत्ति, जीवन मुक्त और अर्हत पद ये सभी एकार्थक है।[६७]

मीमांसा विचारणा

मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्मो के दो मुख्य भेद किये गये हैं - एक 'अपूर्व' एवं 'दूसरा संस्कार'[६८] आचार्य कुमारिल उस शक्ति को 'अपूर्व' कहते हैं जिसके द्वारा हम वैदिक कर्मो से स्वर्गादि फल प्राप्त करते है।[६९] जिस शक्ति के द्वारा हम लौकिक कर्मो के कालान्तर भावी फल प्राप्त करते है, उस शक्ति को 'संस्कार' कहा गया है, जिसके तीन भेद है - वेग, भावना और स्थितिस्थापक।[७०]

पृथ्वी आदि चार महाभूतों एवं मन में वेग होता है।[७१] भावना नामक संस्कार केवल आत्मा में रहनेवाला अनुभव से जन्य और स्मृति का हेतु है। वह सादृश्य संस्कार स्पर्शयुक्त द्रव्य विशेषों में रहनेवाला और अन्यथा भूत अपने आश्रय धनुषादि को पुनः पूर्वावस्था में लाने वाला होता है, जिसे लचीलापन भी कहा गया है।[७३]

वेदविहित विनाशी-यागादि के द्वारा पारलौकिक (स्वर्गादि) फलों को प्रदान करने वाली 'अपूर्व' नामक शक्ति अमूर्त है[७४] अतः यह माना जा सकता है कि कर्मफल (भावात्मक होने से) इस अपूर्व नामक शक्ति से भिन्न पदार्थ नहीं है, अपितु वह फल सूक्ष्म शक्ति रुप ही है, जो कलान्तर में प्राप्त हो जाता है। जैसे दूध में खटाई मिलाते ही दही नहीं बन जाता।[७५]

मीमांसा दर्शन में कर्मों का जनक अज्ञान को ही माना गया है।[७६] विवेक होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है और कारण का नाश होने पर कर्म उत्पन्न नहीं होते। विवेक ज्ञान होने पर कर्मों की अनुत्पत्ति संभव है, किन्तु पहले किये गये कर्मों की फल प्राप्ति को रोका नहीं जा सकता और न उन कर्मों के द्वारा किये गये बन्ध को काटा जा सकता है।[७७]

मोक्ष प्राप्ति के उपाय

पालि पिटकों में जिस प्रकार आर्य अष्टांगिक मार्ग द्वारा निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति की संभावना मानी गई है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी श्रद्धा, ज्ञान और वैदिक-कर्मानुष्ठान से मोक्ष प्राप्ति संभव मानी गई है।[७८] इस दर्शन के अनुसार वेदों के अपौरुषेयत्व एवं धर्म-प्रामाण्य में विश्वास रखना[७९] ही श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा रखने से ही व्यक्ति सदसदविवेक के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्तिपूर्वक वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान करके मोक्ष का अधिकारी बनता है, ऐसा कहा गया है।[८०] वहां कहा गया है कि 'सदसदविवेक केवल वेद से ही प्राप्त हो सकता है'।[८१] इस प्रकार मीमांसा धर्म-दर्शन में मुक्ति-मार्ग की दृष्टि से केवल वेदों को ही एक मात्र प्रमाण माना गया है।[८२]

प्रत्येक शरीर धारी जीव का यह स्वभाव है कि वह किसी न किसी प्रकार का कर्म अवश्य करता है।[८३] जो व्यक्ति मन से इंन्द्रियो को संयत करके, अनासक्त होकर वेदविहित कर्म करता है, मीमांसक उसी को सदाचारी मानते है।[८४] सत्कर्म एवं सदाचार की ऐसी कल्पना पिटकों से मेल नहीं खाती। तथापि पालि पिटकों की भांति मीमासंको ने भी कर्म को धर्म का एक पक्ष मात्र माना है।[८५] ज्ञान पूर्वक कर्म से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, यही बात इस दर्शन में आग्रहपूर्वक कही गयी है। वेदविहित कर्मो में भी ज्ञान की आवश्यकता होती है।[८६] वे ज्ञान और कर्म को मोक्ष का समुच्चय कारण मानते है।[८७] ज्ञान वस्तु सम्पर्क से उत्पन्न कर्मो को अन्यथा नहीं कर सकता, तथापि इस बात की अवश्य संभावना है कि वे कर्म ज्ञानी पुरुष में अल्प फल देकर नष्ट हो सकते है।[८८]

नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मो के द्वारा मुमुक्ष गृहस्थों की मुक्ति की संभावना भी मीमांसा दर्शन में स्वीकार की गयी है।[८९] पालि वाड्.मय में भी अनेक गुहस्थ उपासक उपासंकिओं के दृष्टान्त दिये गये है जिन्होनें आजन्म गृहस्थ रहते हुए भी सध्दर्म का पालन करके सीधे निर्वाण लाभ किया।

संदर्भ

१. जै.द.औ.सं.का ई., पृ. १५६, डॉ. बी.सी. जैन।

२. जै.द.औ.मि.द. के क.सि. का नु.अ. , पृ. २५३-२८८, कन्हैयालाल पालीवाल।

३. जै.द.औ.सं. का इ., पृ. १५६, डॉ. बी.सी. जैन।

४. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ७३१, भ.सि.उ.।

५. वही, पृ. ७७२-७३।

६. बौ.द.त.अ.भा.द., द्वितीय भाग, पृ. ७७३, भ.सि.उ.।

७. 'मनसा हयेव पश्चति मनसा श्रणोति, काम संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाःङश्रद्धा घृतिर घृति ह्मी मींरित्येतत्सर्व मनं एवँ।वृहदाराण्यक, १।५।३।

८. मनिसि प्रलीनेषु अप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान पश्यति, शंकर भाष्य पृ. ४/५

९. पुरितितिंशेते वृहदारण्यक, २।१।१९

१०. इतिवुत्तक, सुत्त, ४३।

११. 'आत्मा निर्मल, आकाश से परे अज, महान (एवं) धुव्र हैं।

१२. 'यह (निर्वाण विषयक) ज्ञान तर्क सुलभ नहीं हैं। कठोपनिषद, १.२.३ ।.

१३. ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्झ, पृ. ४७४, पदसंकेठ, १६०।

१४. श्वेताश्वतर, ६.६।

१५. म.नि., प्रथम, पृ. ३०४।

१६. शतपथ ब्राह्मण जिल्द २, ११११, (अच्युत्त ग्रंथमाला)।

१७. 'सर्वगुहाग्रन्थिम्यो विमुक्तो मृतो भवति। सब बुद्धि की गांठो से मुक्त अमर हो जाता है।

१८. 'न तत्र सूर्यो भाति न च चन्द्रतारक, नेमा विद्युतो भान्ति कुत्तो यमग्निः। कठोपनिषद, २.५.१५।

१९. 'यत्थ आपो च पठवि तेजो वायो न गार्घति। अत्तो सरा निवत्तान्ति एत्थ वट्ट न वट्टाति।। एत्थ नामंच रुपंच असेसमुपरुज्झति। वही।

२०. भा.द.प.में मो.चि., पृ. १०१, डॉ. अशोक कुमार लाड।

२१. गीता रहस्य, पृ. ६०३, हि.भा., लो.बा.गं.ति.।

२२. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ७८५, डॉ. भ.सि.उ.।

२३. वही, पृ. ८७९।

२४. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ - सांख्यकारिका, १।

२५. बौ.द.त.अ.भा.द. भाग २, पृ. ८८०, भ.सि.उ.।

२६. तद्धिपरीतः श्रेयान - सांख्यकारिका, २।

२७. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, ८८१, भं.सि.उ.।

२८. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ८८[illegible], भ.सि.उ.।

२९. वही, ८९१।

३०. नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धे। सांख्य प्रवचन सूत्र, ५।१।

३१. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ८९५, भ.सि.उ.।

३२. वही, पृ. ९०१।

३३. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ७९७, भ.सि.उ.।

३४. वही, पृ. ७९८।
३५. 'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात प्रधानविनिवृतौ।
एकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवलयमाप्नोति।। कारिका, ६७।
३६. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ८९९।भ.सि.उ.।
३७. 'आवृतिरसकृदुपदेशात। सांख्य सूत्र ४।३ ।
३८. असतचनानुचिन्तन बन्धाय भरतवत, वही, ४।८।
३९. निराशः सुखी पिंगलावत, वही, ४।११।
४०. दोषदर्शनदुभयोः वही, ४।२८।
४१. न कालनियमो वामदेववत, वही, ४।२०।
४२. न मलिनचेतस्युपदेशबीज प्ररोहोऽजवत, वही, ४।२९।
४३. बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ९०१, भ.सि.उ.।
४४. वही।
४५. व्यासभाष्य, २।१५।
४६. पातंजल योग सूत्र, २। पातंजल योग दर्शन, पृ. ५। सांख्य योगाचार्य श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्यकृत - सम्पादक, भगीरथ मिश्र, लखनौविश्वविद्यालय, लखनौ, नवभारत प्रेस।
४७ बी.सी. जैन, जै.द.औ.स. का इ., पृ. १६४।
४८. बी.सी. जैन, जै.द.औ.सं.का इ., पृ. १६४।
४९. तत्वार्थ सूत्र, ७।४-७।
५०. अन्तराय कर्मघाती है, तथापि वह जीव के संपूर्ण गुणो का घात करने में समर्थ नहीं है। गोम्मट. कर्म., १७।
५१. भरतसिंह उपाध्याय, बौ.द.त.अ.भा.द.,।। पृ. ८४३।
५२. तत्वार्थसूत्र, ६।३।
५३. वही, ७।१२।
५४. तत्वार्थसूत्र, ९।७।
५५. भ.सि.उ., बौ.द.त.अ.भा.द., भाग २, पृ. ८४५।
५६. डॉ. अशोक कुमार लाड, भा.द. में मो.चि., पृ. ४८।
५७. तत्वार्थ, सूत्र, ९.७।
५८. वही, ९,८।
५९. वही, ९,१८।
६०. जैन दर्शन, पृ. ९।
६१. प्रो. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन, पृ. १७४।
६२. जह मम णापिय दुःख जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं, आचारांग सुत्त।
६३. तत्वार्थ सूत्र, १,४।

६४. मिथ्यात्वविरति - प्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः। तत्वार्थसूत्र।

६५. बन्धे हेत्वाभाव निर्जराम्यां कृत्स्न कर्मविप्रमोक्षा मोक्षः।
बौ.द.त.अ.भा.द.।। भ.सि.ड., पृ. ८४६।

६६. जै.औ.मी.द. के क.सि.का तु.अ., पृ. ३०२, क.पा. अप्रकाशित।

६७. डॉ. बी.सी. जैन, जै.द.औ.स.इ., पृ. ३१७।

६८. जै.औ.मी.द. के क.सि. का तु.अ., कन्हैयालाल पालिवाल, पृ. ३१८।

६९. वही।

७०. 'संस्कारास्त्रिविधो वेगो भावना स्थिति स्थापकश्चेति' - तर्कभाषा-प्रमेय निरुपणम।

७१. 'तत्र वेगः पृथिव्यादि व तुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रिया हेतुः'। वही।

७२. 'भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्र वृतिरनुभव जन्यः स्मृतिहेतुः। स चोदबुद्ध एवं स्मृति जायति। उदबोधश्च सहकारिलाभः। सहकारिणश्च संस्कारस्च सदृश्यदर्शनादयः। वही।

७३. 'स्थितिस्थापकवस्तु स्पर्शवददृव्यविशेषवृत्तिः। अन्यथा भूतस्य स्वाश्रयस्स धनुरादेः पुनस्तदवस्थापकः । वही।

७४. जै.औ.मी.द. के क.सि. का तु.अ., कन्हैयालाल पालिवाल, पृ. ३१८।

७५. वही।

७६. वही, पृ. ३२२।

७७. वही।

७८. वही, पृ. ३२८। ७९. वही।

८०. वही।

८१. जै.औ.मी.द. के क.सि. का तु.अ., कन्हैयालाल पालिवाल, पृ. ३२८।

८२. वही।

८३. गीता, ३।५।

८४. जै.औ.मी.द. के क.सि. का तु.अ., 'कन्हैयालाल पालिवाल, पृ. ३२९।

८५. 'वेद विहित कर्मों को धर्म कहने में यही अभिप्राय था कि लोक कर्म मात्र को ही धर्म न मानने लग जायें'। जै.औ.मी.द.क. सि. का तु.अ., कन्हैयाला पालिवाल, पृ. ३२९।

८६. वही।

८७. वही।

८८. वही।

८९. वही।

■□■□

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में "पाली वाड्.मय में कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन" के विषय में जो विवेचन किया गया है, उस पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है क वैदिक सूक्तों में ऋग्वेद की ऋचाओं में कर्म सिद्धान्त के कुछ संकेत तो मिलते है, परन्तु वे स्वतंत्र और व्यवस्थित रुप से कर्म सिद्धान्त को व्यक्त नहीं करतें। मरणोपरान्त जीवन तथा पुनर्जन्म के संबंध में उसमें विशेष चर्चाए उपलब्ध नहीं होती और कर्म तथा उससे छुटकारे के प्रश्न को वहां कोई महत्वपूर्ण समस्या नहीं माना गया। वेदों के पूरक साहित्य के रुप में जो ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये, उनमें आत्मा के जन्मजन्मांतर में संसरण के सन्दर्भ में कर्मसिद्धान्त की चर्चा इस रुप में की गई है क आत्मा अपने पिछले जन्म के उपार्जित कर्मो के अनुसार जन्म ग्रहण करती है और वैदिक यज्ञ-यागादि कर्म मुक्ति के साधन है । उपनिषदों में आध्यात्मिक चिन्तन में वैदिक कर्मकाण्ड का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष विरोध तथा ब्रह्मस्वरुप शुद्धात्मा के मुक्ति को ही जीवन का लक्ष माना गया है। मूल सांख्य परंपरा में वैदिक कर्मकाण्ड का सीधे सीधे खण्डन न करके अप्रत्यक्ष रुप से उसे अविशुद्धि, क्षय, तथा अतिशयता से युक्त मानकर उसकी अवहेलना कर दी गई है। चार्वाक दर्शन ने आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया, अतः उस परंपरा में कर्म सिद्धान्त का स्वाभाविक रूप से कोई स्थान नहीं हो सकता। भगवान बुद्ध के समय में और उनके पूर्व भी अन्य अनेक धार्मिक, दार्शनिक संप्रदाय विद्यमान थे।

उनमें निगण्ठनाथपुत (महावीर) को छोडकर मक्खलिगोसाल, पूरणकस्सप, अजितकेस-कंबलि, पकुधकच्चायन आदि साधक-विचारक कर्म-सिद्धान्त के विपरीत नियतिवाद, उच्छेदवाद, अकृततावाद, सन्देहवाद आदि की स्थापना करते थे। निगण्ठनाथपुत्त ने कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से भगवान बुद्ध के समान ही गंभीर विचार किया। इस प्रकार वेद से लेकर चार्वाक दर्शन तक सभी विचारकों ने बुद्ध के धर्म, दर्शन, आचार, विनय आदि सबके लिए पूर्व पीठिका का कार्य किया।

धार्मिक दृष्टि से वैदिक व्यवस्थाएं नितान्त दैवतमय थीं और सांसारिक प्रयोजनों से अनेक प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठान किये जाते थे। ये प्रथाएं बुद्ध काल में भी पर्याप्त प्रचलित थीं। वैदिक युग के अत्यन्त जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध यूं तो अनेक दिशाओं में हुआ, परन्तु क्षत्रियों और श्रमणों ने उस विरोध का नेतृत्व किया, जिनमें बुद्ध, महावीर और उपनिषदों के अध्यात्मचिंतक ऋषि प्रमुख थे। जिस 'ब्रह्य' को ब्राह्मणों का नेता माना गया था, उसी को आगे चलकर

"मूलतत्व" के रुप मे स्थापित कर दिया गया। चारों वर्णो की उत्पत्ति की कल्पना करके समाज का विभाजन आरम्भ में कुछ काल तक "कर्म" के आधार पर परन्तु कालान्तर में शीघ्र ही "जाति" या जन्म के अनुसार हो गया। इसके पूर्व समाज मूलतः सन्यासी और गृहस्थ ऐसे दो वर्गों में विभाजित था। वेद-प्रामाण्य के आधार पर वर्ण व्यवस्था को कठोर जातीय आधार प्राप्त हो गया और यह व्यवस्था उस चार मंजिल के महल की तरह बन गयी जिस पर से चढने उतरने के लिए कोई सीढियां नहीं थी। जो जिस मंजिल पर पैदा हुआ वह उसी में मर जाता था। परिस्थितिवश व्यक्ति को अन्य व्यवसाय भी करना पड सकता है, इस तथ्य से उस समय के धर्मशास्त्रकार मी अवगत थे। ऐसी स्थिति में भी ब्राह्मण वर्ग को तो इतर वर्णो के व्यवसाय करने की छूट प्रदान कर दी गयी, परन्तु इतर वर्णो को ब्राह्मणों के पौरोहित्य आदि व्यवसाय करने की नहीं। दूसरी ओर भगवान बुद्ध ने जन्म की स्थितियों के अनुसार सामाजिक स्तर भेद तो स्वीकार किये, जाति भेंद नहीं। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के दैनंदिन जीवन से जुडी हुई परिवर्तनशील व्यवस्था है, ऐसा उन्होने प्रतिपादित किया तथा जाति के आधार पर, श्रेष्ठता या हीनता की मान्यता को युक्तिहीन, असंगत एवं अव्यावहारिक माना। भगवान बुद्ध ने गृहस्थ और सन्यासी के नियम-व्रत-आचार आदि के विषय में प्रारम्भ से ही अलग अलग विधान नहीं किया, तथापि पालि-पिटाकें से ज्ञात होता हैं कि समाज मे सन्यासी और गृहस्थ ऐसे दो वर्ग और किंचित परिस्थितिक भेदों के साथ गृहस्थ और सन्यासी दोनों का जीवन और आचरण दस कुशल धर्मो के आचरण व दस कुशल धर्मो (प्राणातिपात आदि) के परित्याग पर आधारित रहे, ऐसा वे मानते थे। पालि पिटकों में कर्मसिद्धान्त संबंधी जो विचार उपलब्ध होते हैं उनमें भगवान बुद्ध के पूर्ववर्ती एवं समकालीन दार्शनिकों के विचार भी उपलब्ध होते हैं, उनमें से बहुत से विचारक पूर्वकृत कर्मो को ही सब कुछ मानते थे। परन्तु भगवान बुद्ध ने अल्पांश में पूर्वकृत कर्मो के वर्तमान जन्म में विपाक को माना, तथापि प्रयत्न करने पर उन अतीत कर्मो से वर्तमान समय में ही छुटकारा या मुक्ति की संभावना को भी दृढतापूर्वक प्रतिपादित किया। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि व्यक्ति को भूत-भविष्य की चिन्ता छोडकर वर्तमान जन्म में कुशल कर्म करने चाहिए।

कर्म का मूल स्वरुप मनोज्ञानिक है। सभी भारतीय परंपराओ में कर्म की अवधारणा में कर्म के बाहय उपादानों को नहीं, मनुष्य की मनोगत अवस्थाओं और प्रेरणाओं को ही सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया है। महत्व इस बात का नहीं की कोई कर्म कब, कैसे और कहां किया गया, बल्कि इसका है कि उसके कर्ता की मनोवृत्ति या मनोभावनाएं कैसी थी या हैं, कि किसी कर्म के पीछे किस प्रकार की वासनाएं कार्यरत है, कर्ता की चेतना लोभ, व्देष, मोह से, अथवा अलोभ, अव्देष, अमोह इन छह हेतुओं में से किस हेतु से प्रेरित हैं? अथवा इन छह हेतुओं मे से किसी से भी प्रेरित नहीं

है। कर्मो के कुशलाकुशल तथा अव्याकृतादि भेद भी बाहय क्रिया के अनुसार नहीं, अपितु उनके पीछे रही हुई मनोवृत्तियों के अनुसार ही किये गये हैं। किसी कर्म का बाहय रुप और परिणाम कुशल होने पर भी यदि उसके पीछे की भावना अकुशल है तो कोई जाने या न जाने कर्ता को उसका अशुभ परिणाम अनिवार्यतः भोगना ही होगा। इसके विपरीत किसी कर्म की आभ्यंतर प्रेरणा कुशल है तो उसका बाहय रुप और परिणाम अकुशल अथवा अहितकर दिखाई देने पर भी और न्याय-व्यवस्था के अनुसार दण्डनीय अपराध होने पर भी, उसका कर्ता अंततः कुशल का ही भागी होगा, अकुशल का नहीं। कर्म सिद्धन्त की यही मुख्य आधार भूमि है। इसी कारण भगवान बुद्ध ने कहा था चेतनाहं- भिंक्खवे कम्मं वदामि ---- ' भिक्षुओं! में चेतना को ही कर्म कहता हूं । क्योंक चेतना से प्रेरित होकर ही मनुष्य कुशलाकुशल अथवा नकुशलाकुशल (अव्याकृत) शारीरिक वाचिक या मानसिक कर्म करता है। अतः चेतना का शोधन ही कर्म का शोधन है, वही जीवन शोधन का उपाय है। वही मुक्ति का मार्ग है और वही मुक्ति। प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त से स्पष्ट हैं कर्म-सिद्धान्त तथा सृष्टि और जीवन के सन्दर्भो में न तो ईश्वरवाद को स्वीकार किया जा सकता है, न शाश्वतवाद, न आत्मवाद, न भाग्यवाद, न यदृच्छयावाद व उच्छेदवाद और न अक्रियावाद को ही। इनमें से किसी भी वाद को स्वीकार करने से सृष्टि और समाज व्यवस्था में जो नैतिक कठिनाइयां उत्पन्न होती है, उन्हें पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं। इन सब वादों से ऊपर उठकर बुद्ध ने अनात्मवाद और अनित्यतावाद की स्थापना करके भी नित्य-प्रवहमान चित्त-संतति ही नवीन जीवन या पुनर्जन्म प्रदान करती है " ऐसा सिद्धान्त हेतु एवं तर्क पुरस्सर रीति से प्रतिपादित व स्थापित किया। व्यक्ति भौतिक या सामाजिक परिस्थितियों का केवल दास नहीं, उनका निर्माता और स्वामी भी बन सकता है। व्यक्ति विशेष अपने पुरुषार्थ से भौतिक परिस्थितियों से लडकर उन्हें अपने अनुकूल बना सकता है- इस व्याख्या के साथ क व्यक्ति के अतीत, वर्तमान या भविष्य जन्मों और स्थितियों के सन्दर्भ में न तो उसका पूर्व कर्म ही सब कुछ होता है, न वर्तमान कर्म और न दोनों, बल्कि कर्म और उसके साथ देश काल की परिस्थितियों का भी सांसारिक जीवन में महत्वपूर्ण योगदान है। फिर भी कर्म उन सब में सर्वोपरि है और यही उसका महत्व है। इसी कारण पिटकों में बारबार शुध्द या कुशल कर्मो की प्रेरणा दी गयी है।

वर्तमान में कोई एक व्यक्ति कार्य करता है, और अन्य एक या अनेकों को उसका फल भोगना पडता है, ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते है। परन्तु पालि पिटकों के अनुसार इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। जो कोई कर्म करता है उसका फल उसे ही भोगना पडता है, किसी अन्य को नहीं, इस सिद्धान्त को अन्य कर्मवादी परंपराओं की भांति भगवान बुद्ध भी पूर्णतया स्वीकार करते है। अन्य व्यक्ति कर्म करता है और फल किसी अन्य को ही भोगना पडता है, ऐसी मान्यता का अन्य भारतीय

धर्म-दर्शनों के समान भगवान बुद्ध ने भी खण्डन किया, परन्तु सर्वथा नहीं, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद सिध्दान्त के अनुसार कर्मफल प्राप्त होने में कोई एक नहीं, अनेक घटक कारण होते है, जिनमें देश, काल, समाज की परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। अतः ऐसा भी हो सकता है क कर्म कोई करे, और उसे किसी अन्य को भोगना पडे। सामूहिक कर्म का परिणाम व्यक्ति को और व्यक्ति-कर्म का फल भोग समूह को भी मिल सकता है। मानव जाति के इतिहास में ऐसा एक बार नहीं, बारबार होता रहा है। उन घटक-कारणों को पालि पिटकों में २४ प्रत्ययों के रुप में कहा गया है। इनमें से बीज नियम, ऋतु नियम आदि अनुकूल होने से ही फलोत्पति होती है, अन्यथा नहीं। अतः व्यक्ति की दुःखद या सुखद वर्तमान स्थिति को पूर्णतः अतीत कर्मो या भाग्य से जोडना युक्ति संगत नहीं है। व्यक्ति की दुःखद स्थिति के लिए केवल उसके अपने अतीत कर्म ही उत्तरदायी है, इस बात का समर्थन करने का अर्थ है समाज या राज्य को अपने दायित्व से सर्वथा मुक्त करना। प्रतीत्य समुत्पाद की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार चक्र अविद्या एवं तृष्णा के कारण संचालित होता है। इसमें किसी परापाकृतिक शक्ति का हाथ ही नहीं होता। व्यक्ति के भूत, भविष्य और वर्तमान जीवन की धारा के विषय में भगवान बुद्ध का कारण-कार्य परंपरा का सिध्दान्त अत्यन्त सुस्पष्ट है और उसी में यह भी स्पष्ट है क 'अविद्या" जो संसरण का मूल कारण हैं, स्वयं मै कोई शाश्वत तत्व या सिद्धान्त नही है। सृष्टि की नित्य-परिवर्तनशील क्षणभंगुर और दुःखरुपता का ज्ञान न होना ही अविद्या है। इसी के अज्ञान के कारण जीव लोभ, व्देष, मोह आदि में पडकर नाना प्रकार के कुशलाकुशल कर्मो में प्रवृत्त होकर भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य में जन्मग्रहण करता हुआ भवचक्र को बार-बार बढाता रहता है। इस अविद्या के निरोध से ही भव-निरोध की साधना का आरंभ और पूर्णता होती है।

पालि पिटकों मै 'कम्म' या कर्म का शाद्बकि अर्थ " चेष्टा" अथवा "क्रिया" माना गया है। किसी भी प्रकार का ऐच्छिक कर्म चाहे वह मानसिक हो या वाचिक अथवा कायिक " कर्म" कहलाता है। सभी विचार, शद्ब और शारिरिक कार्य कर्म में निहित है। सामान्यतः अच्छे और बुरे कर्म (कुशल या अकुशल) सम्मिलित रुप से कर्म होते है। व्यापक दृष्टि से विचार करें तो कर्म का अर्थ है नैतिक या अनैतिक संकल्प जिसे कुशल या अकुशल चेतना कहा गया है। अनैच्छिक या हेतुरहित अर्थात लोभ, व्देष, मोह एवं अलोभ, अद्वेष, अमोह रहित नैसर्गीक चेष्टाएं "कृति" या कार्य है सही परंतु कर्म नही, क्योंकि उसके पीछे चेतना या संकल्प जो कर्म का महत्वपूर्ण तत्व है, वह नहीं है।

बुद्ध या अर्हत् के कर्मों के अतिरिक्त सामान्य व्यक्तियों के सभी कार्य "कर्म" कहलाते है। बुद्ध या अर्हत् शुभ या अशुभ (कुशलाकुशल) से मुक्त होते है, क्योंक वे

कर्म के मूल-प्रेरक अविद्या वा तृष्णा से सर्वथा निवृत्त होते है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बुद्ध या अर्हत निष्क्रिय रहते है, अपितु वे समस्त भूतों (प्राणियों) के सुख और निःश्रेयस के लिए नित्य ही क्रियाशील रहते है। परन्तु सभी पदार्थो, धर्मो, संस्कारों अथवा पंचस्कन्धों के वास्तविक अनित्य, अनात्म, दुःख स्वरुप को स्वानुभव के द्वारा प्रत्यक्ष जानने के कारण वे कभी भी बाहय पदार्थो में आसक्त नहीं होते। सौमनस्य, उपेक्षा, ज्ञान एवं संस्कृत के भेद से दानादि पुण्य कर्म में होने वाली आठ प्रकार की कुशल चेतनाए काममिथ्याचार प्राणि हिंसादि दस प्रकार की अकुशल कारणीभूत लोभ, द्वेष, एवं मोह से युक्त बारह प्रकार की अकुशल चेतनाएं । वित्तर्क, विचारादि ध्यानांगों से युक्त रुपावचर ध्यान की पांच कुशल चेतनाए एवं आकाशानन्त्य-यतना दि अरुपावचर ध्यान की चार चेतनाए इस प्रकार कुल उन्तीस चेतनाएं जिन्हें पुण्याभिसंस्कार, अपुण्याभि-संस्कार एवं आनेजाभिसंस्कार भी कहा गया है ये ही वास्तव में कर्म है, क्योकि इन्हीं में पुनर्जन्म रुप विपाक उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यह विपाक कर्मो की स्वयं की प्रक्रिया के अनुरुप होता है। इसमें कसी बाहरी शक्ति का प्रभाव नहीं होता। आठ प्रकार केअकुशल कर्म की लोकोत्तर चेतनाएं-सोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी एवं अर्हत् मार्ग व फल इन अध्यात्म दशाओं को कर्म नहीं माना गया है, क्योंकि इन लोकोत्तर चेतनाओं को प्राप्त होने वाला साधक "कर्म के मूल" (अविद्या एवं तृष्णा) को क्रमशः समूल नष्ट कर देता है और अन्त में उसमें शुद्ध प्रज्ञा शेष रह जाती है, जबकि पृथग्जनों में रागादि हेतुओं से युक्त संकल्प या चेतनाएं रहती है, जिनके कारण भव-सन्तति चलती रहती है।

कर्म केवल भूतकालीन नहीं होते। अतीत एवं वर्तमान दोनों समय के कर्म "कर्म" के अंतर्गत आते है। अतः एक अर्थ में "हम जो हैं " का परिणाम " "हम जो होंगे" ऐसा है। अन्य प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि हम मात्र अपने अतीत की उपज या परिणाम नहीं है, और हमारा भविष्य भी पूर्णतः वर्तमान का ही परिणाम मात्र नहीं होगा। कर्म "क्रिया" हैं और विपाक है उसका फल या परिणाम अथवा कर्म की प्रतिक्रिया। यहां कर्म न तो "भाग्य" का पर्यायवाची है और न ही अपरिवर्तनशील कर्म-संचय का, जिससे की मनुष्य को अपने आपको किसी अज्ञात, गूढ शक्ति के हाथों में समर्पित कर देना पडे। यह प्रत्येक पुद्गल (व्यक्ति) का अपना व्यक्तिगत 'किया हुआ कार्य है' अतः उन कर्मो का परिणाम रोकने या उनका निरोध करने की शक्ति भी उसमें है। कोई व्यक्ति किस सीमा तक उसे रोक पाता है, यह स्वयं उसी पर निर्भर करता है। स्वयं कर्म में ही वह शक्ति विद्यमान होती है जो अपना फल स्वाभाविक रुप से देती है। प्रार्थना करने पर भी अकुशल कर्मो से होने वाले अकुशल विपाक का निरोध नहीं कया जा सकता और न कुशल कर्मो के इष्ट विपाक का विलोप। कुछ अंशों में अतीत कर्मो के कारण वर्तमान मे हमारी जैसी भी दुःखद स्थिति है, उसे ज्ञानपूर्वक कुशल कर्मो के द्वारा बदला जा सकता है। इसमें देश, काल, जाति,

वर्ण, लिंग अथवा आयु अनिवार्य रुप से बाधक नहीं होते।

व्यक्ति की अपनी मानसिक स्वतंत्रता या परतंत्रता भी कर्मो के अनुसार ही निश्चित होती है। यदि मन मिथ्यादृष्टि से ग्रसित होता है तो वह परतंत्र रहता है। ईश्वरवाद, यदृच्छयावाद, संचितकर्मवाद, अक्रियावाद, उच्छेदवाद,आदि को पिटकों में एक प्रकार से मानसिक परतंत्रता निरुपित किया गया है। इन वादों का खण्डन करके व्यक्ति को प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त के साक्षात् स्वानुभूत संवेदन द्वारा चित्त को प्रज्ञा (निर्मलबुद्धि) की आर ले जाने का प्रयत्न करके स्वतत्रता एवं निर्भिकतापूर्वक कर्म करने के लिए प्रेरित कया गया है। भगवान बुद्ध के अनुसार विश्व योजना में ईश्वरादि तत्वों का हाथ न होकर सब कुछ प्रतीत्य-समुत्पन्न अर्थात योग्य कारणों व्दारा योग्य परिणाम पर आधारित है। कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के सूक्ष्म अध्ययन से साधक उसे जान सकता है। इससे व्यक्ति अन्य वादो से मुक्त होकर कर्म विपाक की अबाधता में विश्वास करके वैयक्तिक सामाजिक दायित्व की ओर उन्मुख होता है तथा लोक जीवन के अन्य सन्दर्भो में भी किसी देश, जाति, समाज और वाद के बन्धन से मुक्त एक स्वयंभू स्वतंत्र समाज की अवधारणा और स्थापना कर सकता है

कर्म और पुनर्जन्म की चर्चा से यह भी स्पष्ट है कि अन्यान्य कारणों से मृत्यु होने की संभावना को मानते हुए भी कर्म को मृत्यु का प्रधान कारण माना गया है। मृत्यु के बाद सभी जीव यथाकर्म भिन्न भिन्न योनियों में पुनर्जन्म लेते है। कर्मो के कालिक भेद प्रभेद और उनके अनुरुप पुनर्जन्म और मृत्यु के विषय में विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार के कर्मो का कैसा विपाक और कैसे जन्ममृत्यु आदि होते है। कर्म तथा उसके विपाक की सूक्ष्म प्रक्रिया तृष्णा के कारण प्रतिक्षण होती रहती है। पिटकों की मान्यतानुसार चित्तसंतति ही नदी के स्रोत की तरह प्रवाहमान रहते हुए भिन्न भिन्न योनियों, जन्मों में संसरण करती रहती है। और जब तक कोई व्यक्ति निर्वाण नहीं पा लेता, तब तक यह इसी तरह प्रवाहमान होती रहेगी।। बौद्ध चिन्तन में कर्मवाद का संबंध अनित्य-अनात्मवाद से है। नित्यवाद की अंतिम परिणति " नियतिवाद में होती है, और उच्छेदवाद की अनुत्तरदायित्व मैं"। मृत्यु के बाद दूसरे जीवन को स्वीकार करने पर ही यह संभव है कि वर्तमान जन्म के कर्मो का विपाक या फल उनके कर्ता को इसी जन्म में अन्यथा अगले जन्म में अनिवार्यतः भोगना पडे।

ऐसा न मानने पर व्यक्ति अपने कर्मो के प्रति जिम्मेदार नहीं रहेगा। इस दृष्टि से पालि पिटकों में बताया गया है कि कुछ कर्म इसी जन्म में फल देते है (दिटठधम्मवेदनीय कर्म) कुछ कर्म अगले जन्म में उपपद्यवेदनीय और कुछ कर्म अगले जन्म के बाद किसी अन्य जन्म में फल देते है अपरापर) कुछ कर्म ऐसे

भी होते है जिनका विपाक नहीं होता। उन कर्मों की अपनी दुर्बलता अथवा उनके विपरीत बाधक कर्मों की प्रबलता के कारण ऐसे कर्मों को "फल न देनेवाला" (अहोसिकम्मं) कर्म कहा गया है। इसके विपरीत कुछ कर्म इतने सबल होते है जो अन्य कर्मों को बाधित कर (उपघातक कर्म) स्वयं "विपाक" देते है। काममिथ्या-चारादि अकुशल कर्मों के अनुरुप तिरश्चिन या पशुयोनियों में तथा इसके विपरीत काममिथ्याचार से विरति, मृषावादविरति आदि से देवयोनियों में जन्म होने की बात कही गई है। शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग भूमियों में एव अशुभ कर्मों के कारण कामावचर की नरकादि भूमियों में प्राणियों का जन्म होता है। मनुष्य जन्म शुभ कर्मों के परिणाम स्वरुप प्राप्त होता है। महापुरुष के बत्तीस लक्षणों की प्राप्ति भी शुभ कर्मो से होती है। दस पारमिताओं को पूर्ण करके इसी मनुष्य लोक में बुद्ध, तिर्थंकरादि महापुरुषों का जन्म होता है। पिटकों में मनुष्य के बाहय स्वरुप की अनित्यादि दृष्टि से "हेय रुप कल्पना अवश्य की गई है, परतु उसका आशय यह नहीं है कि वहां मनुष्य जन्म को हेय माना गया है। मनुष्य जन्म का अनन्यसाधारण महत्व अन्य परम्पराओं की भांति, बौद्ध परंपरा में भी स्वीकार किया गया है।

पालि वाड्.मय में चित्त की ध्यान मे अनुनभूत पूर्व अवस्थाओं को भी पुनर्जन्म माना गया है। यह अन्य परम्पराओं की अपेक्षा एक विलक्षण मान्यता है। बौद्ध एवं जैन दोनों श्रमण परम्पराएं है। जैन वाड्.मय में भी ध्यान की अवस्थाओं का अतिसूक्ष्म चित्रण किया गया है, परन्तु वहां ऐसी मान्यता नहीं मिलती। विमानवत्थु पेतवत्थु आदि ग्रन्थों में पौराणिक रुप से अनेक बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक उपासिकाओं के देवता रुप जन्मों का वर्णन पाया जाता है, इन वर्णनों का कुशलाकुशल कर्म ही सैद्धान्तिक आधार प्रतीत होता हैं। मनुष्य योनि में ही मुक्ति या निर्वाण पाने की संभावना है, अन्य योनियों में नहीं । इसका आशय केवल यही प्रतीत होता है कि मनुष्य रुप में जन्म लेने पर वह अपने कुशल कर्मों तप, ध्यानसाधना, त्याग आदि के व्दारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और मुक्ति की आराधना में किसी वर्ण, जाती, देश, काल आयु. लिंग आदि का कोई बंधन नही है। सम्यक् प्रयत्न करने पर व्यक्ति को मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। अविद्या व तृष्णा को नष्ट करने के लिए भगवान बुद्ध ने आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया। सैंतीस बौधिपक्षीय धर्मों में इन्हीं का विस्तार है। उस साधना पथ पर चलने वाले आध्यात्मिक जीवन के ऐसे अनेक सफल पथिकों का उल्लेख पिटकों में पाया जाता है, जिन्होने कशल अकुशल का विवेक करके अपने कर्मो को हेतु-मुक्त अथवा सर्वथा विपाक रहित बनाया, जिन्हें गीता की भाषा में निष्काम-कर्म कह सकते है। कोई व्यक्ति यूं ही, बिना कर्मों से तपाराधन किये अपने कर्मो से मुक्त नहीं हो सकता, अतः मुक्ति प्राप्त करने हेतु शील-समाधि-प्रज्ञा के मार्ग पर चलना अनिवार्य है।

कर्म के विपाक की जो सूक्ष्म प्रक्रिया पालि वाड्.मय में उपलब्ध होती है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि "यथा कर्म तथा फल" यह कहने में जितना सरल है, उतना समझने में नही । वीथि चित्तों की सूक्ष्म विपाक-प्रक्रिया से कर्म-नियम की जटिलता का बोध होता है। सभी मनोव्यापारों से घनिष्ठ अविनाभावी संबंध होने से इसके वास्तविकता का आकलन करना सरल नहीं हैं। बुद्धिपूर्वक मीमांसा करनें पर ही उसे किसी सीमा तक समझा जा सकता है। सम्भवतः इसी कारण से "अचिन्तेय"[१] विषयों में इसका अन्तर्भाव किया गया है। 'अपने अपने कर्म के अनुसार मनुष्य के नाना योनियों में जो जन्म हुए उन सबको कोई भी पूर्णता से कभी नहीं जान सकता। परन्तु ऐसा कहने पर भी पालि-साहित्य में कर्म सिद्धान्त की रहस्यमयता अथवा आकस्मिकता का समर्थन नहीं किया गया है। कठोर साधना एवं तप के द्वारा अर्हत् पद को प्राप्त होकर श्रमण उन नाना योनियों को जान सकता है, जिनमें उसने जन्म धारण किये। कहा गया है कि अर्हत् श्रमण अपने साथ साथ अन्य व्यक्तियों के अतीत के विषय में भी जान सकता है तथा यह भी कि कोई व्यक्ति, अपने वर्तमान कर्म के अनुसार भविष्य में किस योनि में जन्म लेगा। वर्तमान में नाना योनियों मे जन्म लेने वाले जीवों के तद्हेतुक पूर्व कर्मो का ज्ञान "यथाकर्मोपगअभिज्ञा" के द्वारा तथा वर्तमान कर्मो के अनुरुप भविष्य काल में होने वाले जन्मों का ज्ञान "अनागतांश अभिज्ञा" के द्वारा प्राप्त होना संभव है। इस सूक्ष्म एवं अनाकलनीय कर्म-विपाक प्रक्रिया को अभिज्ञा प्राप्त लोकोत्तर अर्हत् या बुद्ध पद को प्राप्त करने वाला साधक जान सकता है, ऐसी बौद्ध मान्यता है और इस प्रकार के योगियों के लोकोत्तर ज्ञान को ही पुनर्जन्म का वास्तविक साक्ष्य माना गया है। सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बौद्ध साधना का महत्व अनन्य साधारण है। श्रद्धा एवं प्रज्ञा साधना के मुख्य स्तंभ है, जिनके आधार से हम अपने जीवन में समुन्नति करके मुक्ति के प्रशस्त पथ पर चलकर निर्वाण प्राप्त कर सकते है। कर्मो से निवृत्ति के रुप में बौद्ध साधना पद्धति का जो स्वरुप इस प्रबंध में हमारे सामने आया है, वही जैन परम्परा में भी सम्यक् ज्ञान एवं चरित्र के रुप में पाया जाता है तथा सांख्य योग में अष्टांग-योग के रुप पूर्वक्ति साधना पद्धति के अभ्यास से योगी अथवा साधक का आध्यात्मिक विकास जिस क्रम से होता है और उसकी जैसी अवस्थाएं होती है उन्हीं को स्रोतापति मार्ग एवं फल, सकदागामी मार्ग एवं फल, अनागामी मार्ग एवं फल तथा अर्हत् मार्ग एवं फल के माध्यम से प्रकट किया गया है। जैन साधना में इसी आध्यात्मिक विकास क्रम को गुणस्थान-क्रम के द्वारा तथा सांख्य योग में समापत्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के द्वारा कहा गया है। अन्य दर्शनों का पालि वाड्.मय में चर्चित कर्म सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक विचार करने पर, हम देखते हैं कि जैन परम्परा में आरंभ से ही

---

१. अ. नि., भाग २, चतुक्क निपात, अचिन्तेयसुत में कहा गया है के बुद्ध का विषय, कर्म का विषय, ऋद्धि का विषय एवं लोक का विषय, ये चार विषय अचिन्तेय

कर्म सिद्धान्त का महत्व सर्वोपरि रहा है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं एवं कन्नड व तामिल आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्राचीन युग से लेकर आज तक जो विपुल साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें कर्म सिद्धान्त की चर्चा जितनी सूक्ष्म, गंभीर और व्यापक रुप से की गई है वैसी अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। उसकी पालि वाड्.मय में स्थापित कर्म सिद्धान्त के साथ बहुत विस्तृत तुलना संभव है। परन्तु वह एक स्वतंत्र विषय है। अतः इस प्रबंध में यत्र-तत्र प्रासंगिक रुप से उसका संकेत मात्र किया गया है। मीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकाण्ड को ही मुक्ति का आधार माना गया है अन्यत्र मनःशुद्धि अथवा चैतोचिमुक्ति को ही मुक्ति का एकमात्र उपादान और स्वयं मुक्ति स्वरुप बताया गया है। मुक्ति की इस अवस्था को निश्चित शद्बों में व्यक्त करने मे जो कठिनाई है उसे भगवान बुद्ध ने अव्यक्त कहा और वेदान्त में "नेति-नेति"। वह चरम लक्ष्य शद्बों या वाणी का विषय नहीं है (अवाड्.मानसगोचर)। इससे ऐसा लगता है कि भारतीय साधकों का उद्देश्य उस मार्ग का बोध करा देना था जिस पर चलकर व्यक्ति मुक्ति की अवस्था को प्राप्त हो सकता है। किन्तु उस अवस्था या दशा का वर्णन करना शक्य नहीं था। अनित्य, अनात्म एवं दुःख रुप संसार की क्षणभंगुरता में जल में कमल की तरह या अनुपलिप्त रहकर वे मुक्त पुरुष संसार में रहते हुए भी संसार (बन्धनों) से रसे होकर इस संसार को शोभायमान करते है। बौद्ध साधना के इस सांदृष्टिक एवं अकालिक स्वरुप और पथ से क्या राजा, क्या प्रजा, क्या शूद्र, क्या ब्राह्मण, क्या देशी, क्या विदेशी, क्या मनुष्य, क्या देवता सभी प्रभावित हुए। इसके अनगिनत प्रमाण पुरातन से लेकर अधुनातन साधकों की अविच्छिन्न परंपरा में उपलब्ध होते है।

इस शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत आयी हुई साधना-मार्ग की चर्चा के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारत की अध्यात्मवादी अनासक्ति, त्याग एवं अपरिग्रह के उपदेशों का सामाजिक महत्व इस बात में है कि मनुष्य केवल भोग में ही नहीं त्याग में उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति कर सकता है। सारे विश्व के इन्द्रिय-विषयों को भोगकर भी तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति की इच्छाओं का कहीं अंत नही होता। सामाजिक जीवन में अनासक्ति अपरिग्रह एवं त्याग के इस मार्ग का अनुसरण करने पर सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु मानव जाति के इतिहास में जो रक्त-क्रांतियां हुई, उनसे अलग हटकर विश्व-शान्ति का नया मार्ग प्रशस्त हो सकता है, इसमें संदेह नहीं। यही भारत की प्राचीन परंपरा का कालातीत सन्देश है। इसी पर चलकर मानव समाज अपने शुभ कर्मो द्वारा सुखी एवं समृद्ध हो सकता है, हिंसक साधनों के द्वारा कभी नहीं । इसी परंपरा का प्रवर्तन भारत ने अपनी सांस्कृतिक धरोहर के रुप में सारे विश्व में किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

पालि ग्रन्थ

१- दीघनिकाय, भाग १,२,३- सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

२- मज्झिम निकाय, भाग १,२,३ । सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

३- संयुक्त निकाय, भाग १,२,३,४,५, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

४- अंगुत्तर निकाय, भाग १,२,३,४,५, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

५- विमानवत्थु, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

६- पेतनत्थु, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

७- सुत्तनिपात, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

८- इतिवुक्त, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

९- धम्मपद, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

१०- उदान, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

११- थेरीगाथा, सं. जगदीया काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

११- जातक भाग १,२,३,४,५, सं. जगदीश काद्दश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण

१३- चुल्लवग्ग, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

१५- भिक्खुपातिमोक्ख, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

१६- धम्मसंगणि, सं. प्रो. बापट, नालंन्दा देवनागरी संस्करण।

१७- विभंग भाग १,२, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

१८- पट्ठानप्पकरण भाग १, सं. जगदीश काश्यप, नालन्दा देवनागरी संस्करण।

१९- मिलिन्दपन्ह, आर. डी. वाडेकर, बंबई विश्वविद्यालय, बंबई।

२०- विसुद्धिमग्ग, आचार्य बुद्ध घोप, सं. धर्मानन्द कोसंबी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४०।

२१- अमिधम्मत्थसंग,हो आचार्य अनुरुद्ध, सं. धर्मानन्द कोसंबी, महाबोधि सभा सारनाथ द्वारा प्रकाशित,१९४१।

अट्ठकथा

१- दीघनिकाय अट्ठकथा, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।

२- विभंग अट्ठकथा, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।

३- पट्ठान अट्ठकथा, बुध्द शासन समिति, बर्मा, बर्मी संस्करण।
४- पट्ठान अनुटीका, बुद्ध शासन समिति, बर्मा, बर्मी संस्करण।
५- पट्ठान मूलटीका, बुद्ध शासन समिति, बर्मा, बर्मी संस्करण।
६- अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा, भाग २, बुद्ध शासन समिति, बर्मा, बर्मी संस्करण।
७- धम्मसंगणि मूल टीका, बुद्ध शासन समिति, बर्मा, बर्मी संस्करण।
८- विसुद्धिमग्ग महाटीका भाग २, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
९- पटिसंमिदामग्ग, अट्ठकथा, भाग २, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
१०- पुग्गलपञ्ञति अट्ठकथा, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
११- समन्तपासादिका, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
१२- परमत्थदीपनी, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
१३- विभावनी, बुद्ध शासन समिति बर्मा, बर्मी संस्करण।
१४- अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि-अट्ठकथा), भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना, १९४२।

प्राकृत ग्रन्थ

१- समयसार (कुन्दकुढकृत), परमश्रुत प्रभावक जैन मंडल, बंबई।
२- आचारांग सूत्र, जैन श्वेतांबर तेरह्ममहासभा, ३ पोर्तुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता, १।
३- तत्वार्थ सूत्र, (उमास्वातिकृठ), पं. फुलचन्द्र, काशी वीर निर्वाण संवत् २४७६।
४- ठाणांगसूत्र, (अभयदेववृतिसहित), बम्बई, १९३७।
५- कल्पसूत्र, जेकोबी (एस. बी. ई.) जिन्द २२, जैन सूत्र आक्सफोर्ड, १८९४।
६- भवसंग्रह, हिन्दी गन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई।
७- सुयगडांग। (सूत्रकृतांग,पी.एल. वैद्य द्वारा संपादित)।
८- गोमट्टसार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड), बम्बई, १९२७-२८।

संस्कृत ग्रन्थ

१- कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद, बी. लिण्डनर ग्वायना।
२- ऐतरेय ब्राह्मण, मार्टिन -हाग, बंबई १९६३।
३- शतपथ ब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला का संस्करण।
४- बृहदारण्यकोपनिषद, वीर राघवाचार्य तिरुपति १९५४

अनु. एस. बी. ई. जिल्द १५।
५- कठोपनिषद, वसु, बी. डी. इलाहाबाद, १९११।
६- छान्दोग्य उपनिषद, बीर राघवाचार्य तिरुपति १९५२,
अनु. एस. बी. ई. जिल्द १।
७- तैतिरियाण्यक, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरिज, १९२६।
८- मुण्डकोपनिषद, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरिज, १९२६।
९- ब्रह्मसूत्रम शांकरभाष्य, स्वामी गंभीरानन्दकृत आंग्लानुवाद सहित,
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
१०- सांख्यसूत्र, अनिरुद्धवृति सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
११- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण।
१२- व्यासमाष्य, स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनिकृत, हिन्दी व्याख्या सहित।
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
१३- गीता, गीताप्रेस गोरखपुर।
१४- महाभारत, चित्रशाला, प्रेस पूना, १९३१।
१५- पातंजलयोगदर्शन, भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

अनुवाद ग्रन्थ हिन्दी

१- विनय पिटक, मं. प. रा. सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५।
२- अंगुत्तर निकाय, भाग १,२,३,४, डा. भ. आ. कौसल्यायन,
महाबोधि सभा, कलकत्ता, सन् १९५७।
३- दीघनिकाय, म. पं. रा. सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप,
महाबोधिसभा, सारनाथ,१९३७।
४- धम्मपद, भ. आ. कौ. भिक्खु निवास प्रकाशन नागपुर।
५- मिलिन्दप्रश्न, भिक्षु जगदीश काश्यप,
प्रकाशक भिक्षु उ. कत्तिमा,सारनाथ बनारस, १९३७।
६- अभिधम्मत्थसंग्रह, भदन्त रेवतधम्म एवं रामनरेश त्रिपाठी, भाग १,२,
संपूणनिन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हिन्दी ग्रन्थ

१- बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव।
२- ज्ञानेश्वरी, रामचन्द्र वर्मा का हिन्दी अनुवाद।
३- दर्शन-दिग्दर्शन, म. पं. रा. सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७।
३- तथागत का शाश्वत सन्देश, डा. भ. आ. कौसल्यायन,
वाय. एम. बी.ए. प्रकाशन, नागपुर।

५- बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी अध्ययन, डा. भ. आ. कौसल्यायन, वाय. एम. बी. ए. प्रकाशन, नागपुर।
६- दर्शन वेद से मार्क्स तक, डा. भ. आ. कौसल्यायन, भिक्षु निवास प्रकाशन, दीक्षाभूमि, नागपुर।
७- भगवान बुद्ध और उनका धर्म, डा. बी. आर. आंबेडकर के "दि बुद्ध एंड हिज धम्म" का हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक- भिक्षु प्रज्ञानन्द भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद श्रावस्ती।
८- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डा. भरतसिंह उपाध्याय, भाग १,२।
९- पालि साहित्य का इतिहास, डा. भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग।
१०- बौद्ध संस्कृति का इतिहास, डा. बी. सी. जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर।
११- जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, डा. बी. सी. जैन, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर प्रकाशन।
१२- भगवान महावीर और उनका चिन्तन, डा. बी. सी. जैन।
१३- जातककालीन भारतीय संस्कृति, महतो वियोगी, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का प्रकाशन।
१४- सर्वदर्शन संग्रह, प्रो. उमाशंकर शर्मा "ऋषि" चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
१५- गीतारहस्य, लो. बाल गंगाधर तिलक।
१६- बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डा. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय हिन्दी समितिं ग्रन्थमाला, उत्तरप्रदेश
१७- धर्मशास्त्र का इतिहास, पा. वि. काणे,
१८- भारतीय दर्शन परम्परा में मोक्ष चिन्तन, डा. अशोक कुमार लाड, हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश
१९- भारतीय दर्शनों का समन्वय, आदित्यनाथ झा, हिन्दी समिति, ग्रन्थमाला, उत्तरप्रदेश
२०- बुद्धचर्या, म. प. रा. सा., महाबोधि सभा, सारनाथ।
२१- पार्श्वनाथ चातुर्याम, धर्मानन्द कोसंबी, हेमचंन्द्र मोदी पुस्तकमाला, बंबई।
२२- कौटिलीय अर्थशास्त्र, त्रिवेन्द्रम संस्करण, मैसूर।
२३- भारतीय दर्शन, डा. एस. राधाकृष्णन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
२४- धर्म और समाज, डा. एस. राधाकृष्णन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
२५- आर्यो के पहले की भारतीय संस्कृति, चौधरी गुलाबचन्द।
२६- भारतीय इतिहास एक दृष्टि, डा. ज्योति प्रसाद जैन, काशी, १९५७।
२७- बुद्धकालीन समाज और धर्म, डा. मदन मोहनसिंह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

१८- बौद्ध जीवन पध्दति, भिक्षु सत्यशील, भिक्षु निवास प्रकाशन, नागपुर।
२९- अभिधर्मदीप, काशीप्रसाद जायसवाल, रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९५६।
३०- हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, रजनीकान्त शास्त्री, किताब महल, इलाहाबाद, १९३७।
३१- जैन और मीमांसा दर्शनों के कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, डा. कन्हैयालाल पालीवाल, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (अप्रकाशित)।
३२- पुरातत्व निबन्धावली, मं. प. रा. सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद।
३३- छह ढाला, दौलतराम। भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली

मराठी ग्रन्थः

१- तुकारामाच्या अभंगाची गाथा, महाराष्ट्र शासन।
२- जातिभेद निर्मूलन, प्रो. गांजरे, अशोक प्रकाशन नागपुर, डा. आंबेडकर के "अनिहिलेशन आफ कास्ट" ग्रन्थ का मराठी अनुवाद।
३- भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान, डा. बी. सी. जैन नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर।

अंग्रेजी ग्रन्थ

१- पालि डिक्शनरी, पालि टेक्स्ट सोसायटी।
२- प्री बुद्धिष्टिक फिलासफी, डा. बरुआ।
३- अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, नलिनाक्ष दत्त।
४- हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, डा. विमलचरण लाहा।
५- दि कंसेप्शन आफ कम्म अंड रिबर्थ इन थेरवादा बुद्धिज्म, डा. एस. एन. रंगसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अप्रकाशित।
६- दी सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, डा. टी. आर. वी. मूर्ति।
७- दि डायलाग आफ दि बुद्ध : भाग ३, श्रीमती रायज डेविड्स।

मासिक पत्रिकाः

१- प्रजासत्ताक साप्ताहिक, सं. बी. सी. कांबले, चन्द्रपूर (मराठी)
२- श्रावस्ती मासिक, श्रावस्ती (हिन्दी)।
३- धर्मदूत, महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, (हिन्दी)।
४- धम्मदर्पण भारतीय बौद्ध महासभा, दिल्ली, (हिन्दी)।

शद्बकोषः

१- पालि हिन्दी शद्बकोष, भ. आ. कौसल्यायन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२- पालि कोस संगहो एकक्खर कोस, बी. सी. जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर।



लेखक परिचय

पुरा नाम : **डॉ. एन. जे. वाघमारे**
मु. कन्हाळगाव जि. चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)

कार्य : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त
शोध प्रकल्प योजना के अंतर्गत -
निम्नांकित विषयोंपर शोध कार्य प्रस्तुत किया-
१. पालि वाङ्‌मय में कर्म सिद्धान्त - तुलनात्मक अध्ययन
संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग,
रानी दुर्गावती वि. वि. जबलपुर, म. प्र.
२. बुद्ध का समाज दर्शन
पालि-प्राकृत विभाग,
नागपूर विद्यापीठ, नागपुर (महाराष्ट्र)

आगामी : **३. भारत वर्ष में धर्मांतरण**
मराठी विभाग
शासकीय कला वाणिज्य महाविद्यालय
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय,
इंदोर म. प्र.

सहभाग : **१. अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन**
अहमदाबाद (गुजरात) 1984
२. अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन
कलकत्ता (पश्चिम बंगाल) 1986

संकेत प्रकाशन, नागपूर